कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, अगस्त सन् १९५०

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २००७, अगस्त १९५० { संख्या ८ पूर्ण संख्या २८५

नृत्यमाधुरी

जसुमति दधि मथन करति, बैठि बर धाम अजिर,
ठाढ़े हरि हँसत, नान्हि दँतियनि छवि छाजै ।
चितवत चित लै चुराइ, सोभा बरनी न जाइ,
मनु मुनि-मन-हरन-काज, मोहिनि दल साजै ॥
जननि कहति नाचौ तुम, दैहौं नवनीत मोहन,
रुनुक-झुनुक चलत पाइ, नूपुर-धुनि बाजै ।
गावत गुन सूरदास, बढ़्यौ जस भुव-अकास,
नाचत त्रैलोकनाथ माखनके काजै ॥

कल्याण

याद रक्खो—जगत्‌में जितने भी प्राणी हैं, सब तुम्हारे अपने आत्मा ही हैं, उनमें कोई भी पराया नहीं है, कोई भी दूसरा नहीं है। जैसे तुम्हारे एक ही शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्ग तुम्हारे शरीरके ही अवयव हैं, सबको लेकर ही शरीर है, इसी प्रकार सबको लेकर ही तुम हो।

याद रक्खो—तुम उन्हें अपना आत्मा न समझकर दूसरा समझते हो, इसीसे उनके सुख-दुःखसे उदासीन रहते हो। अपना समझते तो कभी ऐसा नहीं करते। क्या शरीरके किसी भी अङ्गमें चोट लगनेपर तुम यह मानते हो कि चोट किसी दूसरेको लगी है? क्या तुम्हें उसके लिये वेदनाका अनुभव नहीं होता? होता है। क्यों? इसीलिये कि तुम्हारा उन सबमें आत्मभाव है।

याद रक्खो—तुम सबके हितकी परवा न करके उन्हें कष्ट पहुँचाकर यदि केवल अपना भला चाहते हो, अपने लिये सुख चाहते हो तो न तो तुम्हारा कदापि भला होगा, न तुम्हें सुख ही मिलेगा। भला, अपने ही हाथों अपने अङ्गोंको काटकर क्या कोई कभी सुखी हो सकता है?

याद रक्खो—समाज, जाति, सम्प्रदाय आदि भेद केवल समाजकी व्यवस्थाका सुचारुरूपसे सञ्चालन हो, और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने मार्गसे चलकर जीवनके परम लक्ष्य भगवान्‌को प्राप्त कर सके, इसके लिये है। और यह आवश्यक तथा उचित भी है; परंतु इसका यह अर्थ कभी नहीं, इस भेदसे आत्मामें कोई भेद आ जाता है और एक दूसरेके हितका नाश करके कोई सुखी हो सकता है।

याद रक्खो—जो व्यक्ति विश्वात्माके साथ अपनेको मिलाकर सारे विश्वके समस्त जीवोंको अपने ही रूपमें देखता है, और सबके दुःख-सुखको अपना ही दुःख-सुख मानकर, जैसे अपने दुःखको दूर करनेकी और सुख प्राप्त करनेकी स्वाभाविक चेष्टा करता है, वैसे ही सबके लिये करने लगता है, उसका जीवन ही यथार्थ मनुष्य-जीवन है और वही जीवन धन्य है।

याद रक्खो—स्वार्थ जितना सङ्कुचित होता है, उतना ही गंदा और हानिकर होता है। जैसे छोटे-से गढ़ेमें एकत्र हुआ जल सड़ जाता है और उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। यदि तुम्हारा स्वार्थ अखिल जगत्‌के स्वार्थके साथ मिल जाय, विश्वके प्राणियोंका स्वार्थ ही तुम्हारा स्वार्थ हो तो फिर तुम्हारा वह स्वार्थ पवित्र और लाभदायक होगा। उससे स्वाभाविक ही विश्वात्मा भगवान्‌की पूजा होती रहेगी।

याद रक्खो—जो पुरुष यह अनुभव करता है कि यह सारा जगत्—जगत्‌के समस्त प्राणी मेरे भगवान्‌से ही निकले हैं, और भगवान् ही सदा सबमें व्याप्त हैं, वह अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजकर जीवनको अनायास ही सफल कर सकता है। उसके लिये प्रत्येक जीव भगवान्‌का स्वरूप और उसका अपना प्रत्येक कर्म उस भगवान्‌की पूजा बन जाता है। और जिसके द्वारा निरन्तर भगवान्‌की पूजा हो होती है, उसको जीवनमें परम सिद्धि—भगवत्प्राप्ति हो जाय, इसमें सन्देह ही क्या है?

याद रक्खो—यदि तुम क्षुद्र सीमाको छोड़कर जाति, वर्ण, अधिकार, धन, देश आदिके भेदोंको आत्माके भेद न मानकर विश्वरूप भगवान्‌की पूजामें अपना जीवन लगा दोगे तो तुम्हें पद-पदपर और पल-पलमें भगवान्‌के दर्शन होंगे और तुम्हारा जीवन परम पवित्र तथा सबके लिये आदर्श बन जायगा।

'शिव'

श्रीमद्भागवतकी कुछ सुधा-सूक्तियाँ

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥
(१।५।११)

जिसकी रचना सुबद्ध एवं सुन्दर गुणोंसे युक्त न होनेपर भी उसके प्रत्येक श्लोकमें भगवान्के सुयश-सूचक नाम अङ्कित हुए हैं, वह निबन्ध लोगोंके सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला है क्योंकि साधु पुरुष उसीका श्रवण, गायन और कीर्तन किया करते हैं।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥
(१।५।१२)

जहाँ कर्मोंका सम्पूर्णतः त्याग हो जाता है वह निर्मल ज्ञान भी यदि भगवान्के प्रति भक्तिभावसे रहित है तो उसकी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि सभी अवस्थाओंमें अमङ्गलरूप है वह सकाम कर्म और जो भगवान्को अर्पण नहीं किया गया है वह अहैतुक निष्काम कर्म भी भगवद्भक्तिके विना कैसे सुशोभित हो सकता है?

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥
(१।५।२२)

विद्वानोंने मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान तथा दानका एकमात्र यही अविनाशी फल बताया है कि भगवान् श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका वर्णन किया जाय।

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत्स नरोत्तमः॥
(१।१३।२६)

जो अपनेसे अथवा दूसरोंके समझानेसे इस संसारको दुःखरूप समझकर इसकी ओरसे विरक्त हो जाता है और अपने मनको वशमें रखते हुए हृदयदेशमें भगवान्को स्थापित करके घरसे निकल पड़ता है, वही श्रेष्ठ मनुष्य है।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह।
इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम्॥
(१।१३।४२)

जैसे जगत्में खिलाड़ीकी इच्छासे ही खिलौनोंका संयोग और वियोग होता है, उसी प्रकार भगवान्की इच्छासे ही मनुष्योंका मिलना और बिछुड़ना होता है।

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥
(१।१७।३८)

राजा परीक्षित्ने कलिके प्रार्थना करनेपर उसे रहनेके लिये चार स्थान प्रदान किये—जुआ, मद्यपान, स्त्री और हिंसा। जहाँ क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति तथा निर्दयता—ये चार प्रकारके अधर्म निवास करते हैं।

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम्॥
(१।१७।३९)

कलिने जब पुनः स्थानके लिये याचना की, तब उसे राजाने 'सुवर्ण' दिया। तबसे असत्य, मद, काम, रजोगुण, निष्ठुरता तथा पाँचवाँ वैर—ये पाँच स्थान कलिके रहनेके लिये हो गये।

अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत्॥
(१।१७।४०

अधर्मका मूल कारण कलि परीक्षित्के दिये

इन्हीं पाँच स्थानोंमें उनकी आज्ञाका पालन करते हुए रहने लगा ।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥
(१ । १८ । ४८)

भगवान्‌के भक्त अपराधीको दण्ड देनेमें समर्थ होते हैं तो भी वे दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, ठगी, गालीगलौज, आक्षेप और मार-पीटके लक्ष्य बनकर भी इसके लिये उनसे बदला नहीं लेते ।

प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः ।
न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्मागुणाश्रयः ॥
(१ । १८ । ५०)

संसारमें साधु पुरुष प्रायः दूसरोंके द्वारा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें डाल दिये जानेपर भी हर्ष और शोकके अधीन नहीं होते; क्योंकि आत्माका स्वरूप तो गुणोंसे सर्वथा परे है ।

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥
(२ । १ । ५)

राजा परीक्षित् ! निर्भय पदकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सर्वदा सबके आत्मा एवं ईश्वर भगवान् श्रीहरिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये ।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥
(२ । १ । ६)

मनुष्योंके जीवनका इतना ही सबसे महान् लाभ है कि ज्ञानसे, योगसे तथा स्वधर्मनिष्ठाके द्वारा उन्हें मृत्यु-कालमें भगवान् नारायण स्मरण हो आये ।

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ॥
(२ । १ । १२)

जो अपने कल्याणसाधनकी ओरसे असावधान है, उसे कितने ही वर्षोंकी लम्बी आयु क्यों न मिले, उससे उसका क्या लाभ है ? अपने जीवनकी वह घड़ी दो घड़ीका समय भी श्रेष्ठ है, जिसमें मनुष्य कल्याणप्राप्तिका कोई उपाय कर सके ।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
(२ । ३ । १०)

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, या जो सब कुछ पानेकी कामनावाला है अथवा जो उदारबुद्धि पुरुष केवल मोक्षकी ही कामना रखता है, वह तीव्र भक्ति-योगके द्वारा परम पुरुष भगवान् श्रीहरिकी ही आराधना करे ।

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥
(२ । ३ । ११)

भगवान्‌की आराधना करनेवाले साधकोंके लिये इस संसारमें सबसे महान् कल्याणकी प्राप्ति यही है कि भगवद्भक्तोंके संगसे उनका भगवान्‌में अविचल अनुराग हो जाय ।

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥
(२ । ३ । १७)

जिसका समय भगवान् श्रीकृष्णकी कथा-वार्तामें व्यतीत हो रहा है, उसके सिवा, अन्य जितने मनुष्य हैं उन सबकी आयुको उदय और अस्त होते समय सूर्यदेव छीनते रहते हैं, उनकी आयु व्यर्थ चली जाती है ।

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥
(२ । ३ । १९)

जिसके कानोंमें कभी भी भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथा नहीं पड़ी, जिसने भगवान्‌के नाम और

गुणोंका कीर्तन कभी नहीं सुना, वह नर-पशु कुत्ते, विष्ठाभोजी सूअर, ऊँट और गदहोंसे भी गया-बीता है ।

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥
(२ । ३ । २०)

सूतजी ! मनुष्यके जो कान भगवान् श्रीहरिके गुण-पराक्रम आदिकी चर्चा कभी नहीं सुनते, वे बिलके समान हैं; तथा जो जीभ भगवान्की लीला-कथाका गायन नहीं करती, वह मेढककी जीभके समान अधम है ।

भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥
(२ । ३ । २१)

जो मस्तक कभी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता वह रेशमी वस्त्रसे सुसज्जित और मुकुटमण्डित होनेपर भी भारी बोझमात्र ही है तथा जो हाथ भगवान्की सेवा-पूजामें नहीं लगते वे सोनेके कंगनसे विभूषित होनेपर भी मुर्देके ही हाथ हैं ।

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥
(२ । ३ । २२)

जो श्रीविष्णु भगवान्के अर्चा-विग्रहोंकी झाँकी नहीं देखते, मनुष्योंके वे नेत्र मोरकी पाँखोंमें बने हुए नेत्र-चिह्नके समान व्यर्थ ही हैं तथा जो श्रीहरिके तीर्थोंकी यात्रा नहीं करते वे पैर भी जड वृक्षोंके ही समान हैं, उनकी गमनशक्ति व्यर्थ है ।

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥
(२ । ३ । २३)

जो मनुष्य कभी भगवान्के भक्तोंकी चरणधूलि अपने मस्तकपर नहीं चढ़ाता, वह जीते-जी मुर्देके समान है । तथा जो श्रीहरिके चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीकी सुगन्धका कभी आस्वादन नहीं करता, वह मानव साँस लेता हुआ भी श्वासरहित शव ही है ।

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥
(२ । ३ । २४)

वह हृदय नहीं वज्र है, जो श्रीहरिके नामोंका कीर्तन करते समय पिघल नहीं जाता है । जब हृदय पिघलता है, तो नेत्रोंमें आँसू छलकने लगते हैं और शरीरमें रोमाञ्च हो आता है ।

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(२ । ४ । १८)

किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि तथा दूसरे-दूसरे जो पापयोनि मानव हैं वे भी जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण लेनेमात्रसे परम पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान्को नमस्कार है ।

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(३ । २ । २३)

अहो, दुष्ट पूतनाने जिन्हें मार डालनेकी नीयतसे अपने स्तनोंका कालकूट जहर पिलाया था; तथापि उसने

प्रभुकी उदारतासे, जो गति माताके लिये उचित है, वह गति प्राप्त कर ली; ऐसे दयालु भगवान्‌को छोड़कर हम दूसरे किसकी शरणमें जायँ ।

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥
(३ । ९ । ६)

प्रभो ! जगत्‌के मनुष्य जबतक आपके निर्भय चरणोंकी शरण नहीं लेते तभीतक उन्हें धन, गृह और सुहृदोंके निमित्त भय प्राप्त होता है, शोक, स्पृहा, तिरस्कार और प्रचुर लोभका सामना करना पड़ता है तथा तभीतक उसे मेरेपनका असत् आग्रह बना रहता है, जो दुःखका मूल कारण है ।

प्रेम-पुकार

(रचयिता—श्रीरामदासजी झा 'विरही')

[१]

तुम चाहते हो न हमें दिलसे, यह तो न किसीको बताया करो ।
'विरही' मनको तरसाया करो, तड़पाया करो पर आया करो ॥
मन भोले बसे मनमोहन हो, मनको अनमोल दिखाया करो ।
मद मस्त बने मद यौवनसे, मतवाली कली सरसाया करो ॥

[२]

श्याम-सरोरुह-सी कलिका, वन-बाग-तड़ाग खिली ही रहे ।
मद मस्त गणेश-सी चाल रुचै, अरु भौंरोंकी भीड़ ठिली ही रहे ॥
लव सुन्दरतापर प्यारे सखा, शलभोंकी यह पुंज पिली ही रहे ।
फिर वेग वियोग रहे न रहे, सरसै कलिका विरही न रहे ॥

[३]

मन-मोहनी-मूरत मोहन पै, कछु भाव विचित्र हृदयमें समाए ।
शुचि सुन्दर सोहति सी सरसावनी, देखि सुहावनी आनँद पाए ॥
विद्युत् छूटि गई तनमें, अरु कण्ठ घुटा अँसुवा भरि आए ।
फिर बोल उठा दिल खोल उठा, बस प्रेमीके प्रेममें ये दुख पाए ॥

[४]

विरही मनकी मत पूछो व्यथा, यह कथा सुनि शान्ति मिलेगी नहीं ।
दुख दूना बढ़ेगा सदाके लिए, दिलकी यह आग बुझेगी नहीं ॥
यदि प्रेम-सुधा बरसाओगे तो, यह वेग प्रवाह रुकेगा नहीं ।
बस प्रेमकी सीमा यहींतक है, मिट जायगा तो भी मिटेगा नहीं ॥

भगवान्‌के परम दिव्य-गुणसम्पन्न स्वरूपका ध्यान

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभगवान्‌के ध्यानके समान संसारमें और कोई भी दूसरा साधन नहीं है। इसलिये मनुष्यको भगवान्‌का ध्यान श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये। एकान्तवास, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और मनन, नामका जप, स्वरूपका स्मरण, लीला और गुण-प्रभावका चिन्तन, तत्त्व और रहस्यका ज्ञान, भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम तथा संसारके भोगोंसे वैराग्य और उपरति—ये सब भगवान्‌के ध्यानमें विशेष उपयोगी हैं। क्योंकि भगवान्‌के नामके जपसे स्वरूपकी स्मृति होती है, स्वरूपकी स्मृतिसे चरित्र (लीला) की स्मृति होती है, लीलाकी स्मृतिसे गुण-प्रभावकी अनुभूति होती है, इन सबके स्मरण और मननसे भगवान्‌का तत्त्व-रहस्य जाना जाता है, उससे श्रद्धा-प्रेम बढ़ता है, तब सांसारिक भोगोंसे वैराग्य और उपरति होकर भगवान्‌के ध्यानमें गाढ़ स्थिति हो जाती है।

अतः साधककी साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण जिस स्वरूपमें रुचि हो, उसे अपने उसी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। उस परमात्माके निर्गुण-निराकारसहित असंख्य दिव्य-गुणोंसे सम्पन्न सगुण-साकार स्वरूपका ध्यान किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा ध्यान ही भगवान् पुरुषोत्तमके समग्र रूपका ध्यान है। इसको समझानेके लिये इसके सदृश दृष्टान्त, दार्ष्टान्त, उदाहरण, रूपक, उपमा संसारमें है ही नहीं। जिस देशमें सूर्य नहीं, उस अन्धकारमय देशमें किसी भी दृष्टान्तके द्वारा सूर्यको समझाना कदापि सम्भव नहीं, क्योंकि जब सूर्यके सदृश दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब उसे किस रूपमें कैसे समझाया जाय? इसी प्रकार परमात्माका वह अति विलक्षण दुर्विज्ञेय स्वरूप किसी भी दृष्टान्तके द्वारा यहाँ समझाया जाना कठिन है।

जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें कारणभूत परमाणुरूपमें स्थित जल अव्यक्त और अप्रकट है, वह दूरवीक्षण या अन्य किसी भी साधनके द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। किंतु वही जल जब रसमय होकर आकाशमें स्थित रहता है, तब भी वह देखनेमें तो नहीं आता किंतु विचारके द्वारा अनुभवमें आ सकता है। और वही जल जब बादल और बूँदोंका रूप धारण करके ओलों (बर्फके ढेलों) के रूपमें बरसने लगता है, तब वह प्रत्यक्ष देखने तथा पकड़नेमें भी आता है। उस प्रकट जलसे सभी प्रकारका जलोचित व्यवहार किया जा सकता है। यह जलका उदाहरण चेतन परमात्माकी उपमाके योग्य नहीं है; क्योंकि जल जड, परिणामी, विनाशशील, एकदेशीय और अल्प है तथा परमात्मा इससे सब प्रकारसे विलक्षण, नित्य, चेतन और निर्विकार है, अतः उस अनुपम और अप्रमेय परमात्माके लिये कोई दृष्टान्त या उदाहरण है ही नहीं। तथापि महात्मागण समझानेके लिये किसी-न-किसी दृष्टान्तको सामने रखकर ही यथाशक्ति यत्किञ्चित् उसका तत्त्व समझाया करते हैं।

जैसे अव्यक्त कारणरूपमें स्थित निराकार जल ही रसके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही भक्तोंके प्रेम और भावके कारण विज्ञानानन्दमय सगुण-निराकार रूपमें प्रकट होते हैं। फिर जैसे वही जल बादल और बूँदोंके रूपमें प्रकट होकर ओलोंका रूप धारण करता है, उसी प्रकार दिव्य चिन्मय निरतिशय-कल्याणमय गुणसमूहोंके महान् समुद्र सगुण-निराकार परमात्मा

अनन्त महान् प्रकाशके रूपमें प्रकट होकर फिर, नित्य-दिव्य प्रकाशपुञ्ज सगुण-साकार रूपमें प्रकट होकर दृष्टिगोचर होते हैं। जिस परमप्रेमी श्रद्धालु भक्तको भगवान्के उस दिव्य स्वरूपके दर्शन होते हैं, उस भगवद्-भक्तकी दृष्टि भी दिव्य हो जाती है। भगवान्का भक्त भगवान्की कृपासे इन चर्मचक्षुओंसे भी भगवान्के उस अति दिव्य अद्भुत रूपका दर्शन कर सकता है। भगवान्का दर्शन पाकर वह भक्त आनन्दमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता, उसे एक श्रीभगवान्के सिवा अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता, वह अपने-आपको भी भूल जाता है। उस रूप-माधुरीके दर्शनके प्रभावसे उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती, वह एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उस दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन ही करता रहता है। फिर चेत होनेपर वह भक्त भी उस दिव्यरूप-माधुरीका वर्णन नहीं कर सकता, क्योंकि उस अपरिसीम अप्रमेय दिव्य-गुणगणसम्पन्न माधुरी मूर्तिका वर्णन करनेमें वाणी सर्वथा असमर्थ रहती है। फिर मुझ-जैसा एक साधारण मनुष्य तो उस परम दिव्यरूप-माधुरीके किसी शतांशका वर्णन करनेमें भी कैसे समर्थ हो सकता है। तथापि कुछ प्रेमी भाइयोंके आग्रहसे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है। वह मेरी धृष्टतामात्र है; इसके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

जिस समय भगवान् प्रकट होते हैं, उसके पूर्व ही साधकके बाहर और उसके शरीरके अंदर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें तथा शरीरके अणु-अणुमें अनन्त, अतिशय दिव्य, अलौकिक चेतनता, शान्ति, समता और आनन्द परिपूर्ण हो जाते हैं। फिर परमात्माका यह सगुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-साकाररूपमें परिणत होकर उसके सम्मुख दृष्टिगोचर होता है। निरतिशय प्रेमानन्दस्वरूप भगवान्की यह दिव्य मूर्ति अत्यन्त मनोहर, अनन्त प्रेममय, दिव्य अमृतमय, महान् रसमय और परम आनन्दमय है। इस परम मनोहर दिव्य मूर्तिका चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यन्त ध्यान करके साधक भी रसमय, प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय हो जाता है। अतः साधकको उस प्रेमानन्दमयी मूर्तिका साक्षात्कार करनेके लिये उसका अपने सम्मुख आकाशमें निम्नलिखित प्रकारसे ध्यान करना चाहिये।

अपने नेत्रोंसे करीब तीन हाथकी दूरीपर आकाशमें साक्षात् विज्ञानानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही दिव्य चेतन महान् प्रकाशमय सगुण-साकार श्रीविष्णुके रूपमें विराजमान हो रहे हैं। वे अखिल सौन्दर्यकी निधि एवं अपनी अनन्त महिमासे नित्य महिमान्वित हैं। वे नीलमणिके सदृश श्याम होते हुए भी दिव्य निर्मल उज्ज्वल प्रकाशके कारण हल्की-सी नीलिमासे युक्त अति शुभ्र श्वेतरूपमें अनन्त सूर्योंसे भी बढ़कर प्रकाशित और देदीप्यमान हो रहे हैं, किंतु वह महान् तेजोमय प्रकाश शीतलताके पुञ्ज चन्द्रमासे भी बढ़कर अत्यन्त शान्तिमय है। उनका श्रीविग्रह षोडशवर्षीय सुन्दर राजकुमारके-से आकार-का करीब साढ़े तीन हाथ लंबा और एक हाथ चौड़ा है। उनके चरणोंके तलुओंमें गुलाबी रंगकी झलक है और उनमें ध्वजा (पताका), जौ, अङ्कुश, शङ्ख, चक्र, कमल, वज्र, स्वस्तिक आदिके चिह्न (रेखाएँ) सुशोभित हो रहे हैं। उनके चरण तथा चरणोंकी अँगुलियाँ बहुत ही चमकीली, कोमल, चिकनी और अतिशय सुन्दर हैं। अँगुलियोंमें संलग्न चाँदनीयुक्त चन्द्रमाके समान उद्भासित नखश्रेणियोंकी ज्योति एक निराले ही ढंगकी है, मानो दिव्य रत्न चमक रहे हों। भगवान्के चरणोंमें स्थित नूपुरोंकी ध्वनि ऐसी अमृतमयी और मधुर है कि कर्णपुटोंमें प्रवेश करते ही साधकका मन उसीमें तल्लीन होकर मन्त्रमुग्धकी तरह स्तब्ध हो जाता है। उनके मृदुल चरणोंका

स्पर्श बड़ा ही विलक्षण, अत्यन्त अमृतमय, महान् रोमाञ्चकारक और परम आनन्ददायक है । भगवान् अति दिव्य, सुकोमल (मुलायम) और चमकीला पीताम्बर पहने हुए हैं, जिसके भीतरसे भगवान्‌की महान् प्रकाशमयी देहद्युति चमक रही है । उनकी पिण्डलियाँ, घुटने तथा जङ्घाएँ भी बड़ी ही कोमल, चिकनी, चमकीली और परम सुन्दर हैं । भगवान् अपने पतले और अति मनोहर कटिभागमें दिव्य रत्नोंसे जड़ी हुई करधनी धारण किये हुए हैं । ब्रह्माजीका उत्पत्तिस्थान उनका नाभि-कमल अत्यन्त गम्भीर है तथा उदर त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित और अति सुन्दर है । भगवान्‌का वक्षःस्थल विशाल, अत्यन्त पुष्ट, अतिशय मनोरम और चौड़ा है । भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं, दो ऊपरकी ओर फैली हुई हैं और दो नीचेकी ओर घुटनोंतक पसरी हुई हैं । भुजाएँ लंबी, बड़ी ही मृदुल, चिकनी, चमकीली, अत्यन्त पुष्ट, बलशालिनी, गोलाकार, चूड़ी-उतार (क्रमशः ऊपरसे मोटी और नीचेसे पतली) तथा परम मनोहर हैं । भगवान्‌की हथेली मन्द-मन्द लालिमासे युक्त बड़ी ही सुन्दर, शङ्ख, चक्र, कमल, यव, अङ्कुश, ध्वजा, स्वस्तिक आदि चिह्नोंसे सुचिह्नित एवं परम शोभासंयुक्त है । उनके हाथोंकी अँगुलियों-में संलग्न नखश्रेणियोंकी ज्योति अतिशय उज्ज्वल और बड़ी ही चित्ताकर्षक है, मानो दिव्य रत्नोंकी पङ्क्ति चमक रही हो । चारों हाथोंकी अँगुलियोंमें रत्न-जटित स्वर्णमय अँगूठियाँ और हाथोंमें कड़े तथा भुजबन्द सुशोभित हो रहे हैं । भगवान्‌के नीचेके दाहिने हाथमें परम ओजस्विनी कौमोदकी गदा तथा बायें हाथमें अति सुन्दर कमल है एवं ऊपरके दाहिने हाथमें अत्यन्त तेजोमय सुदर्शनचक्र और बायें हाथमें परम उज्ज्वल अति शुभ्र पाञ्चजन्य शङ्ख शोभायमान हो रहा है । वे अपने नीलिमायुक्त कण्ठदेशमें अतिशय देदीप्यमान दिव्य मुक्ता, रत्न और स्वर्णकी मालाएँ धारण किये हुए हैं एवं तुलसी और अलौकिक पुष्पोंकी वनमालाएँ घुटनोंतक लटकी हुई हैं । कोमल पल्लव और फूलोंके समूहद्वारा बनाये हुए हारसे शङ्ख-के समान मनोहर ग्रीवा बड़ी सुन्दर जान पड़ती है । उनके वक्षःस्थलपर रत्नजटित चन्द्रहार तथा परम दिव्य कौस्तुभमणि बालसूर्यकी भाँति देदीप्यमान हो रही है । वक्षःस्थलके मध्यभागमें स्वच्छ दर्पणमें मुख दीखनेकी भाँति श्रीलक्ष्मीजीका (श्रीवत्स) चिह्न दिखलायी पड़ता है और उसके ऊपर श्रीभृगु-लताका चिह्न है । भगवान्‌के कन्धे उन्नत, पुष्ट और कोमल हैं, उनपर स्वर्णमय यज्ञोपवीत और लाल रंगका उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) धारण किये हुए हैं । भगवान्‌की ग्रीवा लंबी, कण्ठ और चिबुक अति सुन्दर है । भगवान्‌के अधर और ओष्ठ बिम्बफल, लालमणि और मूँगेकी भाँति चमक रहे हैं । भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, उनका मुखारविन्द खिले हुए कमलकी तरह मनोहर हास्य, परम शोभा, उज्ज्वल कान्ति और अतिशय निर्मल उल्लाससे संयुक्त है । जिससे अतिशय निर्मल दाँतोंकी पङ्क्ति मोतियोंकी पङ्क्तिकी भाँति परम शोभायुक्त और अति मनोहर दृष्टिगोचर हो रही है । भगवान्‌की वाणी बड़ी ही सुन्दर, स्पष्ट, कोमल और मधुर है, जो कि कर्णपुटोंको अमृतके तुल्य प्रतीत होती है । नासिका बड़ी ही मनोहर है । भगवान्‌के कपोल (गाल) चमकीले, कोमल, स्वच्छ और मन्द-मन्द गुलाबी रंगकी झलकसे युक्त परम कान्तिमय हैं, उनपर कानोंमें संलग्न कुण्डलोंकी झलक शोभा दे रही है । परम सुन्दर और विशाल कानोंमें मकरकी आकृतिवाले रत्नजटित स्वर्णमय कुण्डल बाल-सूर्यकी भाँति चमक रहे हैं । भगवान्‌के नेत्र विस्तृत कमलपत्रकी तरह अति सुन्दर, अति विशाल, चमकीले और खिले हुए कमल-पुष्पकी भाँति अतिशय प्रफुल्लित एवं परम ज्योतिर्मय हैं । भगवान्

अपने अपरिसीम प्रेम और दयासे मुझको अपलक (एकटक) देखते हुए मानो प्रेम, दया, आनन्द, शान्ति, समता, ज्ञान आदि गुणोंकी मुझपर अनवरत वर्षा कर रहे हैं और जैसे पूर्णकलायुक्त चन्द्रमाकी अमृतमयी किरणोंसे सम्पूर्ण ओषधियोंमें अमृतमय रस परिपूर्ण हो जाता है, उसी तरह भगवान्के नेत्रोंसे प्रवाहित वह दिव्य अमृतमय गुणोंकी अजस्र धारा मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरके अणु-अणुको अपने उस परम दिव्य रससे आप्यायित करती हुई सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है, जिससे वे गुण मुझमें प्रवेशकर रोम-रोममें भलीभाँति व्याप्त होकर ऐसी चेतनता, आनन्द और शान्तिका मधुर रसास्वादन करा रहे हैं, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। मैं भगवान्के उस अखिल-सौन्दर्य-रससुधानिधि मुखारविन्दको देखकर बार-बार मुग्ध हो रहा हूँ और एकटक निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींके रूपको देख रहा हूँ। भगवान्की भौंहें भ्रमरोंकी तरह कृष्णवर्ण तथा भृकुटी विशाल और अतिशय सुन्दर है, जिससे समस्त जीवोंपर अत्यन्त अनुग्रह सूचित हो रहा है। भगवान्का ललाट चमकीला, चिकना, अति विशाल और परम शोभायमान है, उसपर अति सुन्दर श्रीधारण तिलक हैं। मस्तक चमकीली, चिकनी, काली घुँघराली अलकावलीसे सुशोभित हो रहा है; केशोंमें पारिजात आदिके पुष्प गुँथे हुए हैं। मस्तकपर रत्नजटित स्वर्णमय परम कान्तियुक्त दिव्य मुकुट चमक रहा है। भगवान्के मुखारविन्दके चारों ओर सूर्यकिरणोंकी भाँति दिव्य प्रकाशकी अत्यन्त उज्ज्वल किरणें छिटक रही हैं। उनका मुखारविन्द अमृतमयी शरत्पूर्णिमाके कलङ्करहित चन्द्रमासे भी बढ़कर कान्तिमान्, शोभामय और परम रमणीय है। भगवान्के श्रीविग्रहसे अत्यन्त दिव्य, परम मधुर सुगन्ध निर्गत हो रही है, जिसको मैं अपने नासापुटोंसे ग्रहण करके मानो अमृतका ही पान कर रहा हूँ। भगवान्का दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप—सभी प्रेममय, रसमय और आनन्दमय हैं।

भगवान्का श्रीविग्रह, वस्त्र, अलङ्कार, आभूषण, आयुध, मालाएँ आदि सभी दिव्य चिन्मय हैं। भगवान्के श्रीविग्रहकी सुन्दरता इतनी मधुर और चित्ताकर्षक है कि जिसको देखकर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते हैं, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है! उनकी सुरूप-लावण्यमयी आकृतिको देखकर कामदेव भी लज्जित हो जाता है। करोड़ों कामदेवोंका सौन्दर्य भी भगवान्के सौन्दर्यके सम्मुख कुछ भी नहीं है। भगवान्की वह रूपमाधुरी भक्तपर एक जादूका-सा काम करती है। उस रूप-माधुरीके दर्शनसे ही इतना आकर्षण हो जाता है कि फिर उसे छोड़ा ही नहीं जा सकता। सम्पूर्ण जगत्का समस्त सौन्दर्य मिलकर भी भगवान्के सौन्दर्यके एक अंशके समान भी नहीं है। उनकी प्रेममयी सुन्दरताकी महिमा कोई भी नहीं गा सकता। भगवान्के नेत्रोंकी प्रेममयी दृष्टि पड़नेसे मनुष्य भगवान्के प्रेममें इतना तन्मय हो जाता है कि वह फिर भगवान्को कभी भुला नहीं सकता, बल्कि वह सदा अपने नेत्रोंसे भगवान्की रूपमाधुरीका ही पान करता रहता है। भगवान्की उस रूपमाधुरीके प्रत्यक्ष दर्शनकी तो बात ही क्या है, स्वप्नमें भी उसके दर्शन हो जाते हैं तो मनुष्य प्रेममें इतना निमग्न हो जाता है कि अपने जीवनमें उसे कभी भुला नहीं सकता। उसमें इतना अद्भुत आकर्षण है कि वह रसमय विग्रह एक बार भी यदि ध्यानमें आ जाता है तो फिर भक्त उसे भुलानेमें असमर्थ-सा हो जाता है और उस अमृतमय रसका आस्वाद लेता हुआ कभी तृप्त नहीं होता, वरं उस प्रेममय अतृप्तिमें अपने आपको ही भुला देता है एवं उनके गुणोंको बार-बार स्मरण करके मुग्ध होता रहता है।

भगवान्में असीम और अत्यन्त विलक्षण सौम्यता, शान्ति, प्रेम, सौहार्द, मधुरता, सुन्दरता, रमणीयता, रुचिरता, मनोहरता, नित्यनूतनता, उदारता, वीरता, निरभिमानता, निर्वैरता, भक्तवत्सलता, प्रेमाधीनता, पतित-

पावनता, सर्वमङ्गलकारिता, सच्चिदानन्दस्वरूपता, सर्वाराध्यता, कृतज्ञता, दानशीलता, धार्मिकता, सर्वश्रेष्ठता, तत्त्वज्ञता, बुद्धिमत्ता, वाग्मिता, शास्त्रज्ञता, समस्तभाषाभिज्ञता, प्रियवादिता, मनस्विता, दक्षता, सर्वचित्ताकर्षक मधुरभाषिता, शरणागतसंरक्षण, साधुपरित्राण, भक्तसौहार्द, न्याय, दृढव्रत, पाण्डित्य, प्रतिभा, परम आनन्द, परमगति, सर्वसिद्धि, समृद्धि, सर्ववशित्व, असाधारण अद्भुत शोभा, सर्वाकर्षणत्व और अद्भुत चमत्कार आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। इनके अतिरिक्त, भागवतमें भी सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा आदि बहुत-से गुणोंका वर्णन आता है। पृथ्वीने धर्मके प्रति कहा है—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥
इमे चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥

'भगवन्! उन भगवान्‌में सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, सरलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र-विचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, पराक्रम, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, मनोबल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहङ्कारिता—ये उन्तालीस अप्राकृत गुण तथा बड़े-बड़े महत्त्वाकाङ्क्षी पुरुषोंद्वारा वाञ्छनीय और भी बहुत-से महान् गुण उनकी सेवा करनेके लिये नित्य-निरन्तर निवास करते हैं, वे एक क्षणके लिये भी उनसे अलग नहीं होते।'

शास्त्रोंमें भगवान्‌के और भी अनेक गुण बतलाये गये हैं; किंतु अनन्त गुण होनेके कारण उन सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है। ये सब अप्राकृत गुण भगवान्‌में अतिशय और पूर्णरूपसे हैं। सारे संसारके प्राणिमात्रके हृदयमें वर्तमान दया और प्रेमको एकत्र किया जाय, तब भी उस अनन्त अपार दया और प्रेमके समुद्रकी एक बूँदसे भी उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डके समस्त गुणसमूह मिलकर भी उन गुणसागरके एक बूँदकी भी समता नहीं कर सकते; क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड परमात्माके सङ्कल्पके किसी एक अंशमें स्थित हैं। उन दिव्य चिन्मय परमात्माका निर्गुण-निराकार स्वरूप ही सगुण-निराकारके रूपमें परिणत होता है, अतः ये सब गुण दिव्य और चिन्मय हैं। इसलिये इन दिव्य चिन्मय गुणोंके एक अंशका प्रतिबिम्ब ही सारे ब्रह्माण्डमें अनन्त गुणोंके रूपमें भासित हो रहा है। इसीलिये संसारके समस्त गुण परमात्माके गुणोंके एक बूँदकी भी बराबरी नहीं कर सकते।

उस सगुण-साकार स्वरूपके दो भेद हैं—एक तो मायाविशिष्ट और दूसरा मायातीत। जो मायातीत रूप है, उसमें सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंका अत्यन्त अभाव है, अतः उन परमात्माके गुण, स्वरूप, प्रभाव आदि सभी चिन्मय हैं; किंतु जो संसारमें अवतार लेते और सबके दृष्टिगोचर होते हैं, वह भगवान्‌का मायाविशिष्ट रूप है,* असली मायातीत रूप सबको नहीं दीखता; क्योंकि सभी उसके अधिकारी न होनेके कारण भगवान् अपने ऊपर मायाका पर्दा डाले हुए रहते हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

---

* गीतामें भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(७।२५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्म-रहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है।'

किंतु जो भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेवाला भक्त है, उससे वे अपना पर्दा हटाकर वास्तविक मायातीत रूप दिखला देते हैं, जिसके दर्शन पाकर मनुष्य कृत-कृत्य हो जाता है।

वास्तवमें वे परमात्मा ईश्वरोंके भी ईश्वर, अज और अविनाशी हैं, उनका जन्म और विनाश नहीं होता, वे तो संसारके हितके लिये प्रकट और अन्तर्धान होते हैं या यों कहिये कि उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता है। जो मनुष्य उन परमात्माके जन्मकी उपर्युक्त दिव्यता और अलौकिकताको तत्त्वतः जान लेता है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ४।९)

भगवान्‌का प्रभाव भी अतिशय अप्रमेय और अलौकिक है। भगवान्‌में सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, पराक्रम, प्रताप, सामर्थ्य, विभूति, महिमा, कान्ति, सर्वज्ञता, सर्वकारणता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्व-नियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता आदि अनन्त, असीम और विलक्षण प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यान-के प्रभावसे समस्त दुर्गुण, दुराचार, विकार और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्गुण-सदाचारसम्पन्न होकर जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। परमात्मा स्वयं असीम, अप्रमेय और चिन्मय होनेके कारण उनका प्रभाव भी चिन्मय, असीम और अप्रमेय है। जिनके संकल्पमात्रसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अनायास ही होते रहते हैं, जिनके कृपाकटाक्षसे ही लाखों-करोड़ों प्राणियोंका क्षणमें उद्धार हो सकता है, जो असम्भवको सम्भव और सम्भवको असम्भव करनेमें समर्थ हैं; जो जडको चेतन और चेतनको जड बना सकते हैं और जो मच्छरको ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छर बना देनेमें समर्थ हैं, उन अचिन्त्य-अनन्त प्रभावशाली परमात्माके प्रभावका वर्णन पूर्णतया करना सम्भव नहीं। समस्त ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ भी विभूति, बल, ऐश्वर्य आदि प्रभावशाली तेजस्वी पदार्थ हैं, वे सब मिलकर भगवान्‌के प्रभावके एक अंशका ही आभासमात्र हैं, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भगवान्‌के संकल्पके एक अंशमें स्थित हैं।* उन भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जो मनुष्य जान जाता है, वह उसी क्षण उनको प्राप्त हो जाता है।

अतएव भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये गुण-प्रभावसहित उनके स्वरूपका निष्कामभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर ध्यान करना चाहिये।

---

* गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योग-शक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४३)

गृहतोरणके समीप अपने हाथोंमें नीलमणि एवं बलरामके करपल्लव धारण किये व्रजेश्वरी खड़ी हैं तथा आभीर-शिशु उन्हें वनमें घटित आजकी घटना सुना रहे हैं—

मातः परं मातः परं कौतुकं कौतुकं न विस्मापयति तत् । यदद्य सख्या सख्यापित-भुजपराक्रमः पराक्रमः कृतः ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'री मैया ! इससे परे सुन्दर कौतुक और कोई हो ही नहीं सकता । यह पृथ्वीपर भला किसे विस्मित नहीं करेगा ! आज हमारे सखा कन्हैयाने शत्रुपर ऐसे आक्रमण किया कि क्या बताऊँ ! उस आक्रमणको देखकर ही हमलोगोंने जाना कि सचमुच कन्हैया भैयाकी भुजाओंमें कितना बल है !'

व्रजेश्वरीके नेत्रोंमें, मुखपर एक साथ भीति, उत्कण्ठा, अनिष्टाशङ्काकी छाया झलमल कर उठती है । क्षणभर पूर्व वनसे लौटे हुए नीलसुन्दरकी शोभा निहारनेमें ही मैयाके प्राण तन्मय हो रहे थे । किंतु गोप-शिशुओंके इन शब्दोंने वह एकाग्रता हर ली; प्राणोंमें स्पन्दन आरम्भ हो गया—पता नहीं क्या घटना हुई है ? जननी पूरे मनोयोगसे शिशुओंकी बात सुनने लगती हैं । वे सब भी कहते ही जा रहे हैं—

निजमदपर्वतायमानं पर्वतायमानं सर्वानेव नो गिलितुमुद्यतमुद्यतं ज्वलन्तमिव पावकं वकं तीक्ष्ण-चञ्चुं चञ्चूर्यमाणं करसरोजाभ्यामाभ्यामाहितहेलं हेऽलंसुकृतिनि ! तव कुसुमसुकुमारः कुमारः सपदि वीरणतृणमिव पाटयामास ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'देख मैया ! तुम्हें बताऊँ—वह जो आया था, अपने गर्वोल्लासमें फूल रहा था, पर्वत जैसा-बगुला बना हुआ था, हम सबको निगल जानेके लिये उद्यत होकर आया था । मृत्यु उसके सिरपर नाच रही थी; इसीलिये आनन्द, शान्तिका लेश भी उस पक्षीमें नहीं था । री मैया, उसके अत्यन्त तीक्ष्ण चोंच थी, उस चोंचके कारण वह जलती हुई आगके समान बना हुआ था । टेढ़े-टेढ़े चलकर वह आ रहा था । किंतु मैया, री बहुपुण्यवती जननि ! तेरे इस कुसुमसुकुमार नीलमणिने अपने इन्हीं हस्तकमलोंसे उस बकासुरको देखते-ही-देखते अनायास—जैसे कोई बीरण नामक तृणको बीचसे चीरकर फेंक दे, वैसे ही चीरकर फेंक दिया !'

बालकोंकी बात सुनकर व्रजरानीके मुखकी उत्फुल्लता जाती रहती है । निराशाभरी आँखोंसे वे पुरपुरन्ध्रियों-की ओर देखती हुई कहने लगती हैं—

यदर्थमजहामहं बत ! महावनावस्थितिं
तदेतदतिभीतिदं दितिजकृत्यमुन्मीलति ।
अयं परमचञ्चलः परमसाहसोऽसाध्वसः
क्व यामि करवाणि किं हतविधेर्न वेद्मि हितम् ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'आह ! जिस कारणसे महावनका निवास छोड़कर आयी, वह यहाँ भी पीछे लगा ही रहा; यहाँ भी वह असुरोंका भयङ्कर उत्पात होने ही लगा । यह मेरा नीलमणि अतिशय चञ्चल है, अत्यन्त साहसी है, भय तो इसे छू नहीं गया है, किसीसे तनिक भी नहीं डरता (जहाँ चाहे चला जाता है, जिस किसी वस्तुको ही पकड़ लेता है) । हाय ! कहाँ जाऊँ ! क्या करूँ ! पता नहीं, दुर्दैवकी क्या इच्छा है !'

—यह कहते-कहते अत्यन्त दुःखभारसे व्रजेश्वरीके नेत्र निमीलित हो जाते हैं । किसी अचिन्त्य प्रेरणावश गोप-शिशुओंके मुखसे यह बात सहसा स्पष्ट नहीं निकली कि बक श्रीकृष्णचन्द्रको निगल चुका था । अन्यथा व्रजेश्वरीके अन्तस्तलपर इस घटनाकी क्या

कैसी प्रतिक्रिया होती, यह कहना कठिन है !

जो हो, विद्युत्की भाँति यह समाचार समस्त व्रजपुरमें फैल जाता है । अपने जीवनसर्वस्व श्रीकृष्ण-चन्द्रको अतिशय निकटसे जाकर देख लेनेके लिये प्रत्येक गोप-गोपीके प्राण चञ्चल हो उठते हैं । नन्दभवनमें ही व्रजमण्डल एकत्र हो जाता है । बालक बार-बार उस घटनाका विवरण सबको सुना रहे हैं, सुन-सुनकर सभी आश्चर्य-विस्फारित नेत्रोंसे श्रीकृष्ण-चन्द्रकी ओर ही देखने लगते हैं । व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोपोंने आदिसे अन्ततक—कैसे क्या-क्या हुआ—सब सुना । फिर तो सबकी अञ्जलि बँध जाती है, सभी अपने इष्टदेव श्रीनारायणके चरणोंमें श्रीकृष्ण-चन्द्रकी इस अप्रत्याशित रक्षाके लिये लुट पड़ते हैं । श्रीकृष्णचन्द्रके सुकोमल अङ्गोंकी ओर दृष्टि जानेपर उन्हें विस्मय होता है—ओह ! इस नन्हें-से नीलमणिने ऐसे दुर्दान्त दैत्यको अनायास चीर डाला ! और जब वे बकके द्वारा श्रीकृष्णचन्द्रको निगल जानेकी बात स्मरण करते हैं, तब उन्हें लगता है—आह ! नीलमणि तो आज हमलोगोंको छोड़कर मानो दूसरे लोकमें चला ही गया था, श्रीनारायणदेवकी कृपासे ही लौटकर आ गया है—मृत्युकी छाया छूकर आया है । उनकी खोयी हुई परमनिधि उन्हें पुनः प्राप्त हो गयी है, नीलमणि उनके नेत्रोंके सामने पुनः सकुशल लौट जो आया है, उन्हें क्या नहीं मिल गया है !—प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलका अनुराग उमड़ चलता है, सभी अतृप्त नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर देखते ही रह जाते हैं—

श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः ।
प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५४)

जब भावप्रवाह किञ्चित् शिथिल होता है, तब गोपसमाजमें, गोपीमण्डलीमें यह चर्चा आरम्भ होती है—

अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन् ।
अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम् ॥
अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।
जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥
अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।
गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ११ । ५५—५७)

'अहो ! कितने आश्चर्यकी बात है ! अबतक इस बालकके लिये मृत्युके कारण तो बहुतसे उपस्थित हुए; पर हुआ यह कि जो इसका अनिष्ट करने आये, उन्हींका अनिष्ट हो गया । ऐसा इसीलिये हुआ कि उन सब-के-सबने यहाँ आनेसे पूर्व बहुतसे प्राणियोंका अनिष्ट साधन करके अपने लिये भी पुष्कलमात्रामें अनिष्टका ही सञ्चय कर लिया था—उनके पापका घड़ा भर जो चुका था । देखो तो सही, वे भयङ्कर-मूर्ति राक्षस आते तो हैं, पर इस कुसुमसे भी सुकुमार नीलसुन्दरका बाल बाँकातक नहीं कर पाते । सब-के-सब इसका प्राण हरण करनेकी इच्छासे ही आते हैं; पर जहाँ इसके पास आये कि प्रज्वलित अग्निमें गिरे पतङ्गकी भाँति स्वयं नष्ट हो जाते हैं । ओह ! वेदार्थ-तत्त्वज्ञोंके मुखसे निःसृत वाक्य सचमुच कभी मिथ्या नहीं होते ! भगवान् गर्गने जो कुछ कहा था, उसे ठीक वैसे ही घटित होते हमलोग देख जो रहे हैं ।'

किंतु व्रजेश्वरीका ध्यान इस चर्चाकी ओर बिल्कुल नहीं है । वे अपने नित्यकर्ममें व्यस्त हैं । कुछ क्षणतक तो मैया इस घटनासे अतिशय व्यथित होकर आँख बंद किये न जाने क्या-क्या सोचती रहीं; पर सहसा वनसे लौटे पुत्रका क्लान्त मुख उनकी स्मृतिपथमें आया और वे प्रतिदिनकी भाँति नीलमणिके संलालनमें लग गयीं । अतिशय लाड़से गोप-शिशुओंको अपने-अपने

घर भेज दिया। फिर अभ्यञ्जन, उद्वर्तन आदिसे नील-मणिकी, अग्रजकी श्रान्ति मिटाकर उन्हें ब्यारू करवाया। यह हो जानेके अनन्तर वात्सल्यकी सहस्र-सहस्र धारासे नील-सुन्दरको अभिषिक्त करती हुई मैया उनसे कहने लगती हैं—

तात ! गृह एव भवता स्थीयतां नातः परे वनान्तरे गन्तव्यम्। वत्स ! वत्सरक्षणक्षणस्ते विरमतु वत्सरक्षणे बहवः सन्ति। किं तवामुनाऽऽयासेनेति।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'मेरे लाल ! अब तू घरपर ही रह। अब फिर कभी वनमें मत जाना। मेरे लाड़िले ! वत्ससंलालनका तेरा सुख यहीं समाप्त हो। वत्सरक्षणके लिये बहुतसे गोप हैं ही। तेरे इस प्रकार कष्ट उठानेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? बस, अब बहुत हो चुका !'

श्रीकृष्णचन्द्र जननीकी यह उद्विग्नता देखकर अपने करपल्लवसे उनकी ठोड़ी स्पर्श करते हुए आश्वासन देने लगते हैं—

मातर्मा तव भयं किमपि×××तदलं चिन्तयेति×××।

'मैया, तेरे लिये कोई भी भयकी बात नहीं है ! तू व्यर्थकी चिन्ता रहने दे।'

यह कहते-कहते ही श्रीकृष्णचन्द्रके नयनसरोजोंमें आलस्य भरने लगता है तथा जननी उन्हें परम सुन्दर शय्यातलपर शयन करा देती हैं।

इधर गोपसमाजमें, गोपीसमुदायमें श्रीकृष्णचन्द्रकी चर्चा समाप्त नहीं हुई है। स्वयं व्रजेश्वर एवं उपनन्द आदि प्रमुख गोप भी अन्य समस्त कृत्य भूलकर सबकी बातें सुन रहे हैं तथा स्वयं भी घटनाक्रमके किसी अज्ञात एवं स्खलित अंशकी पूर्ति कर दे रहे हैं। पूतना, शकट, तृणावर्त, यमलार्जुनपतन, बकविपाटन आदि समस्त लीलाकथाओंकी, इनसे सम्बद्ध क्षुद्र-से-क्षुद्र नगण्यतम घटनावलियोंकी पुनः-पुनः आवृत्ति करनेमें इस आभीरकुलको इस समय क्षण-क्षणमें नवीन उत्साह-की अनुभूति हो रही है। आज तो अभी-अभी विशिष्ट घटना घटित हुई है, बकको चीरकर श्रीकृष्णचन्द्रने सबको आश्चर्यचकित कर दिया है। ऐसे निमित्तसे श्रीकृष्णचरित्रकी चर्चा चले, इसमें क्या बड़ी बात है। यह तो व्रजेश्वरसे लेकर जनसाधारणतक—समस्त पुरवासियोंकी जीवनचर्याका प्रमुख अङ्ग है, उनका व्यसन है। इससे उपरति, तृप्ति उन्हें कभी होती ही नहीं। सजल नेत्र हुए अश्रुपूरित कण्ठसे श्याम-बलराम-के चारुचरित्रोंका गान पुरवासियोंके प्राणोंका आधार है। यह किये बिना उनके लिये प्राण-धारण सम्भव नहीं। व्रजमण्डलमें, नन्दव्रजमें, वृन्दाकाननमें, नन्दनन्दनकी तथा, रोहिणीतनयकी कथासुधा सतत प्रसरित होती रहती है, उसीमें अवगाहन करते, उसीमें निरन्तर निमग्न हुए पुरवासियोंको भववेदना स्पर्शतक नहीं कर पाती, कथामृतसिन्धुमें डूबे हुए इस आभीरसमाजको भवदुःख-दावानल दग्ध नहीं कर सकता, इस ज्वालाकी छाया भी उन्हें छू नहीं सकती—

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ११। ५८)

इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है—

तादृग्रमेशचरितं श्रुतिमात्रवेद्यं
यस्यास्ति सोऽपि भवदुःखलवं न वेत्ति।
चित्रं किमत्र स च तच्चरितं च येषा-
मध्यक्षमास न विदुर्भववेदनां ते॥

(भक्तिरसायन)

'रमावल्लभ श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे चरित्रोंको जो केवल सुनतेमात्र हैं, जिन्हें अनुभव नहीं, केवल श्रवणमात्रसे ही होनेवाला लीलासम्बन्धी ज्ञान जिनके पास है, उनके लिये भी भवदुःखका लेशतक नहीं रहता—लीलाश्रवणकी इतनी महिमा है। फिर यहाँ तो व्रजपुरवासियोंके नेत्रोंके सामने वे श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं विराज रहे हैं, एवं श्रीकृष्णचरित्रका प्रत्यक्ष प्रवाह बह रहा है। अब इन पुरवासियोंको यदि भववेदनाकी अनुभूति नहीं होती तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?'

इस व्रजपुरमें जबसे श्रीकृष्णचन्द्रका अवतरण हुआ है, तबसे उनके महामरकत-श्यामल अङ्गोंसे लीलाका नवीन नूतन स्रोत क्षण-क्षणमें झरता रहा

है । प्रत्येक गोप-गोपीके अन्तस्तलमें उसकी एक-एक बूँद सञ्चित होती रहती है और फिर प्रत्येक विन्दु गीतके रूपमें मूर्त हो जाती है । प्रत्येक रजनीका विराम होते ही गोपेन्द्र एवं अन्यान्य समस्त गोप तो नित्यकर्ममें संलग्न होते हैं; और गोपेन्द्रपरिचारिकाएँ, गोपसुन्दरियाँ वास्तुपूजनकर अपने कंकणभूषित करोंसे दधिमन्थन आरम्भ करती हैं । उस समय प्रत्येक गृहमें, प्रत्येक गोपीके अधरोंपर श्रीकृष्णलीलागानकी लहरें उठती रहती हैं । गीतकी यह अनर्गल धारा व्रजराजके, व्रजमण्डलवासी समस्त गोपोंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट हो जाती है । किसी गोपीके मानसपथमें श्रीकृष्णचन्द्र पालने झूल रहे हैं । गोपी उसे निहार-कर आनन्दनिमग्न हो रही है । यह अपरिसीम आनन्द अन्तर्देशमें सीमित रह जो नहीं सकता । गीत बनकर बाहर लहराने लग जाता है, गोपी गाने लग जाती है—

नंदको लाल व्रज पालने झूले ।
कुटिल अलकावली तिलक गोरोचना चरन अंगुष्ठ मुख किलकि फूले
नैन अंजन रेख भेख अभिराम सुठि कंठ केहरि किंकिनी कटि मूले ।
नंददासनि नाथ नंद-नंदन कुँवरि निरखि नागरि देह गेह भूले ॥

कहीं किसी दूसरी गोपीके मानसतलमें नन्द-नन्दनके जन्ममहोत्सवका राग-रंग भर रहा है, उत्सव-का साक्षात्कारकर वह फूली नहीं समा रही है, उसके प्राणोंकी उमङ्ग शब्दोंका आकार धारणकर बाहर प्रसरित होने लगती है—

माई आज गोकुल गाम, कैसौ रह्यौ फूलि कै ।
गृह फूले दीसैं, जैसैं संपति समूल कै ॥
फूली फूली घटा आई, घरहर घूमि कै ।
फूली फूली वर्षा होति, झर लायौ झूमि कै ॥
फूलौ फूलौ पुत्र देखि, लियौ उर लूमि कै ।
फूली हैं जसोदा माइ, ढोटा मुख चूमि कै ॥
देवता अगिनि फूले, घृत-खाँड़ होमि कै ।
फूल्यौ दीसै दधिकाँदौ, ऊपर सो भूमि कै ॥
मालिन बाँधै बंदनमाल, घर घर डोलि कै ।
पाटंबर पहिराइ राइ, अधिकै अमोल कै ॥
फूले हैं भँडार सब, द्वारे दिये खोलि कै ।
नंद दान देत फूले, 'नंददास' बोलि कै ॥

इस प्रकार गोपीमुखनिःसृत लीलागानकी अनन्त धाराएँ दसों दिशाओंको परिव्याप्त कर देती हैं । गोपोंके कर्णपुट इनसे पूरित होने लगते हैं । इनका उन्मादी प्रभाव वयोवृद्ध गोपोंतकको चञ्चल कर देता है । गोष्ठ जाकर गोदोहन, गोसंलालन आदिमें लगे हुए गोप-समाजका मन—और तो क्या, भुवनभास्करको अर्घ्य समर्पित करते हुए परम निष्ठावान् स्वयं व्रजराजका मन भी इस प्रवाहमें बरबस बह चलता है । गोपोंके द्वारा गोसंलालन, गोदोहन तो होते हैं, पर होते हैं यन्त्रवत् और मन तन्मय होने लगता है उन्हींके मुखसे स्वतः प्रस्फुरित लीलागानमें । व्रजेन्द्रको भी अर्घ्यकी, अर्घ्यके मन्त्रकी सर्वथा विस्मृति है, केवल क्रियामात्र सम्पन्न हो रही है; चित्तवृत्ति तो कबकी विलीन हो चुकी है पुरसुन्दरियोंके कलकण्ठनिर्गत श्रीकृष्णचरित्रगानमें । स्वयं व्रजेशाकी वाणी भी वैसे ही किसी गीतकी आवृत्ति करने लगती है ।

जहाँ कहीं जब कभी भी कोई गोपसमुदाय एकत्र होता है, वहाँ उस समय चर्चा आरम्भ होती है श्रीकृष्णचरित्रसे ही, तथा आरम्भ होनेके अनन्तर उसका विराम कहाँ ? क्योंकि इस समुदायका प्रत्येक सदस्य अपने हृद्देशमें किसी एक परम सरस स्रोतका ही अनुसरण करते हुए लौटता है । ऊपरसे भले प्रतीत हो कि चर्चा स्थगित हो गयी, पर यह तो मन्दाकिनीकी वह सरस धारा-जैसी है जो सघनवनकी ओटमें विलुप्त हो जाती है और फिर आगे जाकर अनुकूल धरातलपर पुनः व्यक्त हो जाती है । गोप भावशावल्यवश एक बार मौन हो जाते हैं, चल पड़ते हैं अपने गन्तव्य दिशाकी ओर । पर कुछ दूर अग्रसर होनेपर पुनः उद्दीपनकी कोई-न-कोई वस्तु स्पर्श करती ही है और पुनः श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रोंका चित्रण चल पड़ता है । भला ऐसे लीलारसमत्त आभीरसमाजको भववेदना स्पर्श करे तो कैसे करे ? वहाँ उनकी चित्तभूमिमें अन्य भावना, अन्य अनुभूतिके लिये स्थान जो नहीं रहा !

और वास्तवमें तो यह भववेदनाका प्रश्न भी

बहिरङ्गदृष्टिसे ही है । अनन्तैश्वर्यनिकेतन नराकृति परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनके ये लीलापरिकर—नन्ददम्पति, व्रजगोप, गोपसुन्दरियाँ, गोपशिशु आदि सब भवाटवीमें भ्रमण करनेवाले जीव तो हैं नहीं जो भववेदना उन्हें छू सके । ये तो सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके अनादिसिद्ध स्वरूपभूत परिकर हैं, सत्त्व-रज-तमोमयी प्रकृतिसे अत्यन्त परेकी वस्तु हैं । इन्हें प्राकृत सृजनका कम्पन उद्वेलित नहीं करता, संहारकी छाया नहीं छूती । अपनी ही महिमामें स्थित स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ ही इनका नित्यनिवास है, एवं इनको सदा साथ लिये ही श्रीकृष्णचन्द्रकी नित्यलीला अखण्डरूपसे चलती रहती है, अनादिकालसे चल रही है, अनन्तकालतक चलती रहेगी । यहाँ इस लीलामें क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, सुख, दुःख, हास्य, क्रन्दन जो कुछ भी है, वह सत्त्व, रज, तम—इन त्रिगुणकी परिणति नहीं अपितु सब-के-सब सच्चिदानन्दमय हैं, सच्चिदानन्दसिन्धुकी लोल लहरियाँ हैं; इनपर खेलते हुए, इनका रस लेते हुए श्रीकृष्णचन्द्र कभी-कभी प्रापञ्चिक जगत्में भी इसकी एक दो बूँद बिखेर देते हैं—प्रापञ्चिक जगत्में इस चिन्मयी लीलाका प्रकाश कर देते हैं । प्रापञ्चिक स्तर इस चिद्वैभवको स्पर्श तो नहीं करता, स्पर्श कर सकता ही नहीं, प्रकाशके समय भी यह प्रपञ्चसे अत्यन्त सुदूर ही, अतिशय पृथक् ही स्थित है । फिर भी अचिन्त्य-सौभाग्यवश, एकमात्र भगवत्कृपाको ही जीवनका सारसंबल बनानेवाले जो प्राणी इसका साक्षात्कार करते हैं, उनके अनादि संसरणकी इति हो जाती है, और वे अपने अधिकारके अनुरूप इसमें यथायोग्य यथासमय स्थान पाते हैं, आगे भी इस प्रकाशके अन्तर्हित हो जानेके अनन्तर भी, साधनाका आदर्श, साधनका स्वरूप प्राप्त होता रहता है, जिसका अनुसरण कर अगणित प्रपञ्चगत प्राणी अपने परम निःश्रेयस्का मार्ग प्रशस्त करते हैं । ऐसे इस दिव्यातिदिव्य चिन्मय साम्राज्यके परिकरोंमें भववेदनाका सचमुच प्रश्न ही कहाँ बनता है ? यह तो श्रीकृष्णचन्द्रकी चिन्मयी लीलामें प्रपञ्चगत भावोंका साम्य देखकर होनेवाली शङ्काका एक बहिरङ्ग समाधान है । साथ ही त्रितापदग्ध प्राणियोंके लिये एक सुन्दर सङ्केत है—जीवो ! क्यों जल रहे हो ? श्रीकृष्णलीला-रस-मन्दाकिनीके इस पुनीत प्रवाहमें तुम भी इन गोपोंकी भाँति अवगाहन करो, तुम्हें शाश्वती शान्ति सहजमें प्राप्त हो जायगी !

अस्तु, आज एक प्रहर निशा व्यतीत हो चुकी है । व्रजेश्वरी तो शयनागारमें पुत्रोंको लिये, उन्हें सुलाकर स्वयं अनिद्रित रहकर चिन्तामें निमग्न हैं । उन्हें एक ही चिन्ता हो रही है—'जिस किस प्रकारसे हो, नीलमणि यदि वन जानेका हठ छोड़ दे तो कितना सुन्दर हो ! क्या उपाय करें ? नीलमणिको कैसे समझावें ?' और इधर व्रजेश्वर अभी भी गोपसभामें विराजित हैं, राम-श्यामकी चर्चा करनेमें, सुननेमें तन्मय हो रहे हैं; किंतु अब अतिकाल जो हो रहा है, नारायण-मन्दिरमें शयन-नीराजनका समय हो चुका है । परिचारिकाके द्वारा स्मरण दिलानेपर व्रजेश्वर सभा विसर्जितकर मन्दिरकी ओर चल पड़ते हैं; किंतु अभी-अभी श्रीकृष्णचरित्र-चित्रण-श्रवणसे प्राप्त सुखकी अमिट स्मृति साथ लिये जा रहे हैं । वास्तवमें यह सुख है ही अप्रतिम, इसकी अन्यत्र कहीं तुलना जो नहीं !—

जो सुख होत गोपालहिं गाये ।
सो नहिं होत किये जपतपके कोटिक तीरथ न्हाये ॥
दिये लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाये ।
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नँदनंदन उर आये ॥
बंसीबट बृंदाबन जमुना, तजि बैकुंठ को जाये ।
सूरदास हरिको सुमिरन करि, बहुरि न भव चलि आये ॥

देहसिद्धि और पूर्णत्वका अभियान

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०, डी०लिट्०)

(१)

मनुष्यकी ज्ञानशक्तिके विकासके साथ-साथ उसके जीवनका चरम आदर्श अस्पष्ट रूपसे उसके हृदयमें कभी-कभी भासित हो उठता है। वह आदर्श क्या है, इसे भाषामें व्यक्त करें तो अनेक दिशाओंसे अनेक प्रकारके नाम निर्देश किये जा सकते हैं। परंतु वस्तुतः कोई भी नाम उस महान् आदर्शको पूर्ण रूपसे व्यक्त करनेमें समर्थ नहीं है। दुःख-निवृत्ति अथवा आनन्दकी अभिव्यक्ति दार्शनिक समाजमें बहुत ही परिचित वस्तु है। यही परम पुरुषार्थ है, इसे बहुतेरे लोग निःसङ्कोच स्वीकार करते हैं। परंतु मेरी समझसे 'पूर्णत्व-प्राप्ति'को ही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य स्वीकार करना अधिक सुसंगत है। मनुष्यका जीवन पहलेसे ही नाना प्रकारके बन्धनोंमें बँधा और आवरणसे ढका है, अतएव उसकी स्वतन्त्र स्फूर्ति कभी नहीं हो सकती। इन सारे बन्धनों और आवरणोंसे जबतक मुक्त नहीं हुआ जाता, तबतक मनुष्य वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकता; और जबतक इस स्वाधीनताका आविर्भाव नहीं होता, तबतक मनुष्यके लिये पूर्णत्वकी प्राप्ति तो दूरकी बात है, पूर्णत्वकी यात्राका श्रीगणेश भी नहीं होता। पूर्णत्व अत्यन्त दुर्लभ अवस्था है—इसे आजपर्यन्त यथार्थ रूपमें किसीने उपलब्ध किया है या नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। परंतु उस मार्गमें अल्पाधिक परिमाणमें कुछ लोग अग्रसर हुए हैं, इसका प्रमाण इतिहाससे प्राप्त होता है।

बहुतोंकी धारणा है कि जीव जन्म लेकर कर्म-पथसे चलते-चलते, किसी-न-किसी दिन, इस जन्ममें या भविष्यके दूसरे जन्मोंमें पूर्णत्व लाभ कर सकता है। यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है, परंतु इसके भीतर आंशिक सत्य रहस्यके गर्भमें निहित है। कर्म, अकर्म और विकर्मका सहज ही भेद नहीं किया जा सकता। प्रकृत कर्म-पथ प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। परंतु एक बार इस पथके प्राप्त होनेपर कर्मसे ही ज्ञानका विकास होता है, ज्ञानका पृथक् रूपसे आहरण नहीं करना पड़ता। वस्तुतः दीक्षा-कालमें गुरुदत्त ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-साथ कर्मपथ खुल जाता है। और उसके बाद कर्मके निर्दिष्ट परिमाणमें विकास होनेपर गुरुदत्त अव्यक्त-ज्ञान या ज्ञान-शक्ति ज्ञानचक्षुके रूपमें उन्मीलित होती है—इसका ही नाम 'लक्ष्यका उन्मेष' है। साधारण जीवके लिये लक्ष्यरूपी इस ज्ञानचक्षुके उन्मेषके प्रभावसे निम्नस्तरके सारे कर्म, जिनके द्वारा चित्त विक्षिप्त और आच्छन्न होता है, नष्ट हो जाते हैं। तब दो अवस्थाओंकी अभिव्यक्ति विकल्प रूपसे होती है। दुर्बल अधिकारीके लिये पूर्वोक्त ज्ञानोदयके साथ-साथ एक स्थिति अवस्थाका उदय होता है। इस अवस्थामें साधक प्रकाशमय महाज्योतिके बीच निष्क्रिय स्वसत्ताको लेकर अचल भावसे अवस्थान करता है। परंतु सबल अधिकारीके लिये इस ज्योतिमें क्रमशः अग्रसर होनेका मार्ग मिल जाता है। इसका ही नाम है 'योगपथमें महाभिनिष्क्रमण।'

साधारणतः निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञानके उदयके बाद देहमें अवस्थान करना सम्भव नहीं होता। अतएव महाप्रस्थान अथवा महायोगके मार्गपर चलना नहीं बनता। विदेह-कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त करनेके बाद केवली आत्माके लिये किसी प्रकारकी अग्रगति अथवा अवस्थान्तरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। देह-सम्बन्धके बिना प्रकृत कर्मका विकास सम्भव नहीं होता।

जागतिक साधक जिन आध्यात्मिक स्तरों या अनुभूति-क्षेत्रोंकी उपलब्धि करता है, वे सब अज्ञान-भूमिके अन्तर्गत होते हैं, अतएव अल्पाधिक परिमाणमें जडताके द्वारा आच्छन्न रहते हैं।

इससे समझा जा सकता है कि योगीका यथार्थ कर्मपथ ज्ञान-नेत्रके उन्मीलनके बाद प्राप्त होता है, इसके पूर्व नहीं। इस विराट् पथपर चलनेके लिये देहको सुरक्षित रूपमें अपने अधीन रखना आवश्यक है, क्योंकि यही आद्य धर्मसाधन है, अर्थात् रोग, जरा, अकालमृत्यु आदि समस्त विघ्नोंसे देहको मुक्त करके पूर्णत्वके मार्गमें चलना है। यह अधिकांश मनुष्योंके लिये अप्राप्य या दुष्प्राप्य है, अतएव यथार्थ जीवन्मुक्ति संसारमें इतनी दुर्लभ है। साधारणतः जिस अवस्थाको जीवन्मुक्ति कहा जाता है, उसमें अज्ञानकी आवरण-शक्ति न होनेपर भी विक्षेप-शक्ति रहती है—यह मानना पड़ता है। विक्षेप-शक्तिके होनेके कारण वेदान्तादि अनेकों प्रस्थानोंमें एक ऐसा मत प्रचलित है कि प्रारब्ध कर्म तत्त्वज्ञानके द्वारा नष्ट नहीं होते, एकमात्र भोगके द्वारा ही नष्ट होते हैं। इस प्रकारकी जीवन्मुक्ति-अवस्था नित्य नहीं

होती; क्योंकि प्रारब्धभोगोंका अन्त हो जानेपर देह-पात अवश्यम्भावी है। देहान्तके बाद विदेह-कैवल्य-अवस्थाका उदय होता है। कहना न होगा कि वह जीवन्मुक्त अवस्थासे बिल्कुल ही भिन्न है, क्योंकि इस अवस्थामें देह या इन्द्रिय आदि नहीं रहते।

अतएव योगियोंका सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ उद्यम देह-स्थैर्यके व्यापारमें लगता है, देहको जरारहित करके अमरत्व दान करना ही देह-स्थैर्यका उद्देश्य है। देहको स्थिर कर लेनेपर वह पुनः चञ्चल नहीं होता, तथा वह कभी विकार-ग्रस्त नहीं होता, अथवा मृत्युमुखमें नहीं पड़ता। पृथिवीके सभी देशोंमें इसी कारण प्राचीन कालमें सम्प्रदायविशेष अति गुप्त भावसे देह-सिद्धिकी क्रियाका अनुष्ठान करते थे। ईसाई-सम्प्रदायमें सेंट जॉन और चीन देशमें आचार्य लाउत्से इस मार्गमें दीक्षित होकर कुछ अंशमें चरम सत्यकी प्राप्तिके पथपर अग्रसर हुए थे। भारतवर्षमें हठयोगीगण तथा शैव, शाक्त, वैष्णव आदि उपासकोंमें कुछ लोग देहसिद्धिके रहस्यको जानते थे। मध्ययुगके तिब्बतमें विशिष्ट योगीजन भी इसे जानते थे। वायु अथवा मनको स्तम्भित करके अथवा अष्टादश संस्कारसे संस्कृत पारदके द्वारा देह-सिद्धि की जा सकती है। योगियोंकी कुछ मुद्राएँ भी इस क्रियामें उपयोगी होती हैं। यह कथा प्रसिद्ध है कि स्वामी शङ्कराचार्यके गुरु गोविन्द भगवत्पादने रस-प्रक्रियाके द्वारा सिद्ध देह प्राप्त किया था। चौरासी सिद्धोंका इतिहास भारतीय और तिब्बतीय साहित्यमें सुपरिचित ही है। माधवा-चार्यने सर्वदर्शनसंग्रहके अन्तर्गत रसेश्वर दर्शनकी आलोचनाके प्रसङ्गमें प्राचीन कारिकासे उद्धृत कर बहुतेरे सिद्धदेह-सम्पन्न योगियोंके नामोंका उल्लेख किया है। वे योगी आज भी अक्षयदेहमें विद्यमान रहकर जगत्‌में सर्वत्र विचरण करते हैं।

आचार्यगण कहते हैं कि सिद्ध देहकी प्राप्ति ही यथार्थ जीवन्मुक्ति है, क्योंकि इस देहका पतन न होनेके कारण जीवन्मुक्ति अवस्था चिरस्थायी होती है। जीवन्मुक्ति-अवस्थाके बाद देहान्त होनेपर कैवल्यका कोई स्थान नहीं। क्योंकि जिस देहको प्राप्त करनेसे कभी देह-त्याग नहीं होता वहीं यदि जीवन्मुक्ति हो तो कैवल्य या निर्वाणके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। सिद्धोंके मतसे कायसिद्धिके अभावके कारण निर्वाण स्वीकृत होता है। कायसिद्धिको प्राप्त कर लेनेपर निर्वाण सदाके लिये अतिक्रान्त हो जाता है। और योगी सिद्धतनु-अवस्थासे प्रणवतनु-अवस्थाकी ओर उठता है। सिद्धोंका मत है कि सिद्धदेहको प्राप्त किये बिना ब्रह्मज्ञान अधिगत नहीं होता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये जो कठोर साधना, तपस्या और सहनशीलता आवश्यक होती है, वह मनुष्यके अपरिपक्व देहमें सम्भव नहीं है। इसी कारण उनका उपदेश है कि पहले देह-इन्द्रिय आदिको कालके कवलसे उद्धार करके अमृत-रसके द्वारा सञ्जीवित करे, पश्चात् महाज्ञानकी साधनाका व्रत ले। इतना किये बिना पूर्णत्वके पथकी यात्रा तो सिद्ध होती ही नहीं बल्कि वस्तुतः उसका आरम्भ ही नहीं होता।

वैष्णवलोग अन्तरङ्ग साधनाके पथमें अग्रसर होकर सिद्धदेह प्राप्तकर राजमार्गका भजन करते-करते रस-साधनाके चरम उत्कर्षको प्राप्त होते हैं। उनके मतसे भावदेह ही सिद्धदेह है। भावदेहकी प्राप्तिके बाद सुदीर्घ साधना करने-पर भगवत्प्रेम प्राप्त होता है और तब रसस्वरूपमें स्थिति-लाभ होता है। उस समय भावदेह ही प्रेमके द्वारा परिणत होते-होते रसमय कायामें पर्यवसित हो जाता है। रससिद्धिके पूर्व नित्यलीलाका आविर्भाव हो ही नहीं सकता।

इससे यह समझा जा सकता है कि पूर्ण ब्रह्मज्ञानके पथमें अथवा रस-साधनाके चरम उत्कर्षकी प्राप्तिके मार्गमें सिद्धदेह एक अत्यन्त आवश्यक उपकरण है। श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में जो 'योगाग्निमय शरीर'की बात कही गयी है वह सिद्धदेहका ही एक प्रकार है। 'योगबीज', 'अमनस्क' आदि योगसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें योगदेहका स्पष्ट और अस्पष्ट निर्देश देखनेमें आता है।

(२)

प्रश्न हो सकता है कि देह प्राकृतिक गुणोंसे उद्भूत पञ्च-भूतोंके द्वारा रचित है, यह सर्वदा परिणामशील और अनित्य है, आत्मा कूटस्थ, नित्य और अपरिणामी है—ऐसी अवस्थामें देहका स्थैर्य किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? आत्मा स्थिर है और देह अस्थिर है—यही सनातन सत्य है। यह जानकर ही अनित्यके प्रति वैराग्य तथा नित्य-अनित्यका पारस्परिक विवेक प्राप्त करनेके लिये अध्यात्म-पथमें अग्रसर होना पड़ता है। इस प्रश्नके उत्तरमें बहुत कुछ कहनेको रह गया है। परंतु विस्तारपूर्वक उन सारी बातोंकी आलोचना कर गम्भीर देहतत्त्वकी मीमांसा सामयिक पत्रके कलेवरमें सम्भव नहीं है। तथापि प्रसङ्गवश कुछ तत्त्वालोचना न करनेसे मुख्य सिद्धान्त स्पष्ट नहीं होगा, अतएव यहाँ दो-चार बातें कही जायँगी।

उपनिषदोंमें विभिन्न स्थानोंमें वर्णित है कि पुरुष षोडश-कल अर्थात् देहावच्छिन्न आत्माकी सोलह कला या अवयव है। आगमशास्त्र तथा तदनुयायी अनेकों ग्रन्थोंमें आत्माकी षोडश कलाका उल्लेख मिलता है। इन सोलह कलाओंमेंसे पंद्रह कलाएँ धर्मशास्त्रमें तथा ज्योतिषशास्त्रमें तिथिरूपमें काल-चक्रके अङ्गके रूपमें वर्णित हैं। सोलह कलाविशिष्ट चन्द्रकी पंद्रह कलाएँ आविर्भाव-तिरोभावविशिष्ट तथा अनित्य हैं। ये मृत्युकला, कालकी कला अथवा नश्वर कलाके नामसे प्रसिद्ध हैं; परंतु षोडशी कला कालचक्रकी नाभिस्वरूपा है, यही विन्दुरूप अमृतकला है।

'पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलाम्।'

अतएव देहरूपी पुरके अधिष्ठाता पुरुषकी पंद्रह कलाएँ उसकी देह तथा सोलहवीं कला या अमृतकला उसकी आत्मा है। जीव पितृयान मार्गसे चलकर इन पंद्रह कलाओंका ही परिचय प्राप्त करता है। देवयान-मार्गसे गये बिना सोलहवीं कलाका पता नहीं लगता। पंद्रहवीं कला और सोलहवीं कलाके बीच जो सम्बन्ध है, वह मृत्युकालमें छिन्न हो जाता है। वस्तुतः साधारण मनुष्यकी षोडशी कलाके जागनेका अवसर ही नहीं आता। संसारमें जबतक पञ्चदश कलात्मक शरीरमें षोडशी कलाकी पूर्णताके द्वारा विधिपूर्वक अमृतक्षरण न होगा, जबतक पञ्चदश कला अपने नश्वर स्वभावको त्यागकर अमरत्व-सम्पन्न नहीं हो सकती, तबतक शरीरको मृत्युके अधीन रहना ही पड़ेगा। षोडशी कला मृत्युके समय देहसे वियुक्त होकर सूर्यमण्डल भेद करके उसके ऊपर नित्य चन्द्रमण्डलमें लौट जाती है, परंतु वह अमृत-किरण देहके ऊपर नहीं गिरती।

श्रुति कहती है—'अपाम सोमममृता अभूम।' यह वेद-वाक्य सोमपानके फलस्वरूप अमृतत्वकी प्राप्तिका निदर्शन करता है। यह अमृतत्व देहसिद्धिजनित अमरत्व है; यह आत्माका स्वभावसिद्ध अमरत्व नहीं है। क्योंकि आत्माके स्वाभाविक अमरत्वमें सोमपानकी कोई आवश्यकता नहीं होती। 'सोम' शब्दसे सोमलता अथवा औषधीश चन्द्र अथवा विशुद्ध मन—चाहे जो भी ग्रहण किया जाय, मूलमें कोई भेद नहीं होता; सोमरस सर्वत्र एक ही वस्तु है। जो लोग हठयोगका आश्रय लेकर साधन-पथपर चलते हैं, वे खेचरी मुद्राको स्वाधीन करनेके समय इस षोडशी कलारूपी चन्द्रविन्दुके अमृतस्रावके साथ थोड़ा-बहुत परिचित होते हैं। तालुमूलके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, साधारण अवस्थामें चित्तकी एकाग्रताके अभावमें यह सोमधारा नित्य विगलित होकर कालरूप अग्निकुण्डमें नाभिस्थलमें नियमितरूपसे गिरती रहती है। एक लक्ष्य उन्मीलित हुए बिना, अर्थात् ज्ञानचक्षुके खुले बिना यह अमृतपान नहीं किया जा सकता। इसी कारण निरन्तर अमृत-क्षरणके प्रभावसे चन्द्रकलामय शरीरमें सर्वदा रसका शोषण होता है, कालरूपी अग्नि सर्वदा ही रसका शोषण करके देहमें जरा आदि विकारोंकी तथा मृत्युकी उद्भावना करती रहती है। हठयोगीगण बन्ध आदि प्रक्रियाके साथ वायु-निरोधके द्वारा तथा राजयोगी साक्षात् भावसे चित्त-निरोधके द्वारा पूर्ववर्णित विन्दुक्षरणको रोकनेमें समर्थ होते हैं। मन्त्रयोगी मन्त्रके उद्बोधनके बाद जप-क्रिया अथवा अजपा क्रियाके द्वारा इसी एक उद्देश्यको पूर्ण करनेकी चेष्टा करते हैं। तान्त्रिक उपासकलोग जब भूतशुद्ध करके उपासनाके लिये विशुद्ध भूतमय अभिनव देहकी सृष्टि करते हैं तब उनको भी यही एक उद्देश्य प्रेरणा प्रदान करता है। चन्द्र-बीज (ठं) के बिना देह-रचना नहीं होती, यह एक अत्यन्त परिचित सत्य है। जो लोग रस-साधनामें निष्णात हैं, वे भी इसी एक लक्ष्यके द्वारा प्रेरणा पाते हैं। रस अथवा पारद स्वरूपतः शिववीर्य है। परंतु यह बहुत-से मलोंके द्वारा आच्छन्न होनेके कारण अपना कार्य सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता। विभिन्न संस्कारोंके द्वारा इन मलोंको दूर करनेपर विशुद्ध शिव-विन्दु प्राप्त हो जाता है। इस विन्दुसे उत्पन्न देह ही वैन्दव देह है। वह नित्य निर्मल और जरादि विकारोंसे वर्जित होता है। वज्रयान और सहजयानके साधक लोग तथा वैष्णव सहजियालोग प्रकारान्तरसे इसी एक तत्त्वको अङ्गीकार करते हैं। वे जीवविन्दुको शुद्ध और अटल शिवविन्दुमें परिणत करनेके पक्षपाती हैं। मलिन विन्दु जब-तक कठोर ब्रह्मचर्य-साधनाके फलस्वरूप विशुद्ध और स्थिर नहीं हो जाता तबतक उसके साथ प्रकृतिका योग नीतिविरुद्ध है। इस विन्दुके द्वारा रागमार्गकी साधना नहीं चलती। चण्डीदासकी रागात्मिका कविताका रहस्य जो समझते हैं, वे इसे हृदयङ्गम कर सकते हैं। कहना न होगा कि विन्दु ही वज्रयानियोंका बोधी चित्त है। इसको निर्मल और स्थिर किये बिना, बुद्धत्व-प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। शुद्ध विन्दु प्रकृतिके सङ्गसे लीलायित होकर जिस ऊर्ध्वगतिका विकास करता है वही आदिरस अथवा शृङ्गार-रसकी साधना है। यही नित्यलीलामें प्रवेश करनेका द्वार है। विन्दुके सिद्ध हुए बिना स्खलन तथा काल-ग्रासमें पड़ना अवश्यम्भावी है।

असिद्धके लिये पूर्णत्वके पथपर चलनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती । सिद्धदेह लाभ करना और कामजय करना एक ही बात है ।

साधारण जीवदेह चाहे जितना ही पवित्र क्यों न हो, वह अपवित्र और अशुचि ही है । इसका एकमात्र कारण यही है कि काम ही जीवदेह-सृष्टिका मूल है । कामकी अतीत अवस्थामें गये बिना शुद्ध देह लाभ करना दुष्कर है । बहुत लोग समझते हैं कि कामको ध्वंस करना ही अध्यात्मपथका मुख्य उपदेश या उद्देश्य है । परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है । कामका नाश करके पूर्णत्वके मार्गमें कौन चल सकता है ? कामका नाश न करके उसे विशुद्ध प्रेममें परिणत करना होगा तब यह प्रेम ही एक समय रसमें परिणत होकर पूर्णत्वके द्वारका उद्घाटन करेगा । जो लोग महायान-सम्प्रदायके बौद्धोंके साधन-रहस्यसे अवगत हैं वे इस प्रसङ्गमें 'आश्रय-परावृत्ति'की बात याद करेंगे । पूर्णताकी अभिव्यक्तिके लिये देह और देहस्थित प्रत्येक शक्तिकी आवश्यकता है । इनमें जो मलिनता और जडता दीख पड़ती है, उनको दूर करनेपर इन्हींसे परमपथका सङ्केत और साहाय्य प्राप्त हो सकता है । इसी कारण श्रीरूप गोस्वामीपादने कहा है कि भगवान्‌को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है । सकाम साधकके लिये भगवत्प्राप्तिकी आशा सुदूर समझनी चाहिये, क्योंकि वह भोगार्थी होता है । जहाँ भोगकी आकाङ्क्षा है वहाँ भगवान् नहीं रहते । इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा है कि निष्काम मुमुक्षुके लिये भी भगवत्प्राप्ति अति कठिन है । क्योंकि जिसे कोई आकाङ्क्षा ही नहीं है, जिसने शुद्ध वासनाका भी त्याग कर दिया है, जिसे भगवान्‌के विरहकी अनुभूति नहीं है, उसके लिये एकमात्र निर्वाणके सिवा अन्यत्र गति नहीं है । भगवत्प्राप्ति उसके लिये नहीं है । जो सकाम होकर भी निष्काम है, साथ ही निष्काम होकर भी सकाम है अर्थात् जो कामको प्रेममें परिणत करनेमें समर्थ है, केवल उसीके भाग्यमें भगवद्दर्शन बदा है ।

'बिना प्रेमके ना मिले कबहूँ श्रीनँदलाल !'

परमहंस और पढ़े-लिखे बाबू

(लेखक—म० श्रीशम्भूदयालजी मोतिलावाला)

गङ्गा-स्नानका पर्व है । मेला खूब भरा है । स्त्री-पुरुष बहुत श्रद्धा और उमङ्गसे स्नान कर रहे हैं । किनारेपर बड़ी भीड़ है । सब अपनी रुचिके अनुरूप कार्योंमें लगे हैं । कोई बैठा प्राणायाम कर रहा है । कोई खड़ा होकर सूर्यनारायणको अर्घ्य दे रहा है । किसी-से पंडे संकल्प छुड़वा रहे हैं और कोई ठाकुर-पूजा कर रहा है । धूप, दीप, चन्दन आदिकी पवित्र गन्धसे सारा तट सुगन्धित हो रहा है । किनारेसे कुछ दूर, जन-कोलाहल-से हटकर एक सत्तरवर्षीय वृद्ध केवल लँगोटी लगाये सहज आसनसे बैठे हुए हैं और प्रार्थना कर रहे हैं—'प्रभो ! जबतक तुम दया करके जीवोंको मिल नहीं जाते, तबतक बेचारे वे कितना कष्ट पाते रहते हैं । धन्य हो तुम, जो जीवोंकी प्रत्येक चेष्टासे प्रसन्न होते हो, उनपर तरस खाते हो और अपनी सहज दयासे उनके समीप होते जाते हो । परंतु नाथ ! जो बुद्धिमान् हैं—जिन्हें अपनी बुद्धिका अभिमान है, उनके लिये तुम सदा अप्राप्य हो, वे अपने बुद्धिबलसे कभी भी तुम्हें प्राप्त नहीं कर पाते ।'

इधर निकट ही केवल ५०-६० हाथकी दूरीपर कुछ नयी रोशनीवाले बुद्धि-अभिमानी बाबू खड़े हैं । उनमें कुछ कोट-पतलून पहने हैं, कुछ कमीज-पतलूनमें हैं, कुछ खद्दरधारी हैं, किसीके हाथमें हाकीका डंडा है, किसीके हाथमें कैमेरा है, कोई सिगरेट मुँहमें लिये हैं और कोई साइकिलके सहारे झुककर उसे थामे हुए हैं । ये लोग न तो बुरी दृष्टिसे स्त्रियोंकी ओर ताक रहे हैं और न ये बेचारे ठग या चोर ही हैं । ये तो केवल नयी रोशनीमें पले हुए होनेके कारण ईश्वर, पूजा-पाठ आदिकी हँसी उड़ा रहे हैं—'देखो ! हमारे देशवासी

कितने मूर्ख हैं ! व्यर्थ ही ईश्वर-ईश्वर करके वहममें जीवन बिता रहे हैं। दूसरे देशोंने नये-नये आविष्कार करके कितनी उन्नति कर ली है। उन लोगोंको एक मिनटका भी अवकाश नहीं है, और ये लोग नाक पकड़े, आँख मूँदे व्यर्थ समय नष्ट करनेमें ही गौरव समझते हैं।' ऐसा वार्तालाप चल रहा था कि उनमेंसे एक, जिनका नाम शंकर है और जो एम्०एस्-सी० होनेके कारण अपनेको विशेष बुद्धिमान् समझते हैं—उस सत्तरवर्षीय वृद्ध महात्माकी ओर संकेत करते हुए बोले—'भैयाओ! चलो, उस बूढ़ेसे कुछ विनोद करें।' वे लोग तो विनोदकी सामग्री चाहते ही थे। सबने एक स्वरसे समर्थन किया और आ पहुँचे उन परमहंसजीके पास।

शंकरने अपने भावको छिपाते हुए कहा—'परमहंसजी! प्रणाम।' परमहंसजीने अपने सहज स्वभावसे उत्तर दिया—'भैया! आशीर्वाद।' परमहंसजीकी स्वाभाविक सरलताने शंकरके रहे-सहे संकोचको बहा दिया। उसने परमहंसजीसे प्रश्न करने प्रारम्भ कर दिये—

शंकर—क्या आप मुझे समझा सकते हैं कि ईश्वरके नामपर हमारा देश क्यों समय नष्ट कर रहा है? दूसरे देश बड़ी तेजीसे सुख-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाले आविष्कार करते जा रहे हैं और ये लोग आँख बंद किये हुए हैं।

परमहंस—भैया! अपने प्रयत्नोंसे यदि उन देशोंको सुख-शान्ति मिल गयी हो तब तो उनका प्रयत्न निस्सन्देह ठीक है। या तेजीसे काम करके उन्होंने अपनी कामनाका अन्त कर दिया हो तो भी उनकी भाग-दौड़ ठीक समझी जा सकती है; अन्यथा उनका यह तेजीसे आगे बढ़ना मुझे तो व्यर्थ पिछड़ना ही दीखता है।

शंकर—ठीक है; परंतु मेरे खयालसे इन ईश्वरको भजनेवालोंको तो न माया मिलती है और न राम ही।

परमहंस—ऐसा मत तुम्हारा ही है भैया! ईश्वरको भजनेवाले तो अनेकों कह गये हैं कि हमारी सब कामनाओंका अन्त हो गया है और हम बन्धनसे मुक्त तथा आनन्दमें हैं।

शंकर—मैं तो इस बातको कभी नहीं मानता।

परमहंस—भैया! तुम अपनी मान्यताके लिये स्वतन्त्र हो, क्योंकि मानना ही जो है। पर तुम जिन बातोंको सच मानते हो, उनको झूठ माननेवाले भी हो सकते हैं।

शंकर—मैं जिन बातोंको सत्य मानता हूँ, उनको मूर्ख ही नहीं मानते। चार दिन हुए मैंने एक गँवारको बहुत समझाया कि गीली धोतीका पानी हवा और सूर्य उड़ा देते हैं; किंतु उसने यही हठ रक्खा कि धोती चूस लेती है। वह मेरी बात मानता तो क्या, उल्टे लड़नेको तैयार हो गया।

परमहंस—भैया! वह जैसे तत्त्वोंके स्वरूपको नहीं समझ पाया है, वैसे ही तुमने जीवकी प्रकृतिको नहीं समझा है। इसीलिये तुम हिंदू-संस्कृतिको नहीं मानते हो। अन्य देश इन्द्रिय-बलसे इतने बड़े संसारको (कितना बड़ा कि जितना-जितना इससे दूर भागो, उतना-ही-उतना यह बढ़ता जाय) काबूमें करना चाहते हैं जब कि हमारी संस्कृति साढ़े तीन हाथके इस शरीरके कल-पुर्जोंको समझना और उन्हें यथोचित व्यवस्थामें रखना सिखाती है। यह संसार इसी शरीरकी छाया है।

शंकर—कुछ दिन हुए मैं आबू पहाड़की ओर गाँवोंमें गया था। वहाँके लोग लिखने-पढ़नेका तो नामतक नहीं जानते। जब मैंने तख्तीपर लिखकर उनके द्वारा स्टेशनमास्टरसे कुछ चीजें मँगवायीं तो वे उस तख्तीको जादूकी समझने लगे। उन मूर्खोंके यहाँ न तो ठिकानेके घर हैं और न सुखका कोई सामान ही है।

परमहंस—तुम वहाँ क्यों गये थे?

शंकर—वहाँ शहद, घी, जंगली फल खूब मिलते हैं। इन चीजोंको लेने गया था।

परमहंस—क्यों जी, उन्होंने पढ़ना-लिखना क्यों नहीं सीखा ?

शंकर—वे स्त्री-पुरुष सभी एक अधोवस्त्र पहने रहते हैं, जिसे वे स्वयं ही बुन लेते हैं। वे गाय, भैंस, कुत्ते, बकरी, भेड़ और मक्खी पालते हैं। उनके यहाँ सामक ही नित्यका भोजन है। वे इतने स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट हैं कि बीमार तो बूढ़े होनेपर मृत्युके समय ही चाहे होते हों। वे मूर्ख पदार्थोंको क्या समझें ? वे न तो कभी शहरोंकी ओर आते हैं और न पढ़ना-लिखना चाहते हैं।

परमहंस—वे यदि पदार्थोंके भूखे हों तब तो अवश्य तरस खानेकी बात है। पर तुम उनकी सेवा करने थोड़े ही गये थे; तुम तो उनसे सहायता लेने गये थे। तुमने यह लिखना-पढ़ना इसीलिये सीखा है कि स्वयं दूर-दूर देशोंमें भागते फिरते हो। उनको इस बनावटकी क्या आवश्यकता ? उनकी सारी आवश्यकताएँ या तो उनकी सीमामें हैं, या वे जो कुछ अपनी सीमामें उत्पन्न होता है, उसीमें सन्तोष कर लेते हैं।

शंकर—अजी, वे तो केवल बैल-जैसे जानवर हैं।

परमहंस—परंतु बैल मनुष्यको ही मूर्ख जानवर समझता है। वह जानता है कि ईश्वरने मुझे खुर, सींग, रोम, पूँछ आदि दिये हैं, इसलिये मुझे जूते, हथियार, कपड़ोंकी आवश्यकता ही नहीं है। मनुष्य मेरा नौकर है। उसे मुझसे गोबर, खादके लिये मूत्र, खानेके लिये अन्न आदि मिलते हैं। अतएव वह मेरी सेवा करता है। मैं दयाके कारण उसके कामोंमें कंधा लगा देता हूँ। मूर्ख मनुष्य मुझ साधुको स्वार्थके कारण पीटता भी है। पर मुझ साधुको उसीकी तरह क्रोध करके अपना हृदय दुखानेकी क्या आवश्यकता है ? मनुष्य लोभका भी गुलाम है; जोड़-जोड़कर दुःख पाता रहता है। मुझे तो पेट भरनेभरको चाहिये, फिर चाहे कोई भी मेरी नाँदमें खा जाय। मुझे ईश्वरने सब जानवरोंका देवता बनाया है। भैया ! जैसे तुम अपनी योनिमें मस्त हो, वैसे ही सब अपनी-अपनी योनिमें मस्त हैं। सब एक ही पिताके पुत्र हैं। यदि हाथी बड़े अङ्गसे बड़ा बनता है तो चींटी भी अपनी बारीकीमें हाथीको अँगूठा बताती है। मनुष्य अपने ही समुदायमें मियाँ मिट्ठू बन रहा है। यह उसकी भ्रमभरी तुच्छता है, जिसे वह गौरवकी वस्तु मान रहा है।

शंकर—बाबा ! बात तो निःसन्देह ठीक है। हमें क्या पता कि दूसरे हमको क्या समझते हैं। बताइये, फिर संसारमें बड़ा कौन है और हम कैसे बड़े बनें ?

परमहंस—बड़ा बनना छोड़ दो; बड़ा बननेकी इच्छा अहङ्कारसे उत्पन्न होती है और अहङ्कार ही नाशका मूल है। साधारण बननेकी कोशिश करो।

शंकर—वह कैसे ? क्या संसारमें कोई भी बड़ा नहीं है ?

परमहंस—यथोचित रूपसे सबको समान बाँटकर खाओ। स्वाद और बड़ाईको मत बढ़ाओ। जिन लोगोंकी समानताको हड़पकर तुम बड़े बन रहे हो, उनके साथ वह परम पिता है जो सबसे बड़ा और सबका प्यारा है। उनको वह सन्तोषरूपी अमृत पिला रहा है और तुम असन्तोषकी अग्निमें जल रहे हो। अन्यायियोंको वह उनकी कामनासे ही मारता है। गरीब बनोगे, तब वह गोदमें लेगा और तभी शान्ति मिलेगी।

शंकर—परम पिताकी गोद प्राप्त करनेके लिये गरीब बनें ? ईश्वर है यह तो मैं भी मानता हूँ; मैं ब्राह्मण ही हूँ।

परमहंस—निर्दोष, गरीब और निरहङ्कारी बनो। उनके चरणोंको पकड़ो जिनको तुम गरीब-गँवार समझते हो। जितने ही अधिक तुम झुकोगे, उतनी ही अधिक परम पिताकी कृपा और प्रसन्नताको अपनी ओर करोगे। यह सबसे बड़ा विज्ञान है। वह परम पिता

धनियोंके पास, बुद्धिके भवनोंमें नहीं रहता है; वह तो अपने गरीब, असहाय, निर्बल, अहिंसक, नंगे, भूखे पुत्रोंको आत्मशक्ति देता रहता है; नहीं तो वे कम आहार और कम वस्त्रमें सेवा करनेकी शक्ति कहाँसे लायें? तुम अनेक पदार्थों और सुख-वृद्धिके अनेक साधनोंमें पनपते हुए भी बिना सवारी चल नहीं सकते; गद्दे-तकियोंमें सिर दिये उन्हींपर निर्भर बने रहते हो। मैंने जो विज्ञान बताया है, इसको भी समझो; यों उड़ते मत फिरो।

शंकर—निःसन्देह हमारा विज्ञान तो हमें पर-मुखापेक्षी और परस्पर सन्देहशील तथा ईर्ष्यापरायण बना रहा है। हम सदा एक दूसरेसे भयके मारे चौंकते रहते हैं। इस भयकी रक्षाके अतिरिक्त, अब हमारे विज्ञानके पास दूसरा कोई काम ही नहीं रह गया है।

परमहंस—तुमको तुम्हारे ही ढंगसे समझाता हूँ। एक ही चेतनसमुद्रसे अनेक संकल्प——लहरें उठीं और उन्होंने अनेकों तरहके संसारी घरौंदे रच डाले। जिस संकल्पने जितने अधिक घरौंदे बनानेका काम लिया, वह उतना ही अधिक परतन्त्र है। जितनी कामना कम है, उतना ही वह स्वतन्त्र है, सुखी है और उसमें उतना ही अधिक आत्मबल है।

शंकर—हमारे मनमें जो कामनाएँ उत्पन्न होती हैं——क्या इन्हींका नाम संकल्प है?

परमहंस—हाँ, कामनाएँ, जो तुमलोगोंको आविष्कारोंकी ओर दौड़ा रही हैं, अपनेको नहीं देखने देती हैं।

शंकर—तो अपने लिये और दूसरोंके लिये मुक्तिकी चेष्टा करना ही प्रधान काम है, बाकी तो सब जंजाल है। अच्छा गुरुजी! विस्तारसे बताइये अब क्या करें।

परमहंस—यह तन अनन्तकालसे चली आती हुई कामनाओंका ढेलामात्र है। इसमें फँसे हुए अपनेको इससे बाहर निकालना है; इस तनको मन, वचन और कर्ममें पवित्र बनाओ; युक्त आहार-विहार करो। जो सेवाएँ नियत की हुई हैं, उनका पालन करो। बड़प्पन या अहंकारको नष्ट करनेके लिये झुको। नयी बड़ाई और स्वादकी कामनाको उत्पन्न न होने दो। ऐसा अभ्यास करनेसे पिछली वासनाएँ पक जायँगी और मुक्त होनेके संकल्पसे चित्त विदेह हो जायगा। हमारी संस्कृति यही सिखाती है।

शंकर—गङ्गा-किनारेके ये स्त्री-पुरुष क्या यही कर रहे हैं?

परमहंस—और क्या, यही तो कर रहे हैं। देखो, अनेक भावोंकी देहको ईश्वरके लिये झुका रहे हैं। जो वस्तु अपनी आवश्यकतासे अधिक है उसे दानमें दे रहे हैं। अनेक तरहकी क्रियाएँ करके देहको मथ रहे हैं। सब प्रयत्नोंका उद्देश्य एक यही है कि वे दीनदयालु दया करके आ जायँ। जैसे पत्तोंको कूटनेसे नस टूट-टूटकर उनमेंसे रस निकल आता है, वैसे ही अहंकारकी नस टूटकर झूठमेंसे सत् निकल आता है।

शंकर—महाराज! आप धन्य हैं। अब मैं समझा हूँ। विदेशी सङ्गने मुझे पागल कर दिया था।

शंकरका एक साथी—क्यों जी, इस गंदले ठंढे जलमें एक डुबकी लगानेसे ही क्या मैल उतर जाता है?

परमहंस—अरे भाई, ये लोग यहाँ साबुनसे देहकी चमड़ीको रगड़नेके लिये नहीं आये हैं। ये तो भावरूपी उस बिजलीको साफ करने आये हैं, जिसके पवित्र होनेसे इस देह-मलकी तो बात ही क्या है, देह और संसार ही नहीं रहते हैं।

शंकरका दूसरा साथी—यदि ठीक-ठीक कर्म करते जायँ तो क्या फिर भी ईश्वरकी खुशामदकी जरूरत है?

परमहंस—जिससे जो पैदा होता है, उससे प्रेम किये बिना न तो वह ठीक कर्म कर सकता है और न जीवित ही रह सकता है। जैसे गुबरीला बिना गोबरकी शरण लिये और बच्चा बिना माताकी गोदके रह नहीं सकता, वैसी ही दशा जीवकी भगवान्‌के

बिना है । हम जिससे पैदा हुए हैं, उससे प्रेम करना हमारे लिये ही कल्याणकारी है; उस सर्वसम्पन्नको खुशामदकी तनिक भी लालसा नहीं है । दुराचारी और कृतघ्नोंके कर्म भी ठीक वैसे ही होंगे जैसे आज-कलके विज्ञानका अणुबम बनाना है ।

शंकर—गृहस्थीके प्रत्येक कामके आरम्भमें जो ईश्वर-पूजन किया जाता है, उसका क्या अर्थ है ?

परमहंस—आस्तिक ही कार्यके आरम्भमें ईश्वरका स्मरण करता है । जैसे थर्मामीटरके चढ़े हुए पारेको नीचे उतारकर ज्वर देखा जाता है और तब वह सही टेम्परेचर बताता है, ऐसे ही अनेक भावोंमें बिखरे हुए चित्तको ईश्वर-आराधनसे हृदयमें उतारकर काम आरम्भ करनेसे वह ठीक होता है । अर्थात् ध्यानमें ईश्वरकी शरण लेनेसे क्षणभरमें बुद्धिकी ठसक दूर हो जाती है, और अहङ्कार गिर जाता है, एवं चित्तमें निष्कामता आनेसे वह स्फूर्त हो जाता है । ईश्वरका ध्यान करते हुए किया हुआ काम सफल होता है । संसारी संकल्पोंमें बिखरे चित्तको बिना ईश्वरकी ओर लगाये ठीक कामोंमें लगाना ऐसा ही है, जैसे बिना धोये कपड़ेपर रंग चढ़ाना या Sun-strock-negative पर फोटो लेना ।

शंकर—आपके कहनेका अर्थ यही कि पवित्र भाव बनाना चाहिये; परंतु पवित्र भावको स्थिर कर लेना क्या मनुष्यके अधिकारकी बात है ?

परमहंस—भावका स्थिर होना, निश्चयके स्थिर होनेसे ही होता है । निश्चय दो तरहसे स्थिर होता है—एक तो माता-पिता और गुरु आदिके वचनोंमें प्रेम-विश्वास होनेसे और दूसरे अपने मन-इन्द्रियोंके अनुभवसे ।

शंकरका साथी—क्या भाव एकदम पवित्र नहीं हो सकते ?

परमहंस—प्रत्येक इन्द्रियकी कामनाकी जड़ें मिथ्या संसारमें घुसी हुई हैं । भाव पवित्र तभी होंगे, जब ये जड़ें एक-एक करके लालसा छोड़ देंगी ।

शंकरका साथी—महाराजजी ! आपने तो नम्रता और झुकना अच्छा बताया है; परंतु हमने यह सुन रक्खा है कि यह तो गुलाम बननेकी निशानी है ।

परमहंस—तुम्हारा कहना ठीक है; पर जो झुकना बुरा बताया जाता है, उसमें और मेरे बताये हुए इस झुकनेमें अन्तर है । भय, स्वार्थ या दिखावटी रूपसे जहाँ झुका जाता है, वह निःसन्देह बुरा है, पर जहाँ हृदयके सच्चे भावसे अहङ्कारको नष्ट करनेके लिये झुका जाता है, वह तो बहुत ऊँचा है । हमारी संस्कृति-ने कालनेमि-जैसे भंड साधुओं और रावण-जैसे अत्याचारी राजाओंके सामने झुकनेकी कभी अनुमति नहीं दी है, पर सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय करनेवाली शक्ति भी सुदामा-जैसे निर्धनके पैर चूमती है तथा गुरु दुर्वासाके रथमें घोड़ोंके स्थानपर स्वयं जुतकर चाबुक खाना पसंद करती है । खर-दूषणकी चौदह हजार सेनाको अकेले भूननेवाले रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रने ब्राह्मणत्वके कारण चमकते हुए फरसेके आगे सिर झुका दिया था ।

शंकर—धन्य है बाबा ! आपने बड़ी कृपा की जो हमारे भ्रमकी केंचुलीको उतार फेंका । मैं यह चाहता हूँ कि आप हमें भी कुछ अपनी सेवा बतायें । आपके पास कोई सामान नहीं दीख रहा है ।

परमहंस—भैया ! बस तुमसे यही सेवा चाहिये कि तुम अपनेको समझो और समझाओ । अच्छा आशीर्वाद ।

इतना कहते-कहते परमहंसजी उठे और गङ्गाके किनारे बनकी ओर चल दिये । शंकर और उनके साथी भी घरको लौट पड़े । आज शंकर और उसके सब साथियोंकी आँखें खुलीं । आज उनकी समझमें आया कि विजेताओंने हमारी सांस्कृतिक परम्पराओंको कितना विकृत रूप दिया है तथा शिक्षा आदिके रूपमें उन्होंने हममें कितना विष फैलाया है ।

शान्तिलोक

(लेखक—कविवर सुब्रह्मण्य भारती)

सन्ध्याका समय था। मद्रास–ट्रिप्लिकेनके समुद्रतटपर एक घरके तीसरे तल्लेपर अपनी थकावट दूर करनेके लिये मैं चारपाईपर लेटा था। सायङ्कालीन सुषमा और शीतल हवा अत्यन्त मनोमोहक थी। मैंने सोचा कि एक बढ़िया घोड़ा-गाड़ीपर सवार होकर समुद्रके किनारे-किनारे दक्षिणकी ओर जाऊँ और महाकवि कालिदासका अभिज्ञान-शाकुन्तल या कोई उपनिषद् पढ़ता जाऊँ तो बहुत अच्छा हो पर न घोड़ा था और न गाड़ी थी।............मेरे मनने कहा कि ईश्वरने सबको ज्ञान नामका एक दैवी रथ दिया है। सङ्कल्पकी सहायतासे ज्ञान-रथ आ गया, मैं रथपर चढ़ गया। मैंने उसे दुःखरहित भूमिपर चलनेका आदेश दिया।............आह! मैं भी कैसा था कि ऐसे रथको पाकर भी चिन्ता और मनके बोझको हल्का करनेका उपाय न जान सका। कितने दिनोंतक मेरा मन मरते कीड़ेकी तरह तड़प रहा था। कुछ न कर सकनेसे मैं कितना दुखी हो रहा था। संसारकी चिन्ताओंके विचारमात्रसे ही हृदय सहम उठता है। चिन्ताएँ ही मनुष्यमात्रकी सुन्दरता और यौवन-श्री नष्ट कर देती हैं, आँखोंको निस्तेज और शरीरको निःसत्त्व कर देती हैं। विषैले कीड़ेकी तरह शरीरको भीतर-ही-भीतर खोखला कर निष्प्राण कर देती हैं। बुद्धि विकृत और भ्रष्ट हो जाती है।

मैंने ज्ञान-रथको आदेश दिया कि तुम मुझे उस लोकमें ले चलो जिसमें चिन्ताका नाम भी न हो। मन रथको रोककर खड़ा हो गया; उसने कहा कि वह लोक उतना सुखकर नहीं है जितना तुम समझते हो। जहाँ चिन्ता ही नहीं है वहाँ सुख भी नहीं है। मुझे उस लोकमें जाना पसंद नहीं है।

मैंने मनसे क्रोधपूर्वक कहा कि 'तुम्हें सदा चिन्ता घेरे रहती है इसलिये मैंने सोचा कि तुम्हें ऐसे लोकमें ले जाऊँ जिसमें कुछ देरके लिये शान्ति मिल सके।' बार-बार समझाते रहनेपर भी मनने ज्ञान-रथको एक पग भी आगे बढ़ने न दिया।

मैं मनको बहुत प्यार करता हूँ। मेरे और उसके बीचका प्रेम इतना अधिक बढ़ गया है कि द्वैतभाव मिट-सा गया है। मनका दुःख मुझसे देखा नहीं गया, इसलिये मैंने शान्ति-लोकके दर्शनकी इच्छा की पर मन अपने सङ्कल्पपर अडिग रहा।

मैंने मनसे कहा कि 'जो कुछ भी मैं कर रहा हूँ उससे तुम्हारा भला होगा।' दूसरे ही क्षण हमलोग शान्तिलोकमें पहुँच गये। किलेकी ऊँची दीवारके पास जाकर रथ खड़ा हो गया। मैं दूरसे ही उस किलेको देख सकता था। मैंने सोचा था कि ज्ञान-रथके पहुँचते ही दरवाजे अपने-आप खुल जायँगे। पर ऐसा न हो सका। मैंने सोचा कि क्या यह इतना पवित्र लोक है कि मेरा ज्ञान-रथ इसके भीतर नहीं जा सकता। मेरा मन पहलेसे कहीं अधिक भयभीत हो उठा, वह मुझसे बात भी नहीं कर सकता था। प्रधान दरवाजेपर एक पहरेदार हाथमें नंगी तलवार लेकर खड़ा था, आगकी ज्वालाके समान और हिमालय-को भी एक ही क्षणमें टुकड़े-टुकड़े कर डालने-वाली-सी तलवारपर ज्योतिर्मय अक्षरोंमें 'विवेक' अङ्कित था। मैंने पहरेदारसे कहा कि 'शान्तिलोकको देखकर लौट जानेका विचार है।' वह ठहाका मारकर हँसने लगा। मनकी स्थिति तो अत्यन्त दयनीय थी, वह अशान्त और विकल था।

पहरेदारने कहा कि 'शान्तिलोकको देखकर तुमने लौट जानेका जो विचार प्रकट किया है, उससे मुझे हँसी आ गयी, यहाँ आकर कोई लौट नहीं पाता

है। तुम आना चाहते हो तो आ सकते हो, किसी भी जीवको आनेसे रोकनेका मुझे अधिकार नहीं है पर वैराग्यगढ़को पारकर भीतर जानेका अधिकार तुम्हारे मन नामक झूठे साथीको नहीं है, भीतर प्रवेश करनेपर उसकी दशा वही होगी जो अग्निलोकमें जानेपर रूईके पुतलेकी होती है।'

अब मेरी समझमें यह बात आ गयी कि मन भीतर क्यों नहीं जाना चाहता था। मैंने भीतर जानेका निश्चय बदल दिया। पहरेदारने कहा कि 'मनके मरनेके बाद ही शान्तिलोक मिल सकता है। जबतक वह जीवित है, जीव शान्त और स्थिर तथा निश्चिन्त नहीं रह सकता। चिन्ता-राक्षसीकी जननी मन है।'

अचानक वह किला आँखोंसे ओझल हो गया। पहरेदारका कहीं पता ही नहीं था। चारों ओर अँधेरा-सा छा गया। मैंने अपने-आपको ट्रिप्लिकेनके उसी मकानके ऊपरी भागमें खाटपर पाया। सन्ध्या-कालीन शीतल समीर समुद्रकी लहरोंका आलिङ्गन कर तट-देशपर विचरण कर रहा था।

[तामिल काव्य 'ज्ञानरथ' से सङ्कलित]

भक्त-गाथा

(गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी)

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममें वि० संवत् १५५९ माघ शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासमिश्रजी और माताका श्रीतारादेवी था। व्यासमिश्रजी नौ भाई थे, जिनमें सबसे बड़े श्रीकेशवदासजी तो संन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके संन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोंके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे। इसलिये आप सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय थे और इसीसे आपका लालन-पालन भी बड़े लाड़चावसे हुआ था। आप बड़े ही सुन्दर थे और शिशुकालमें ही 'राधा' नामके बड़े प्रेमी थे। 'राधा' सुनते ही आप बड़े जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगे थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामें ही आपने पलनेपर पौढ़े हुए 'श्रीराधासुधानिधि' स्तवका गान किया था, जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

वस्तुतः 'राधासुधानिधि' भक्तिपूर्ण शृङ्गाररसका एक अतुलनीय ग्रन्थ है। बड़ी ही मनोहर भावपूर्ण कविता है। इसमें आचार्यने अपनी परमाराध्या वृषभानुकुमारी श्रीराधाजीके विशुद्ध प्रेमका बड़ी ही ललित भाषामें चित्रण किया है। इसमें आरम्भसे अन्ततक केवल विशुद्ध प्रेमकी ही झाँकी है।

इनके बालपनकी कुछ बातें बड़ी ही विलक्षण हैं, जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन आप अपने कुछ साथी बालसखाओंके साथ बगीचेमें खेल रहे थे। वहाँ आपने दो गौर-श्याम बालकोंको श्रीराधा-मोहनके रूपमें सुसज्जित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोंके शृङ्गार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन और श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमें परिणत कर दिया। और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृङ्गार करके मुग्ध होकर युगल-छविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने श्रीविग्रहोंमें श्रीराधाके रूपमें श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपमें राधाजीको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण

स्मृति नष्ट हो जानेसे शृङ्गार धरानेमें भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होंने शृङ्गारको सुधारा । परंतु तुरंत ही अपने-आप वह शृङ्गार भी बदलने लगा । तब घबराकर व्यासजी बाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा, हरिवंश अपने सखाओंके साथ खेल-खेलमें वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होंने सोचा, इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है ।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भोग रक्खा, इतनेमें ही देखते हैं कि लड्डुओंके साथ फलदलोंसे भरे बहुत-से दोने थालमें रक्खे हैं। इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस दिनकी बात याद आ गयी। पूजनके बाद इन्होंने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवंशजीने बगीचेमें दो वृक्षोंको नीले-पीले पुष्पोंकी मालाओंसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रक्खा है । इस घटनाका भी व्यासजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा ।

एक बार श्रीहरिवंशजी खेल-ही-खेलमें बगीचेके पुराने सूखे कुएँमें सहसा कूद पड़े। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादेवी और कुटुम्बके लोगोंको तो अपार दुःख हुआ ही, सारे नगरनिवासी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँमें कूदनेको तैयार हो गये । लोगोंने जबरदस्ती उन्हें पकड़कर रक्खा ।

कुछ ही क्षणोंके पश्चात् लोगोंने देखा, कुएँमें एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवंशजी श्रीश्यामसुन्दरके मञ्जुल श्रीविग्रहको अपने नन्हे-नन्हे कोमल कर-कमलोंसे सम्हाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे । श्रीहरिवंशजी जिन भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अङ्गसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमें लाया गया और बड़े समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी । श्रीहरिवंशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया—श्रीनवरङ्गीलालजी। अब श्रीहरिवंशजी निरन्तर अपने श्रीनवरङ्गीलालजीकी पूजा-सेवामें निमग्न रहने लगे । इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे विमुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हें दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हें शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इसका वर्णन करते हुए गो० श्रीजतनलालजी लिखते हैं—

करत भजन इक दिवस लाड़िली-छबि मन अटक्यो ।
रूपसिंधुके माँझ पर्‍यो कहुँ जात न भटक्यो ॥
बिबस होइ तब गये भये तनु प्यारी हरिकैं ।
झुके अवनिपर सिथिल होइ अति सुखमें भरिकैं ॥
कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होइ दरसन दियौ ।
अपने हितकौं जानिकैं हित सौं मन्त्र सु कहि दियौ ॥

आठ वर्षकी अवस्थामें उपनयनसंस्कार हुआ । सोलह वर्षकी अवस्थामें श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये बिदा हो गये। श्रीनवरङ्गीलालजीकी सेवा भी अपने पुत्रोंको सौंप दी, जो इस समयतक आपके तृतीय पुत्र श्रीगोपीनाथ प्रभुके वंशजोंके द्वारा देववनमें हो रही है।

देववनसे आप चिड़यावल आये । यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे । आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ और

उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको श्रीहरिवंशजी वृन्दावन ले आये । वृन्दावनमें मदन-टेर नामक स्थानमें श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया । इसके पश्चात् इन्होंने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एवं गुप्त सेवाकुञ्ज, रासमण्डल, वंशीवट एवं मानसरोवर नामक चार पुण्य स्थलोंको प्रकट किया । तदनन्तर आप सेवाकुञ्जके समीप ही कुटियोंमें रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ ।

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेमका सम्बन्ध था । और ओरछेके राजपुरोहित और गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्रीहिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी । 'श्रीवृन्दावन-महिमामृतम्' के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्यके भक्त प्रसिद्ध स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बड़ी निष्ठा और प्रीति थी ।

श्रीभगवान्की सेवामें किस प्रकार अपनेको लगाये रखना चाहिये, और कैसे अपने हाथों सारी सेवा करनी चाहिये, इसकी शिक्षा श्रीहितहरिवंश प्रभुजीके जीवनकी एक घटनासे बहुत सुन्दर मिलती है । श्रीहितहरिवंशजी एक दिन मानसरोवरपर अपने कोमल करकमलोंसे सूखी लकड़ियाँ तोड़ रहे थे । इसी समय आपके प्रिय शिष्य दीवान श्रीनाहरमलजी दर्शनार्थ वहाँ आ पहुँचे । नाहरमलजीने प्रभुको लकड़ियाँ तोड़ते देख दुखी होकर कहा—'प्रभो ! आप स्वयं लकड़ी तोड़नेका इतना बड़ा कष्ट क्यों उठा रहे हैं, यह काम तो किसी कहारसे भी कराया जा सकता है ।………… यदि ऐसा ही है तो फिर हम सेवकोंका तो जीवन ही व्यर्थ है ।'

नाहरमलके आन्तरिक प्रेमसे तो प्रभुका मन प्रसन्न था; परंतु सेवाकी महत्ता बतलानेके लिये उन्होंने कठोर स्वरमें कहा—'नाहरमल ! तुम-जैसे राजसी पुरुषोंको धनका बड़ा मद रहता है, तभी तो तुम श्रीठाकुरजीकी सेवा कहारोंके द्वारा करवानेकी कहते हो । तुम्हारी इस भेद-बुद्धिसे मुझे बड़ा कष्ट हुआ है ।' कहते हैं कि श्रीहितहरिवंशप्रभुजीने उनको अपने पास आनेतकसे रोक दिया । आखिर जब नाहरमलजीने दुखी होकर अनशन किया—पूरे तीन दिन बीत गये, तब वे कृपा करके नाहरमलजीके पास गये और प्रेमपूर्ण शब्दोंमें बोले—'भैया ! प्रभुसेवाका स्वरूप बड़ा विलक्षण है । प्रभुसेवामें हेयोपादेय बुद्धि करनेसे जीवका अकल्याण हो जाता है । प्रभु-सेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है । ऐसा विरोधी भाव मनमें नहीं लाना चाहिये । मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम अन्न-जल ग्रहण करो ।' ऐसा कहकर उन्होंने स्वयं अपने हाथोंसे प्रसाद दिया और भरपेट भोजन कराया ।

श्रीहितहरिवंशजीकी रसभजनपद्धतिके सम्बन्धमें श्रीनाभाजी महाराजने कहा है—

श्रीराधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी ।
कुंज-केलि दम्पती, तहाँकी करत खवासी ॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी ।
विधि-निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट व्रतधारी ॥
श्रीव्यास-सुवन पथ अनुसरै सोइ भलैं पहिचानिहैं ।
हरिबंस गुसाँई भजनकी रीति सकृत कोउ जानिहैं ॥

स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेद-रहित नित्य विहार-रस ही श्रीहितहरिवंशजीका इष्ट तत्त्व है । इन्होंने 'श्रीराधासुधानिधि' नामक अनुपम ग्रन्थका निर्माण तो किया ही । इनकी व्रजभाषामें भी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जो 'हितचौरासी' और 'स्फुट वाणी'के नामसे प्रसिद्ध हैं । यहाँ इनके दो-चार पद उद्धृत किये जाते हैं—जिनके अध्ययनसे इनके उत्कृष्ट भावोंका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है ।

(१)

जोई जोई प्यारौ करैं सोई मोहिं भावै,
भावै मोहिं जोई जोई सोई करैं प्यारे ।

मोकौं तो भाँवती ठौर प्यारेके नैननिमें,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननिके तारे ॥
मेरे तन मन प्रानहूँ ते प्रीतम प्रिय,
प्रीतम अपने कोटिक प्रान मोसौं हारे ।
(जैश्री) हित हरिबंस हंस हंसिनी साँवल गौर,
कहौ कौन करै जल-तरंगनि न्यारे ॥

(२)

बनी श्रीराधामोहनकी जोरी ।
इन्द्रनील मनि स्याम मनोहर शातकुंभ तनु गोरी ॥
भाल बिसाल तिलक हरि कामिनि चिकुर चंद्र बिच रोरी ।
गजनायक प्रभु चाल गयंदिनि गति वृषभानु किसोरी ॥
नील निचोल जुवति मोहन पटपीत असन सिर खोरी ।
(जैश्री) हितहरिबंस रसिक राधापति सुरत रंगमें बोरी ॥

(३)

मानुषको तनु पाइ भजौ ब्रजनाथकौं ।
दर्वी लैकैं मूढ़ जरावत हाथ कौं ॥
(जैश्री) हितहरिबंस प्रपंच विषय रस मोहके ।
बिनु कंचन क्यों चलहिं पचीसा लोहके ॥

(४)

मोहनलालके रँग राची ।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ बात दसौं दिसि माँची ॥
कंत अनंत करौ जो कोऊ बात कहौं सुनि साँची ।
यह जिय जाहु भलैं सिर ऊपर हौं अब प्रगट ह्वै नाँची ॥
जागत सयन रहत उर ऊपर मनि कंचन ज्यौं पाँची ।
(जैश्री) हितहरिबंस डरौं का के डर हौं नाहिन मति काँची ॥

(५)

सबसौं हित निषकाम मत बृंदाबन बिश्राम ।
(श्री) राधावल्लभलालको हृदय ध्यान, मुख नाम ॥
तनहि राखु सतसंगमें मनहि प्रेम रस भेव ।
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण कलपतरु सेव ॥

श्रीहितहरिवंश प्रभुजीका वैराग्य बड़ा विलक्षण था । अर्थ-कामकी तो बात ही दूर, यहाँ तो धर्म और मोक्षमें भी राग नहीं था । इनकी निष्ठाके कुछ नमूने देखिये—

कदा नु वृन्दावनकुञ्जवीथी-
ष्वहं नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम् ।

'श्रीराधे ! क्या मैं कभी वृन्दावनकी कुञ्जवीथियोंमें अतिथि होऊँगी ।'

'कदा रसाम्बुधिसमुन्नतं वन्दनचन्द्रमीक्षे तव !'

'मैं कब तुम्हारे समुन्नत रससमुद्ररूप मुखचन्द्रको देखूँगी ।'

कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरिचरान्नाश्चर्यचर्यां चरन् ।

'श्रीराधे ! मैं कब तुम्हारी श्रुतिशेखर—उपनिषदुपरि परिचर्या—आश्चर्यमयी परिचर्याका आचरण करूँगी !'

इस परिचर्याके सामने आपके मतसे—

'वृथा श्रुतिकथा बत बिभेमि कैवल्यतः'

'श्रुति-कथा व्यर्थ है और कैवल्य तो भयप्रद है ।' वे कहते हैं—

'धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथा वातया ।'

'ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसीके लिये आदरणीय होंगे । मेरे लिये इनकी व्यर्थ चर्चासे क्या लाभ है ?'

मैं तो बस—

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथ वा ।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम् ॥

'मैं अपने जन्मकर्मानुसार नरक अथवा परमपद कहीं भी जाऊँ, सर्वत्र मेरे हृदयमें श्रीराधिकारतिनिकुञ्जमण्डली ही सर्वदा विराजित रहे ।'

अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामको पावन करनेके पश्चात् सं० १६०७ वि० की शारदीय पूर्णिमाके दिन आपने निकुञ्जलीलामें प्रवेश किया ।*

'बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय ।'

* नर्मदा प्रिंटिंग वर्क्स, जबलपुरसे प्रकाशित 'राधा-सुधानिधि' (सानुवाद) में बाबा हितदासजीलिखित गो० श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीके जीवनचरित्रके आधारपर ।

सूखा बगीचा

(गोलोकप्राप्त महात्मा श्रीरसिकमोहन विद्याभूषणका एक पुराना लेख)

आज इस शून्य काननको देखकर मैं उदास बैठा हूँ । श्रीभगवान्‌की अर्चनाके लिये जिस हृदय-काननमें तरह-तरहके सुगन्धित सुन्दर फूल खिलते, पुष्प-चयन करते-करते डाली भर जाती परंतु पुष्प नहीं पूरे होते । हाय ! आज वहाँ एक भी फूल नहीं है, तुलसीजी पत्तोंसे रहित हो गयी हैं, हरी पत्तीका कहीं चिह्न भी नहीं रहा । बड़ी साधका सारा बगीचा सूख गया ! मेरे प्राणोंके देवता ! आज तुम्हारे चरणों-पर चढ़ानेके लिये मेरे पास कुछ भी नहीं है; क्या चढ़ाकर तुम्हारी पूजा करूँ ?

वसन्तकी बहार बीत गयी । आज घोरतर निदाघ है—मर्मदाही मार्तण्डका प्रचण्ड प्रताप है—सर्वग्रासी भीषण सन्ताप है । रसका अन्तिम विन्दुतक उड़ गया । रसराज ! ऐसी मरुभूमिमें बैठकर मैं तुम्हें कैसे पुकारूँ, किन प्राणोंको लेकर तुम्हारी पूजाका आयोजन करूँ ?

क्यों ऐसा हो गया ? मैं समझता हूँ । अपराध हुआ है, निश्चय—प्रतिक्षण ही अपराध हो रहा है—यह भी ध्रुव है । बद्धजीवकी दुश्चिन्तासे ही हृदयमें यह आग जल उठती है, हृदय जलकर राख हो जाता है, मरुभूमिमें परिणत हो जाता है—यह निश्चय है । तुम रसमय हो, अखिल रसामृतमूर्ति हो, चित्तको तुममें लगाये रखनेपर यह आग नहीं जलती, ऐसी दुर्दशा नहीं होती, यह भी समझता हूँ ।

परंतु कार्यतः चित्त तुमसे दूर-दूर ही रहता है—दूर रहना वह चाहता नहीं, तथापि रहता है—रहते-रहते सूख जाता है, जलकर दग्ध हो जाता है । तब फिर तुम्हींको चाहता है—परंतु हाय ! फिर तुम कहाँ—घोर निदाघमें मेरे नवजलधर कहाँ, मेरे नव-नीरदरुचि कहाँ, मेरे श्यामसुन्दर कहाँ, मेरे वे नन्दकुलचन्द्र कहाँ, मेरे सुरेन्द्र नीलद्युति कहाँ, मेरे तापित प्राणोंकी वह सुधा-लहरी कहाँ ? आज इस भीषण दुर्दिनमें तुम कहीं देखनेको भी नहीं मिलते !

देखनेका उपाय भी तो मैं नहीं ढूँढ़ पाता । मेरे हृदय-वृन्दावन-विहारी ! आज तुम अप्रकट—छिपे हो । तुम आनन्दलीला-रसविग्रह जो ठहरे, इस मरुभूमिमें तुम्हारे मिलनेकी आशा कैसे की जाय ? श्यामला यमुनाकी उस सुधातरङ्गको आज मैं स्वप्नमें भी अपने मनमें ला सकता—वह रसमय वृन्दावन आज मेरे स्वप्नसे भी अतीत है । निदारुण संसारकी ज्वालाने दावानलकी भाँति मेरी साधके बगीचेको जलाकर राख कर दिया है । यह दुश्चिन्ता क्यों है, कुछ समझमें नहीं आता—जिस चिन्ताका कहीं कूल—किनारा नहीं है—जो चिन्ता केवल दुःखकी ही निदान है—जिस चिन्ताका फल केवल नरकज्वाला है—चित्त-वृत्ति क्यों उसकी ओर, अनल-शिखामें जाकर पड़ने-वाले पतङ्गेकी भाँति अनवरत दौड़ी जा रही है, जान-सुनकर भी क्यों उसमें जाकर जलती है, इसका कारण मैं नहीं ढूँढ़ पाता ।

संसार-विषकी तीव्र ज्वालाको जान-सुनकर भी मैं बड़े आदरके साथ उसी कालसर्पको हृदयमें स्थान देता हूँ । इसका परिणाम अनिवार्य है । इसपर फिर तुम्हारा अभिमान है । जब मर्म-मर्ममें आग समा जाती है, तब पुकारनेपर भी नहीं आते, खोजनेपर भी तुम्हारा पता नहीं लगता । तुम्हारे जो प्रियजन हैं, जो समय-समयपर तुम्हारे विरहसे व्यथित होते हैं, वे जब भी तुम्हें पुकारते हैं, तुम उसी समय उन्हें दर्शन देते हो—न दर्शन दो तो तुम्हें उनके मानके फंदेमें फँसना पड़े । उन्हें मनानेके लिये खुशामद करनी पड़े । पर वह अलग बात है । क्योंकि उनके प्राण और उनके मन तो तुम्हारेमें आ मिले हैं । परंतु यह अधम तो सर्वथा बहिर्मुख है । समय-समय-पर यह मनमें आती है कि तुम यदि कृपा कर दो तो

फिर किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। परंतु यह बात सामयिक है। तुम्हारी मधुमयी शाश्वती स्मृति, मन्दाकिनीके प्रवाहकी भाँति सदा-सर्वदा हृदयमें प्रवाहित न रक्खी जायगी तो हृदयकी ऐसी दुर्दशा होगी ही। यह बात भलीभाँति समझमें आ रही है।

लोग बात-बातमें तुम्हारी कृपाकी भिक्षा चाहा करते हैं—परंतु मुझमें वैसा साहस नहीं है; इस नित्यके अपराधीमें यह साहस कहाँसे आये—ऐसा भरोसा क्योंकर हो? परंतु तुम्हारी कृपा कोई नियम नहीं मानती—विधान नहीं मानती। वह अयाचित भावसे—अप्रार्थितरूपसे ही अपनी सुधातरङ्गोंसे समय-समयपर इस मरुभूमिको भी सींच जाती है। सामने अनन्त समुद्र है। तटका भूभाग मरुमय है। बालुका-राशिके महान् श्मशानमें तटकी बालुका तो समुद्रतरङ्गसे सींची जाती है, परंतु जो दूर है, उसे तो सदा जलना ही पड़ता है।

आज यह हृदय-मरु वासनाके काँटे-कंकड़ोंसे भरा है। यहाँ न तुम्हें पुकारनेकी साध है, न साहस ही होता है। रसमय रासेश्वर निकुञ्जविहारी! जीवनके इस घोर निदाघमें चारों ओर ही प्रलयका कालानल धधक उठा है। इसे भी मैं सार्थक समझ लूँगा, यदि इसके फलस्वरूप अन्यान्य सारी वासनाएँ जलकर राख हो जायँगी। हृदय जलकर राख हुआ जा रहा है, हो जाय। इसके बाद तुम अपने कृपारससे उस भस्मस्तूपको सींचकर उसमें श्रीवृन्दावनकी भक्ति-लतिकाका बीज अङ्कुरित कर देना—यही मेरा अन्तिम निवेदन है।

अभी सुखी हो जाइये

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

स्मरण रखिये—सुख वायुके समान ही सबके लिये, सदा-सर्वदा और सहज ही प्राप्त होनेवाली वस्तु है। इसके लिये किसीको कुछ व्यय नहीं करना पड़ता। इसका हम चाहे जितना उपभोग करें, पर उसका मूल्य कुछ भी नहीं।

हम वायुका भलीभाँति मूल्याङ्कन नहीं करते, क्योंकि वह अत्यन्त प्रचुर एवं सर्वत्र सुलभ है। हमारा यह भ्रम है कि जो वस्तु अल्पमात्रामें होती है, वह मूल्यवान् है—जैसे सोना, हीरा आदि। यदि हमें स्वर्ण एवं वायुमेंसे एकको अपने लिये चुनना पड़े तो हम निःसन्देह अतुल स्वर्ण-राशिकी अपेक्षा प्रचुर मात्रामें वायुको ही लेना चाहेंगे। प्रचुरता, अप्रत्यक्ष एवं निःशुल्कता—इन गुणोंमें सुख वायुके सदृश ही है। सुखका हम बिना कुछ व्यय किये शक्तिभर उपभोग कर सकते हैं।

अधिकांश लोगोंकी यह मान्यता है कि मनुष्यका सुख उसकी भौतिक सम्पत्तिपर आश्रित है तथा वह सुख स्वर्णके द्वारा खरीदा जा सकता है। इस मान्यताके कारण बहुतसे लोग अपने सुखको उस कालतकके लिये स्थगित कर देते हैं जब कि उन्हें अपनी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी। कदाचित् कोई व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह पूर्ण सुखी तभी होगा जब उसके पास एक नवीन मोटरगाड़ी हो जायगी। किंतु जब उसके पास मोटरगाड़ी हो जाती है तब उसे पता चलता है कि उसे वह सुख नहीं मिला, जिसकी वह आशा लगाये बैठा था।

जब हम यह सोचते हैं कि सुख भौतिक वस्तुओं या बाह्य परिस्थितिपर आश्रित है, तब हम उसकी प्राप्तिको भविष्यपर छोड़ देते हैं और इस प्रकार सुखसे सदा वञ्चित ही रहते हैं, वह कभी हमारे हाथ नहीं लगता।

सुख भगवान्‌की अनन्त देनोंमेंसे है, जो निरन्तर इसकी प्रतीक्षामें है कि हम उसे ग्रहणकर उसका उपभोग करें। जब सुख सर्वव्यापक है, तब हमें उसको अङ्गीकार करके अपने अधिकारमें कर लेना चाहिये। सुख अपने स्वरूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है, चाहे बाह्य परिस्थिति उसकी द्योतक न भी हो।

यदि यह मानें कि मोटरगाड़ीमें मनुष्यको सुखी बनानेकी शक्ति है तो मोटरगाड़ी रखनेवाले सभी सुखी होने चाहिये। परंतु यह सभी जानते हैं कि बहुतसे मोटर-मालिक सुखी नहीं हैं। जब हम ईश्वरीय देनोंके वास्तविक स्वरूपको समझ जाते हैं कि वे अपरिवर्तनशील हैं तथा सभी जीवोंके लिये

हैं तो हम किसी भौतिक वस्तुके अभावको ईश्वरीय दैनके उपभोगमें बाधा उपस्थित नहीं करने देंगे।

सभी अच्छी भौतिक वस्तुओंका उद्गमस्थान आत्मा है। सभी ईश्वरीय दैनें प्रधानरूपसे आत्मिक हैं। भगवान्‌की ओरसे प्राप्त दैनोंमेंसे अधिकांश अप्रत्यक्ष हैं—इसपर विचार करनेसे उक्त सत्यका अनुभव करनेमें सहायता मिलती है। हम वायु, शब्द एवं गैसको नहीं देख पाते, पर फिर भी हम वायुके द्वारा श्वास लेते हैं, रेडियो सुनते हैं तथा गैससे भोजन पकाते हैं। वायु, शब्द और गैस—तीनों सत्य हैं। जीवन, प्रेम, ज्ञान और सुख भी सत्य एवं आवश्यक हैं। ये तथा ऐसी ही दूसरी चीजें भगवान्‌की ओरसे हमारे लिये दैन हैं।

संतोंने कहा है—आत्मा वायुके सदृश है। 'वायु अपने इच्छानुसार विचरण करती है, हम उसकी ध्वनिको सुनते हैं, पर हम यह नहीं जानते कि वह कहाँसे आती है और कहाँ चली जाती है, यही बात आत्मासे उत्पन्न वस्तुओंकी है।'

मनुष्यकी पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ईश्वरीय वस्तुओंको नहीं समझा जा सकता, अतः आत्मिक सत्योंका स्पष्टीकरण इन्द्रियधारी मनुष्यसे करना कठिन है। फिर भी आत्मिक पदार्थ ही वह तत्त्व है जिसके कारण भौतिक वस्तुएँ सम्भव होती हैं। मनुष्य-शरीरमें चैतन्य पदार्थ आत्मा है; शरीर इसके बिना क्रियाशील नहीं हो सकता। यही बात ईश्वर-प्रदत्त प्रेम, सुख, विवेक तथा अन्य आत्मिक दैनोंकी है। हमें सुखको उत्पन्न करनेके मानवी प्रयत्नोंकी अपेक्षा भगवान्‌के सुखमय स्वरूपपर अधिक विश्वास रखना चाहिये।

कोई भी हमारे सुखको हमसे छीन नहीं सकता जब कि हम सत्यतापूर्वक स्वरूपसे उसे अपनाये हुए हैं। ऐसा सोचनेके स्थानपर कि हमें मोटरगाड़ीसे सुख प्राप्त हो सकता है, हमें ऐसा विश्वास करना चाहिये कि अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर मोटरगाड़ीको पानेकी सम्भावना अधिक हो जायगी। समस्त आत्मिक शक्तियाँ ईश्वरप्रदत्त हैं, और मनुष्यके विश्वास एवं प्रयत्नसे वे बाहरी जगत्‌में अपना फल अभिव्यक्त करती हैं। प्रेम और प्रसन्नता आत्मिक चुम्बक हैं, जो श्रेष्ठ वस्तुओंको हमारी सन्निधिमें आकर्षित करते हैं।

जब हम अपना ध्यान जीवनकी अभावात्मक एवं विषाद-जनक वस्तुओंपर केन्द्रित करते हैं, तब हम प्रसन्नताको दूर भगा देते हैं; किंतु यदि हम अपना ध्यान जीवनके आनन्दांशपर लगायें तो हम अपनी प्रसन्नताको उन्मुक्तकर उसे जीवनके अन्धकारपूर्ण स्थानोंमें भर देते हैं। जब ईश्वरके आनन्दमय स्वरूपका प्रकाश जीवनके अन्धकारपूर्ण स्थानोंको पूरित कर देगा तो हम यह अनुभव करनेमें समर्थ होंगे कि वस्तुतः कोई अन्धकारपूर्ण स्थान है ही नहीं।

हमें अपने सुखकी प्राप्तिको किसी भावी अवधिपर नहीं छोड़ना चाहिये, और इस प्रकार ईश्वरीय साम्राज्यमें प्रविष्ट होनेसे अपनेको वञ्चित नहीं रखना चाहिये।

बाह्य परिस्थितियाँ हमारी आत्मिक दैनोंको हमसे छीन नहीं सकतीं। केवल उस समय जब कि हम उन्हें भगवान्‌की अपेक्षा अधिक प्यार करने लगते हैं, वे हमारे और ईश्वरीय दैनोंके बीचमें आ उपस्थित हो सकती हैं।

यदि हम जीवनके व्यापारोंको दैवी-क्रमसे रक्खें तो आत्मिक वस्तुएँ सबसे आगे स्थान पायेंगी। ऐसा विचार करनेकी अपेक्षा कि हमें सुखका तत्परतापूर्वक पीछा करना चाहिये, हमें उसके स्वरूपको जीवनमें उसी रूपमें अपना लेना चाहिये जैसे हम नित्य-कर्मोंको अपनाये हुए हैं।

जब हम किसी नवीन वस्तुसे प्राप्त होनेवाली प्रसन्नताकी कल्पना करते हैं, तब प्रायः हमें उसमें वस्तुकी प्राप्तिसे उत्पन्न आनन्दकी अपेक्षा अधिक रस मिलता है। यह इस बातका द्योतक प्रतीत होता है कि वस्तुद्वारा प्रदत्त प्रसन्नताकी अपेक्षा कल्पनाकालमें हमारे मस्तिष्कमें आनन्द अधिक था। जब हमने इच्छित वस्तुको प्राप्त किया और उससे हमारी प्रसन्नतामें कोई वृद्धि नहीं हुई, तब हमपर निराशा छा जाती है; किंतु जब एक बार हमें वास्तविक प्रसन्नता प्राप्त हो गयी, तब फिर हम कभी उससे वञ्चित नहीं होंगे, वह हमारी स्थायी सम्पत्ति हो जायगी।

जब हम अपनी आन्तरिक शान्ति एवं प्रसन्नताके लिये भौतिक वस्तुओंपर अत्यधिक निर्भर रहना छोड़ देते हैं, तब हम उनके स्वामी बन जाते हैं। हमें किसी बाह्य वस्तुको हमारे सुखमें व्याघात नहीं पहुँचाने देना चाहिये और न उसे हमपर रोब ही जमाने देना चाहिये, क्योंकि सुखके मूल तो भगवान् हैं।

सदा स्मरण रखिये कि ईश्वरने हमें सुख एवं प्रसन्नता दे रक्खी है और ये हमारी चेतनामें वैसे-वैसे ही विस्तार पायेंगी जैसे-जैसे हम इनको अपनायेंगे तथा इन्हें अपनेमें रहने देंगे।

सुखके लिये भविष्यकी अपेक्षा न कीजिये। इसी समय उसे अपनाइये और अभी भगवान्‌के आनन्द-स्वरूपमें प्रविष्ट हो जाइये। फिर देखिये, समस्त सृष्टि भगवान्‌की स्तुति करनेमें आपका साथ देगी।

सत्सङ्ग-माला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरीभाई व्यास)

(१) सत्य और प्रिय वाणी बोलनी चाहियें, असत्य और प्रिय नहीं। इसी प्रकार सत्य और अप्रिय भी नहीं बोलना चाहिये। जीव अनेक जन्मोंके संस्कारके कारण अप्रिय और असत्य बोलता है। वे संस्कार प्रयत्नसे हट सकते हैं। अतः सत्य और प्रिय बोलनेका अभ्यास करना चाहिये। चिन्ता रखकर अभ्यास करना और सत्य एवं प्रिय बोलनेमें कोई हानि हो जाय तो उसे सह लेना चाहिये। सत्य और प्रिय बोलनेकी स्थिति न हो तो मौन रहना चाहिये और उस मौन रहनेमें यदि हानि हो तो उसे सह लेना चाहिये। परंतु सत्य और प्रिय बोलनेके नियमका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। जो इस (सत्य और प्रिय बोलनेके) नियमका दृढ़तासे पालन करेगा, उसे सुख, शान्ति, सम्पत्ति प्राप्त होगी, यश मिलेगा और निष्काम भावसे पालन करनेपर मुक्ति मिलेगी। जबतक जीवन रहे तबतक इस नियमका पालन करना चाहिये। इस नियममें बहुत ही बल है। असत्य बोलनेवाले प्रिय बोलते हैं, इसलिये व्यवहारमें प्रिय बोलनेवाले प्रायः कपटी होते हैं, वे स्वार्थसाधनके लिये कपटसे प्रिय वाणी बोलते हैं, अतः व्यवहारमें प्रिय बोलनेवालोंका विश्वास नहीं करना चाहिये। सत्य बोलनेवाले कटु वाणी बोलते हैं, और वह कटु वाणी सत्यके तपको खा जाती है। अतएव साधकको सत्य और प्रिय बोलनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं।

(२) दूसरेकी चीज लेनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। इस नियमके पालनसे चोरी नहीं होगी; घूस नहीं ली जा सकेगी, किसीका न्याय्य स्वत्व नहीं छीना जायगा, मुफ्त कुछ भी नहीं लिया जायगा, दुराचार नहीं होगा, परस्त्रीके प्रति विकारसे नहीं देखा जायगा और अपना हक ही लिया जायगा। जिस वस्तुका मूल्य न दिया गया हो उसे लेनेकी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। इस नियमका पालन करनेवाला सबका प्रिय होता है, उसमें सब विश्वास रखते हैं, उससे सबको शान्ति मिलती है, और सभी उसका प्रिय चाहते हैं।

(३) किसीका कभी अपमान न करना। प्राणिमात्रको मान प्रिय है, अपमानसे उसको चोट लगती है, उसकी आत्मा दुखी होती है। अपमान करनेवालेका पुण्य नष्ट होता है। अपमान करनेवालेपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते, वरं नाराज होते हैं। अपमान करनेवालेमें अभिमान होता है, अभिमान अपने स्वामीका अल्पकालमें ही नाश कर देता है। प्रभुताके बलपर दीन, रंक या कष्टमें पड़े हुए मनुष्यका जो अपमान करता है, वह पुण्यके बलसे ही करता है। पुण्य समाप्त होते ही वह महान् दुःखमें आ पड़ता है। किसीका कभी अपमान न करना, यह महान् व्रत है। बालक, वृद्ध, आश्रित, दीन, दुखी, रोगी किसीका कभी अपमान न करे। अपनेमें जो भगवान् विराज रहे हैं, वही सबके हृदयमें विराज रहे हैं, अतएव किसीका भी अपमान न करके मान करना चाहिये। सम्पूर्ण दानोंमें मान सबसे बड़ा दान है। यह जिसको दिया जाता है, उसकी आत्मा प्रसन्न होती है। अतएव सबको यथायोग्य मान देना चाहिये।

(४) काठमें अग्नि व्याप्त है। अग्नि काठमें न हो तो, वह प्रकट ही नहीं हो परंतु प्रकट होती है इससे यह सिद्ध है कि काठमें अग्नि है। इतनेपर भी, काठको चीरनेसे जब उसमें अग्नि नहीं दिखायी देती, तब यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अग्नि नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक हैं, वह निरी आँखोंसे नहीं दीखते। विचारसे समझमें आते हैं और श्रद्धा तथा भक्तिसे प्रकट होते हैं। जिसमें विश्वास हो उसी मूर्तिमें या अपने हृदयमें श्रद्धापूर्वक भगवान्को देखकर उनकी भक्ति करनेसे भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं। अतएव दृढ़ निश्चय करके भगवान्की खूब भक्ति करनी और शरीर छूटनेसे पहले ही भगवान्को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यही जीवका कर्तव्य है।

(५) धर्मके चार अङ्ग हैं—सत्य, तप, दया और दान। तप इन्द्रियोंके निग्रहका नाम है। इन चारोंमेंसे एकको भी सिद्ध कर लेनेवाला परम सुखी हो जाता है, फिर जिसमें ये चारों बसते हैं उसकी महत्ताकी तो बात ही क्या। जिसमें ये चार नहीं हैं, वह धर्म नहीं है। ये चार जहाँ हैं वहाँ लक्ष्मीजी निवास करती हैं। कीर्ति तो इन चारोंके पीछे लगी रहती है। इन चारोंका सेवन करनेवालेमें सदा तेज रहता है। जो दुखी है उसे निश्चय जानना चाहिये कि इन चारोंमेंसे उसमें किसीकी न्यूनता है। सुखकी इच्छावालोंको इन चारोंका सदा सेवन करना चाहिये।

(६) सत्य और प्रिय वाणी, ब्रह्मचर्य, मौन और रसत्याग—इन चारका सेवन करनेवालेमें सदा सिद्धियाँ बसती हैं ।

(७) जिसका मन कभी विकल नहीं होता और सदा प्रसन्न रहता है, वह सदा मुक्त ही है ।

(८) मैं चेतनस्वरूप आत्मा हूँ, नित्य हूँ, परमात्म-स्वरूप हूँ । यह सारा जगत् अचेतन और असत् होनेके कारण मेरा कुछ भी नहीं कर सकता । ऐसा दृढ़ ज्ञान हुए बिना सदा रहनेवाली शान्ति नहीं मिलती, मन प्रसन्न नहीं होता ।

(९) हर्ष और प्रसन्नतामें भेद है । इन्द्रियोंके अनुकूल भोगकी प्राप्तिसे हर्ष होता है । और हर्षके मोहका परिणाम शोक होता है । इसीलिये भोगसे मन और इन्द्रियाँ कभी प्रसन्न होते ही नहीं । मन जब आत्मामें लीन होता है, तभी मन-इन्द्रियाँ आनन्दका अनुभव करती हैं । आनन्द आत्मामें है । आत्मा आनन्दस्वरूप है । जगत्के किसी भी भोगमें आनन्द नहीं है ।

(१०) एकान्तमें बैठ । अकेला घूम । अकेला सो । अकेला रह और वह भी प्रकृतिके समीप—नदी, पर्वत या जंगलके पास । अकेला भगवन्नामका ख़ूब जप कर । अकेला विचार कर, अकेला शास्त्रका चिन्तन कर । सात्त्विक आहार कर । बहुत न खा । थोड़ा भूखा रहा कर ।

(११) जैसा अन्न वैसी बुद्धि । जैसा सङ्ग वैसी बुद्धि । अतएव सज्जनका सङ्ग कर । आत्माका कल्याण करनेवाली पुस्तक पढ़ और मेहनत करके अपने हकका अन्न खा । पराया अन्न, जहाँतक बने, नहीं खाना चाहिये । यदि कभी खाना ही पड़े तो भाववान्, गुणवान्, भगवान्के भक्त और उद्यमीका अन्न खा ।

(१२) सम्पत्ति, सन्तति और कल्याणकी इच्छावाले गृहस्थाश्रमीको गायत्रीका जप करना चाहिये । शंकरकी पूजा करनी और प्रतिदिन अग्निमें आहुति देनी चाहिये । सन्ध्या-समय और प्रातःकाल गूगल आदिका धूप करना, साँझ-सबेरे घीका दीपक जलाना, भोजनसे पहले कौएको बलि देना, पक्षियोंको दाने डालना, उनके जल पीनेका साधन करना और गाय तथा कुत्तेको खानेको देना चाहिये । हो सके तो भूखेको अन्न देना, साधुको भोजन कराना चाहिये । किसी भिक्षुकका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिये । न हो सके तो चाहे न दे; परंतु अपमान कभी न करे । सदाचारका पालन करना चाहिये ।

(१३) शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, मोह और क्रोध—इन छःसे जो मुक्त है, वह सदा मुक्त है ।

(१४) जिसके घरमें स्त्री, बालक, वृद्ध, रोगी, अतिथि और आश्रित आनन्दमें रहते हैं, उस घरमें सदा लक्ष्मी निवास करती है । और जिस घरमें ये छः दुखी रहते हैं, उसके घरसे लक्ष्मी थोड़े ही समयमें अदृश्य हो जाती है ।

(१५) पैदाइश, पड़ोस, पवन, पानी, प्रकाश, पगताश, पवित्रता और परमार्थ—ये आठ जहाँ सुलभ हों, वहाँ रहना चाहिये ।

(१६) हो सके तो किसीका अन्नसे, वस्त्रसे, धनसे, वचनसे, विचारसे और बुद्धिसे भला कर देना । पर बुरा तो कभी करना ही नहीं । किसीका भी अहित उसके अपने कुकर्मसे ही होता है तथापि मनुष्य उसके अहित करनेमें व्यर्थ ही भाग लेकर पाप करता है ।

(१७) हो सके तो पुण्य करना, पर पाप तो कभी करना ही नहीं ।

(१८) हो सके तो दूसरेको देना, पर लेना तो नहीं ही ।

(१९) दूसरेको सुखी देखकर प्रसन्न होना, दुखी देखकर सहायता करना, पर दुखी देखकर प्रसन्न तो होना ही नहीं ।

(२०) एक गुप्त बात कहता हूँ । तू जैसा करेगा, वैसा ही तेरे प्रति सारा जगत् करेगा । तू सच बोलेगा तो सारा जगत् तेरे साथ सच बोलेगा । तू यथाशक्ति दूसरेको सुखी करना चाहेगा तो सारा जगत् तुझे सुखी करना चाहेगा। तू दया रक्खेगा तो सारा जगत् तेरे प्रति दया रक्खेगा । इसमें दो शर्तें हैं—एक तो यह कि तू जिस गुणका आचरण करे, वह निष्काम भगवदर्पण होना चाहिये । दूसरी, बहुत बार आचरण करनेसे वह गुणरूप स्वभाव हो गया होना चाहिये । कोई भी पुण्यकार्य सकाम होनेपर सम्पत्ति और यश देता है तथा निष्काम होनेपर भगवान्की प्राप्ति कराता है ।

(२१) त्याग तप है । त्यागके बिना न तेज है, न सत्कार है, न शान्ति है, न प्रसन्नता है, न आनन्द है और न मुक्ति ही है । त्याग कर—घरका नहीं, स्त्री-पुत्रोंका या धनका नहीं । त्याग कर क्रोधका—कड़वी वाणीका, विषय-भोगका, मनकी विविध कामनाओंका, दूसरेको दुःख

देनेवाले स्वभावका, आलस्यका, अभिमानका, आसक्तिका, ममताका और अहंताका।

(२२) कोईका बन जा, स्वामी बना ले। स्वामी समर्थको बना। सबसे समर्थ हैं—भगवान्। भगवान्का बन जा। भगवान्से लग्न (विवाह) कर ले। हाथ पकड़ ले। वे पकड़ा हुआ हाथ नहीं छोड़ते। दयालु हैं और समर्थ हैं। देख, अगर तू छोड़ भी देगा, तो याद रख, भगवान्का बन जानेपर भगवान् कभी भूलते नहीं, छोड़ते नहीं। जगत्‌में जीवन रहते या मर जानेके बाद कोई उसे सताने और दुःख देनेमें समर्थ नहीं होता। सर्वभावसे भगवान्की शरण ले ले। 'मैं भगवान्का हूँ' यों कह, यों मान ले। फिर चिन्ता, भय और शोकसे छूटकर फिर। जिसको जितना ही चिन्ता, भय और शोक होता है, उतना ही वह भगवान्का नहीं होता, यह समझना चाहिये। जिसके सिरपर समर्थ चौदह लोकका नाथ स्वामी हो, जो अनन्यभावसे उसका बन चुका हो, उसे क्या चिन्ता, भय और शोक होता है ?

(२३) तेरेमें व्यसन है ? व्यसनमात्रका त्याग किये बिना नहीं तरा जाता। तेरेमें विषयभोगकी इच्छा है ? विषयभोगमें रस रहेगा, तबतक भगवान् नहीं मिलेंगे। तेरेमें बहुत तरहकी कामनाएँ हैं ? धीरे-धीरे कामनाओंका, व्यसनका, एक-एक चुन-चुनकर त्याग किये बिना भगवान् नहीं मिलेंगे। जहाँ कामना है, वहाँ भगवान् नहीं और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ कामना नहीं।

(२४) तू दुखी है ? तेरेमें दया कम होगी। दयाहीनको दुःख जहाँ-तहाँसे खोजता हुआ चला आता है। जिसमें दया है, जिसका हृदय दयासे कोमल है, उसके पास सुख चारों दिशाओंसे आते हैं।

(२५) तू दुखी है ? तू जरूर दूसरेकी निन्दा करता होगा। दूसरेका दुःख देख-सुनकर प्रसन्न होता होगा। सुखी होना हो तो दूसरेकी निन्दाका त्याग कर। जो उपस्थित नहीं है, उसके अवगुणोंका, दोषोंका कथन निन्दा कहलाता है, उसका त्याग कर दे तो सुखी हो जायगा। जो दूसरेका दुःख देखकर प्रसन्न होता है, उसके पास दुःख अवश्य आता है। दूसरेको दुखी देखकर सहायता कर, दया कर। यदि कुछ भी न बने तो उसका दुःख दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना कर।

(२६) जब-जब मनमें अशान्ति हो, तब-तब समझना चाहिये कि हम भगवान्को भूल गये हैं, और इसलिये उसी समय भगवान्का स्मरण करना चाहिये।

(२७) तू जानमें, अनजानमें यदि माता-पिताको दुःख देगा तो उनकी इच्छा न होनेपर भी उनके हृदयसे तेरे लिये जो शाप निकलेगा उससे या तो तू लक्ष्मीहीन हो जायगा या सन्ततिहीन। 'माता-पितासे मैं अधिक जानता हूँ, अधिक समझता हूँ।' ऐसा मानकर उनका अपमान न करना। उनके हृदयका एक आँसू तेरी सारी सम्पत्तिको जलाकर भस्म कर देनेमें समर्थ है। जिस विद्यासे धन पैदा होता हो, वह चाहे तूने अधिक पढ़ी हो, जिस बुद्धिसे सच्चेको झूठा, झूठेको सच्चा साबित किया जाता हो वह बुद्धि चाहे तेरेमें विशेष हो, परंतु माता-पितापर श्रेष्ठता प्राप्त करनेके लिये ऐसी बुद्धि और विद्या व्यर्थ है। विद्या वह है जिससे भगवान्के दर्शन हों; बुद्धि वह है जिससे भगवान्को पहचाना जाय, धर्माचरण बने। धर्म, सत्य और तप—यही जीवकी सम्पत्ति हैं। यहाँकी लक्ष्मी तो जीवके लिये भाररूप, चिन्ता, भय, क्लेश, श्रम, दुःख और मदको देनेवाली है और अन्तमें जन्म-मरणके चक्करमें डालनेवाली है।

(२८) जैसे मूर्ति (पत्थरकी) पत्थर नहीं है, पर पत्थरमें भगवान् हैं, इसी प्रकार हाड़-मांसके शरीरमें माता-पिता हाड़-मांस नहीं हैं पर हाड़-मांसके शरीरमें विराजित परमात्मा हैं। माता, पिता, गुरु, बड़े-बूढ़े, बालक और आश्रितका सत्कार करना चाहिये। माता-पिता और गुरुकी देवताकी भाँति आराधना करनी चाहिये। उन्हें मान देना, उनके कथनानुसार करना, उन्हें सन्तोष पहुँचाना चाहिये। देवताओंका शाप टालनेमें माता, पिता और गुरु समर्थ हैं; परंतु माता, पिता, गुरुका शाप टालनेके लिये त्रिभुवनमें कोई भी समर्थ नहीं है।

(२९) स्त्रीको यथायोग्य आवश्यकताओंकी पूर्ति करके सन्तुष्ट रक्खो, पर उसके वशमें न हो जाओ। स्त्रीमें बुद्धि कम है, हृदय प्रधान है। उसमें अच्छे-बुरेका, लाभ-हानिका स्वयं विचार कम है। वह विचार कम कर सकती है। वह भावनाके वशमें है। मोह, दया, ममता, लोभ आदिके अधीन झट हो जाती है। उसे नया-नया देखना, नया-नया सुनना, नया-नया पहनना, घूमना-फिरना, नयी-

नयी वस्तु प्राप्त करना विशेष पसंद है। उसको उसकी बुद्धिपर चलने दोगे या तुम उसकी बुद्धिपर चलोगे तो भयङ्कर दुःखमें पड़ जाओगे। अतएव उसपर सदा नियमन रक्खो। उसका हृदय ऐसा है जो सहज ही ठगा जा सकता है, इसलिये उसकी रक्षा करनी चाहिये। दुर्जन, प्रलोभन, वहम और मोहसे उसे बचाना चाहिये। उपदेशकी अपेक्षा भय उसके लिये विशेष लाभदायक है। निष्ठा पक्की हो जानेपर वह उससे नहीं फिरती। इसीसे पातिव्रत उसके लिये उत्तम धर्म है। पतिके आज्ञानुसार चलनेका व्रत रखनेवाली स्त्री कभी दुखी नहीं होती। स्त्रीको ज्ञान पसंद नहीं है, भक्ति पसंद है। तीर्थाटन पसंद है। देव-दर्शन पसंद है। व्रत-नियम पसंद है। इसलिये स्त्रीको व्रत-नियम करने देना चाहिये। बुरे सङ्गसे स्त्री बिगड़ती है, इसलिये उसका सङ्ग सदा अच्छा होना चाहिये। इसीलिये उसको सदा गृहकार्यमें, देव-दर्शनमें और भगवत्-सम्बन्धी तथा नीतिकी पुस्तकोंके पढ़नेमें लगाये रखना चाहिये। पतिको साथ लिये विना स्त्रीको कभी पर-पुरुषके साथ,—भले ही वह साधु या भक्त ही हो,—नहीं रहना चाहिये। पुरुषको चाहिये कि वह स्त्रीको पर-पुरुषके पास चाहे वह कोई क्यों न हो, कभी नहीं रक्खे। स्त्री चाहे जितनी होशियार हो परंतु भोली है। और पुरुष चाहे जितना धर्मात्मा माना जाता हो; पर वह स्त्रीके लिये दगाबाज, कामी और कपटी है। अतएव स्त्रीको पर-पुरुषका और पुरुषको पर-स्त्रीका सङ्ग कभी करना ही नहीं चाहिये। स्त्री-पुरुषके लिये एकान्तवास भयरूप है। अपनी स्त्रीको दूसरेके अधीन कभी नहीं रखना चाहिये।

(३०) जिसमें सदाचार नहीं, वह सत्कारका पात्र नहीं। किसीके विशेष धन हो, विशेष बल हो, विशेष बुद्धि हो, सिद्धियाँ हों, वह आकाशमें उड़ता हो, भूमिमें गड़ता हो, मुर्देको जीवित करता हो और चाहे इससे भी विशेष कोई चमत्कार दिखाता हो, पर जिसमें सदाचार न हो तो उसका संक्रामक रोगकी भाँति त्याग कर देना चाहिये। कोई भजन गाता हो, व्याख्यान देता हो, नाचता-कूदता हो और गवाता हो, पर यदि वह सदाचारी नहीं है तो उसका त्याग कर देना चाहिये। दुराचारी संक्रामक रोगीकी अपेक्षा भी अधिक भयङ्कर है। दुराचारके समान कोई दूसरा संक्रामक रोग नहीं है।

(३१) जो मनुष्य परस्त्रीके साथ बातें करनेमें रस लेता हो, निर्लज्ज हो, मीठी-मीठी बातें करनेवाला हो और रास्तेमें या चलते-चलते खाता हो, उसका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। ये सब प्रायः हृदयके कपटी और दुष्ट भाववाले होते हैं। मीठी-मीठी बातें करनेवाला चोर होता है—झूठा, कपटी और दुराचारी होता है। व्यवहारमें मीठा बोलनेवालेका कभी विश्वास न करे। खुशामद करनेवालेका विश्वास न करे। सच्चा मीठा बोलनेवाला और हितैषी दुर्लभ है।

(३२) इस कालमें कामके विना दूसरेके घर कभी नहीं जाना चाहिये और न दूसरेको अपने घर आने देना चाहिये। कोई आ जाय तो उसे पूछना चाहिये, कैसे आये? क्या काम है? किससे काम है? और यदि काम न हो तो उसे आदरके साथ घरसे विदा कर देना चाहिये। परिचित, प्रेमी और सगे-सम्बन्धी हों तो दूसरी बात है। पर उनको भी विना काम इस समय कहीं नहीं रहना चाहिये। पिताको लड़केके घर भी काम विना अधिक नहीं रहना चाहिये। अपने घरमें, अपने मुकाममें और अपने काम-धंधेके लिये सदा रहना चाहिये। सदा या तो उद्यम करना चाहिये, या भजन-सत्सङ्ग करना चाहिये। निकम्मा कभी नहीं बैठा रहना चाहिये।

(३३) किये विना मिलनेका नहीं। जैसा करता है, वैसा मिलता है। पहले किया है वैसा अब मिल रहा है और अब जैसा करेगा, वैसा आगे मिलेगा। करना अपने हाथ है, फल कब, कैसा और कितना देना, यह ईश्वरके हाथ है। पुण्यका फल सुख और पापका दुःख है, यह निश्चित है। बस, तो करना आरम्भ कर दे। किये जा। लगा रह। यह समय आया है या आ जायगा। जाग, उठ और लग जा। फिर ऐसा अवसर नहीं आयेगा। ईश्वरका भजन कर। तेरे पास कुछ हो तो दान कर। बुद्धि हो तो भूले हुएको मार्ग बता, दुखीकी सहायता कर, दुखीके प्रति दया रख। मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर भगवान्‌में लगा। कुटुम्ब-पालन तो पशु-पक्षीकी योनिवाले भी करते हैं, विषय-भोग तो तेरी अपेक्षा पशु-पक्षियोंको अधिक सुलभ है। फिर कुटुम्ब-पालन और विषय-भोगमें ही अपनी आयुको क्यों बिता रहा है? देख तो सही। जगा है या अभी सो ही रहा है? देख, तेरी सारी प्रवृत्तियाँ कुटुम्बके पालन-पोषण और मन-इन्द्रियोंके भोगोंके लिये ही हो रही हैं। काल

आयेगा । और सब कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा । उस समय कोई कुटुम्बी सहायता नहीं कर सकेगा । जीवनभर परिश्रम करके जिसको प्राप्त किया, वह सम्पत्ति, वह धन और वह कुटुम्ब भी यहीं रह जायगा । जिसके लिये पाप किया, वह सब कुछ यहीं छूट जायगा । तू अकेला जायगा । स्त्री-पुत्र, स्नेही-सम्बन्धी कोई तेरे साथ नहीं जायँगे । पाप और पुण्य ही तेरे साथी होंगे । इसलिये भाई ! चेत कर ! प्रतिदिन कुछ पुण्य करता रह । भजन करता रह । ये तेरे काम आयेंगे । जीवका धन धर्म और भजन—ये दो ही हैं । इस बातको कभी न भूल और धन-धर्मके संग्रह और पालनमें लगा रह ।

(३४) पतिकी आज्ञाका पालन करना स्त्रीका परम धर्म है । वह इतना ही धर्म पालन कर ले तो स्वर्गमें जाती है ।

(३५) माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना, यह सन्तानका धर्म है । इतने ही धर्मके पालनसे सन्तान अवश्य स्वर्गको जाती है ।

(३६) ऐसी ही क्रिया करनी चाहिये और ऐसी ही वाणी बोलनी चाहिये कि जिससे असत्य, आलस्य, अकुलाहट, चिन्ता, भय और विशेष श्रम न हो ।

(३७) बहुत बातोंका जानना और आचरण करना कठिन मालूम होता हो तो एक ही बात बतलाता हूँ—'सदा प्रसन्न रहना ।' मनकी प्रसन्नता स्थिर रहे ऐसा बोलना, ऐसा बर्ताव करना और ऐसा विचार करना चाहिये । जिसको चिन्ता नहीं है, भय नहीं है, जो क्रोध नहीं करता, जो सदाचारी और शान्त है, वही नित्य प्रसन्न रह सकता है । किसी भी क्रियाके करनेसे पहले विचार करके देख ले कि इससे मन प्रसन्न रहेगा ? प्रसन्न मनवालेकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है, मन शान्त रहता है, मुखकी आकृति शान्त, क्षोभरहित होती है, मनको प्रसन्न रखनेका अभ्यास करनेसे वह सिद्ध होती है । मनमें उठनेवाले सङ्कल्पोंके अनुसार ही जो क्रिया करता है, उसका मन प्रसन्न नहीं रहता । मनमें चोरी या दुराचारका विचार आया तो उसके अनुसार कार्य प्रारम्भ करते ही मन अशान्त, व्यग्र, चिन्तित और भयसे युक्त हो जाता है । प्रसन्नता तो मनकी सदा शान्त अवस्था है, इन्द्रियनिग्रह, मौन और आत्मबुद्धिसे दीर्घकालमें यह प्राप्त होती है ।

(३८) एक सहज नियम बताता हूँ । इतना हो जाय तो भी तरा जा सकता है—'दूसरेकी निन्दा न सुननी, न करनी ।' जो उपस्थित न हो उसके दोषका कथन करना निन्दा कहलाता है ।

(३९) बालक जन्म लेता है, उसी समय ज्योतिषी उसके जीवनमें क्या-क्या होनेवाला है सब बता देते हैं । अतएव उसके जीवनमें जो होनेवाला है वह जन्मसे ही निश्चित है । अपने जीवनमें जो कुछ होना है, वह तो निश्चित है ही, जगत्में भी जो कुछ होना है, वह भी निश्चित है । सिनेमाके फिल्मकी भाँति, इस जगत्में जो कुछ होना है सो होगा ही । अतएव हर्ष-शोक और आश्चर्यको छोड़कर शान्तिके साथ इसे देखा कर और अपनेको पहचान ।

(४०) तूने इतिहास पढ़ा । भूगोल, खगोल पढ़ा । भाषाएँ पढ़ीं, शास्त्र पढ़े, बहुत जानकारी प्राप्त की और इस जानकारीसे तुझे अभिमान हो गया कि मैं बहुत जानता हूँ । पर मैं तुझे कानमें पूछता हूँ कि क्या तूने यह जान लिया कि 'तू कौन है ?' इसके जाने बिना सारा जानना भाररूप है । तूने बहुत देखा । शहर, खण्ड और सारी पृथ्वी देखी; पेड़, पहाड़ और जंगल देखे । भाँति-भाँतिके मनुष्य, पशु और पक्षी देखे । पर मैं तुझे धीरेसे पूछता हूँ कि 'तूने अपनेको देखा ?' तूने अपनेको नहीं जाना, नहीं देखा और सब कुछ जान लिया, देख लिया तो वह सब व्यर्थ है । तेरा सारा परिश्रम व्यर्थ गया । अब भी चेत, देख, जान और समझ कि तू कौन है ।

(४१) तू किसपर गर्व करता है ? विद्यापर । तेरी विद्या तो तेरे और तेरे कुटुम्बका पेट भरने, पाप करने और मन-इन्द्रियोंको प्रसन्न करने-जितनी ही है । यह सब काम तो पशु-पक्षी बिना पढ़े ही करते हैं और तुझसे अच्छा करते हैं । तो मूर्ख ! इसके लिये तूने क्यों इतना परिश्रम किया ? पशु-पक्षी और देव-योनिमें जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी प्राप्तिके लिये तू मनुष्य बना । उसको तो प्राप्त किया नहीं । और उलटे परिश्रममें लग गया ! मूर्ख ! अब भी चेत ! अपनेको पहचान । भगवान्की शरण ले और सदाके लिये संसारसे तर जा !

श्रीरामरूप-निष्ठासे भव-निवृत्ति

(लेखक—श्रीकान्तशरणजी)

उपासनाके लिये इष्टतत्त्वके ज्ञानकी सर्वप्रथम आवश्यकता होती है—

जाने बिनु न होइ परतीती । बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई । जिमि खगेस जल कै चिकनाई ॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामनामकी आराधना करके इष्टतत्त्वका साक्षात्कार किया और अपनी विनय-पत्रिका-के एक पदमें उस तत्त्वका वर्णन किया है । इष्टतत्त्वके ज्ञानके लिये इस पदका मनन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं ।
नवकंज लोचन, कंजमुख, कर कंज, पद कंजारुणं ॥
कंदर्प अगणित अमित छवि, नवनील नीरज सुंदरं[1] ।
पट पीत मानहु तड़ित रुचि शुचि नौमि जनक-सुतावरं ॥
शिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदार अंग विभूषणं ।
आजानुभुज शर-चाप-धर संग्राम-जित-खरदूषणं ॥
इति वदति तुलसीदास शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं ।
मम हृदय-कंज निवास करु कामादि खल-दल-गंजनं[2] ॥

सामान्यार्थ—'हे मन ! कृपालु श्रीरामजीका भजन करो ! वे संसारके जन्म-मरणरूप दारुण भयका हरण करनेवाले हैं । उनके नेत्र, मुख, हस्त एवं चरण प्रफुल्लित लाल कमलके समान हैं । असंख्य कामदेवोंके समान वे छविशाली हैं और उनका श्रीअङ्ग नवीन नीलकमलकी भाँति सुन्दर है । विद्युत्के समान उनके पीताम्बरकी आभा है । श्रीजनक-नन्दिनीके उन भुवनपावन नाथकी मैं वन्दना करता हूँ । सिरपर मुकुट, (कानोंमें) कुण्डल, (भालपर) सुन्दर तिलक तथा सुन्दर अङ्गोंमें आभूषण धारण किये, आजानु प्रलम्ब भुजाएँ और हाथमें धनुष-बाण लिये, संग्राममें खर-दूषणको पराजित करनेवाले वे प्रभु जो भगवान् शङ्कर, शेष एवं मुनियोंके मनोंको आनन्दित करनेवाले हैं, उनसे ही तुलसीदास यह प्रार्थना करता है कि वे कामादि दुष्टोंके दल-को नष्ट करनेवाले नाथ मेरे हृदय-कमलमें निवास करें ।'

इस पदमें श्रीरामजीके स्वरूप, गुणके साथ आराधनाके स्वरूपका परिचय कराया गया है । इसका पहला शब्द है 'श्री' । यह शब्द शोभाके अर्थमें आता है, पर यहाँ उपासनात्मक ध्यानका विषय है । उसके अनुरूप ही इसका अर्थ होना चाहिये । श्रिञ् सेवायाम्, शॄ हिंसायाम्, श्रु श्रवणे और शॄ विस्तारे—इन धातुओंसे 'श्री' शब्द निष्पन्न होता है । रहस्यत्रयमें कहा गया है—

'तत्र श्रीशब्देन समस्तसमाश्रयणीया परमात्माश्रिता निखिलजीवदोषनिहन्त्री श्रीरामभगवन्तं चेतनाचेतन-विज्ञापनं श्रावयन्ती स्वगुणैरखिलं विश्वं पूरयन्ती भगवती सीतोच्यते ॥'

अर्थात् 'श्री शब्दसे समस्त प्राणियोंकी आश्रयणीया, परमात्मा श्रीरामके आश्रित, समस्त जीवोंके दोषको नाश करनेवाली, भगवान् श्रीरामको चेतन और जड सभी जीवों-की ओरसे प्रार्थना सुनानेवाली और अपने गुणोंसे सारे जगत्-को पूर्ण करनेवाली भगवती सीता वर्णित होती हैं ।'

क्योंकि श्रीजनकनन्दिनी ही जीवोंका पुरुषकारत्व प्रभुके समीप करती हैं, इसलिये उपासक प्रथम उन्हींके श्रीचरणों-की शरण लेते हैं । इसीसे पदमें प्रथम श्रीतत्त्वका निर्देश करके तब परब्रह्म तत्त्वका 'राम' शब्दसे वर्णन हुआ है ।

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥
(श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्)

'जिस सत्यानन्द चित्स्वरूप आत्मतत्त्वमें योगीजन रमण करते हैं, वही परमब्रह्म 'राम' इस पदसे वर्णित होता है ।'

---

१. किन्हीं प्रतियोंमें इस पदमें 'नवनील नीरद सुन्दरं' पाठ दिया गया है; परंतु प्राचीन प्रतियोंमें 'नवनील नीरज सुन्दरं' पाठ ही है ।

२. आधुनिक विनयपत्रिकाकी प्रतियोंमें इस पदमें ये दो चरण और मिलते हैं—

भजु दीनबंधु दिनेश दानव-दुष्ट-वंसनिकंदनं ।
रघुनंद आनँदकंद कोशलचंद दिनकरनंदनं ॥

लेकिन पुरानी प्रतियोंमें ये पद मिलते नहीं हैं । अतएव क्षेपक मानकर इन्हें छोड़ दिया गया है ।

छन्दःशास्त्रके अनुसार यह गीति छन्द है, जो सायंकाल गौरी-रागमें गाया जाता है । अलंकारकी दृष्टिसे इसमें उपनागरिका वृत्ति है, जो अनुप्रासका एक भेद है । इस वृत्तिमें श्रवणप्रिय मधुर वर्ण आते हैं ।

चिद्वाचको रकारः स्यात्सद्वाच्याकार उच्यते ।
मकारानन्दवाची स्यात्सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥

(महारामायण)

अर्थात् अविनाशी सच्चिदानन्द राम-नाममें 'र' चिद्वाचक, 'आ' सद्वाचक और 'म' आनन्दवाचक है ।

'राम' इस नाममें चार वर्ण हैं—र, आ, म् और अ् । इनमें पहला वर्ण 'र्' शेष तीनोंका आधार है—

'रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च ।'

(रामतापनीय उ०)

रेफपर आरूढ़ शेष तीनों वर्ण एवं उनके वाच्य त्रिदेव एवं उनकी शक्तियाँ रेफके आश्रित हैं और रेफके वाच्य हैं श्रीराम—

'रश्च रामेऽनित्ये वह्नौ' (एकाक्षरकोष)

इसी एकाक्षरकोषके अनुसार शेष तीनों वर्णोंके अर्थ इस प्रकार हैं—

'अकारो वासुदेवः स्यादाकारस्तु प्रजापतिः ।'
'मः शिवश्चन्द्रमाः ।'

इससे स्पष्ट है कि सृष्टि, स्थिति एवं संहारके अधिष्ठाता त्रिदेव एवं उनकी शक्तियाँ श्रीरामके ही आश्रित हैं और उन्हींकी शक्तिसे अपने कार्योंको सम्पन्न करते हैं ।

श्रीरामचरितमानसमें राम-नामके लिये स्पष्ट कहा गया है—

'बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो ।'

श्रुति कहती है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।'

यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है । उसीसे इसकी उत्पत्ति, पालन, संहारादि हैं और उसीमें यह चेष्टा करता है; अतः शान्त होकर उस ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये ।

वह परब्रह्म-तत्त्व श्रीराम हैं । 'राम' शब्दसे परब्रह्म इष्ट-तत्त्वका प्रतिपादन होनेपर आराध्यके ऐश्वर्य एवं माधुर्य-गुणोंकी सूचनाके लिये मूलपदमें आगे 'चन्द्र' शब्द आया है ।

'चन्द्र' शब्द 'चदि आह्लादने' तथा 'चदि दीप्तौ' इस प्रकार दो अर्थवाली 'चदि' धातुसे निष्पन्न होता है । आह्लादनार्थमें 'चन्द्र' शब्दकी निष्पत्तिसे 'श्रीरामचन्द्र' इस पदद्वारा रामजीका निरवधिक आनन्द-जनकत्व सिद्ध होता है । श्रीरामचरितमानस, वाल्मीकीय रामायण, पुराण तथा श्रुतिमें सर्वत्र श्रीरामके सर्वानन्दप्रदायी स्वरूपका वर्णन है ।

'चदि दीप्तौ' अर्थमें निष्पन्न 'चन्द्र' शब्दके योगसे 'रामचन्द्र' इस पदद्वारा श्रीरामका सर्वप्रकाशक स्वरूप प्रकट होता है—

बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥

(श्रीरामचरितमानस)

आराध्यके इस प्रकार अनन्त माधुर्य एवं अतुल ऐश्वर्य-रूपको जानकर उनकी उपासना करनेकी इच्छा होगी; किंतु सच्चिदानन्दघन, सर्वेश्वर, सर्वप्रकाशक, परम प्रभुका सामीप्य पानेका साहस क्षुद्र जीवमें कैसे हो ? उपासकमें दैन्य होता है और वह अपनेको पापी, मलिन समझता ही है । उसके लिये यह भय सहज स्वाभाविक है—

'अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं ॥'

(विनय-पत्रिका)

उपासकके इस भयको दूर करता है आराध्यका कृपामय रूप और उसी रूपकी सूचनाके लिये पदमें 'कृपालु' शब्द आया है ।

'क्रप कृपायाम्' से अनुग्रहार्थमें और 'कृपू सामर्थ्ये' से शक्तिमत्ता अर्थमें कृपा शब्द निष्पन्न होता है ।

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः ।
इतिसामर्थ्यसन्धाना कृपा सा परमेश्वरी ॥

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका रक्षण करनेवाला उनका परम स्वामी हूँ—इस प्रकार प्रभु अपनी जिस अनुग्रहमयी शक्तिका आश्रयण करते हैं, वही परमेश्वरी कृपा है । उनसे युक्त प्रभु कृपालु हैं ।

इस प्रकार आराध्यकी सुलभता बतलाकर अपने मनको सम्बोधित करके कहते हैं—'भजु मन !' 'भज सेवायाम्' के अनुसार भजनका अर्थ है सेवन करना । मनसे कहा गया है कि सब प्रकारसे, सर्वेन्द्रियोंसे उन आराध्यका ही सेवन करो । लेकिन मनकी प्रवृत्ति तो विषयोंमें है—

बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥

(विनयपत्रिका)

इन विषयोंमें अनुरागका फल शोक, मोह, जरा, व्याधि, जन्म-मृत्यु आदि अनन्त दारुण विपत्तियाँ हैं । इन विपत्तियोंका सन्ताप सदा ही सिरपर है । भजन करनेसे यह दारुण सन्ताप, भवका यह भीषण भय निवृत्त हो जायगा—यह आश्वासन

मनको दिया गया—'हरण भवभय दारुणं' वे प्रभु दारुण भव-भयको हरण करनेवाले हैं। उनका भजन करनेसे ये सब क्लेश सदाको मिट जायँगे।

मन सदासे विषयोंमें लीन रहते-रहते मलिन हो गया। ये जगत्‌के दारुण भय सम्मुख रहते भी वह अपने प्रलोभनोंसे पृथक् नहीं होता। अतः उसे इन तुच्छ विषयोंसे अनन्त सुन्दर, अनन्त माधुर्यमय दिव्य आधारकी ओर प्रेरित करता है—

'नवकंज लोचन कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुणं।'

यहाँ श्रीरघुनाथजीके लोचन, मुख, कर एवं चरण प्रफुल्ल लाल कमलकी उपमासे भूषित हुए और आगे—

'कंदर्प अगणित अमित छबि, नवनील नीरज सुंदरं॥'

इस पदमें प्रभुके श्रीअङ्गको नवीन इन्दीवर (नील-कमल) के समान सुन्दर बताया गया। इस प्रकार पाँच कमलों-की उपमा दी गयी है।

मनका स्वभाव है भ्रमर-जैसा। गन्ध-लोलुप भ्रमरकी भाँति विषय-लम्पट होकर वह सदा चञ्चल बना रहता है। कहीं स्थिर नहीं होता। शास्त्रोंमें मनकी भ्रमरसे अनेक स्थानों-पर उपमा दी गयी है। भ्रमर केवल कमलमें आबद्ध होता है। वहीं मधुपानसे मत्त होकर वह स्थिर होता है। श्रीभगवान्‌के अङ्गरूपी कमलोंमें उसे कहीं भी स्थिर होना चाहिये। आराध्यके अङ्गोंकी कमलसे उपमा देनेमें यही भाव है।

मन स्वयं पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके सहारे ही विषयोंका उपभोग करता है। पाँचों इन्द्रियोंमें बैठकर ही वह संसारके पदार्थोंमें आसक्त होता है। भगवान्‌के श्रीअङ्गोंमें पाँच कमलोंकी उपमासे सूचित किया गया कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों-के लिये सर्वोत्कृष्ट आश्रय उन परम प्रभुमें ही है। मनको परम सन्तोष सभी प्रकारसे वहीं प्राप्त होगा। नेत्रोंके लिये—

'कंदर्प अगणित अमित छबि, नवनील नीरज सुंदरं'

कर्णोंके लिये उस 'कंज-मुख'की अमृत वाणी, नासिकाके लिये 'कंजारुण' पदमें चढ़ी तुलसीका पावन गन्ध, रसनाके लिये 'नवकंज लोचन' की सुधादृष्टिसे पवित्र हुआ प्रसाद और त्वचाके लिये अभयदायी 'कर-कंज'का परम कोमल स्पर्श ही जीवका परम वाञ्छनीय है।

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
मधुव्रतो नेक्षुरसं हि वीक्षते॥
(आलवन्दारस्तोत्र)

अर्थात् 'हे प्रभो! आपके अमृतस्रावी चरणकमलोंमें जिनका चित्त लग गया है, वे किसी भी और वस्तुकी इच्छा कैसे कर सकते हैं। भ्रमर जब कमलपर मकरन्द-पानमें मत्त हो गया, तब फिर वह गन्नेके रसकी ओर देख भी कैसे सकता है।'

श्रीरामके श्रीअङ्गरूप कमलोंमें रस, गन्ध, रूप, सौकुमार्यादि सभी दिव्य, चिन्मय एवं अनन्त हैं। मन-भ्रमरके लिये ऐसा परमसुखमय परमाश्रय और कोई हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार प्रभुके स्वरूपका वर्णन करके पीताम्बरका वर्णन किया गया। मेघश्याम श्रीअङ्गपर पीतपट स्थिर विद्युत्-के समान सुशोभित है। ऐसे श्रीजानकीनाथको नमस्कार! यहाँ 'जनक-सुतावरं' के द्वारा युगलस्वरूप श्रीसीतारामजीकी आराधना सूचित की गयी है।

'सिर मुकुट कुंडल' इस पदके द्वारा आभूषणोंका वर्णन हुआ। वस्त्रके पश्चात् आभूषणोंका क्रम उचित ही है। सिरपर मुकुट, कानोंमें मकराकृति कुण्डल, सुन्दर अङ्गोंमें केयूर, कंकण, मेखला, अँगूठी, नूपुर आदि आभूषण हैं। भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं और करोंमें धनुष-बाण हैं। यह वीरता, दुष्ट-दलन एवं भक्त-परित्राण-परायणताका सूचक है।

'संग्राम-जित-खरदूषणम्' यहाँ खर-दूषण-विजयी कहने-का विशेष तात्पर्य है। प्रभुकी ऐसी शोभा है कि बहिनकी नाक-कान काटनेके समाचारसे परम क्रुद्ध खर-दूषण भी उस शोभापर मुग्ध हो गये। क्रूरहृदय असुर और वे भी अत्यन्त क्रोधावेशमें जिस छविको देखकर मुग्ध हुए, उस शोभाका वर्णन कोई कैसे कर सकता है।

श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीने अपने 'रामसुधा' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

भाई पंचवटीके बनमें। बड़ो रंग समुझनमें॥
चाह सुपनखा सदा सोहागिन खेलि रही मन बनमें।
लखन दरस ताके धरि काटे नाक कान यक छनमें॥
खर हो क्रोध, लोभ हो दूषन, काम फिरै त्रिसिरनमें।
कामै क्रोध लोभ मिलि दरसैं तीनों एकै तनमें॥

कथाका यह आध्यात्मिक रूप इस बातका सूचक है कि काम, क्रोध, लोभ एवं इनकी समस्त सेनाको नाश करने-वाले श्रीराम ही हैं और भक्तोंके कामादि शत्रुओंके विनाशके लिये ही वे खर-दूषण-विजयी प्रभु अपने करोंमें धनुष-बाण धारण किये रहते हैं।

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरें चाप सायक कटि भाथा ॥
(श्रीरामचरितमानस)

इस प्रकार इष्टके स्वरूप एवं औदार्यका प्रतिपादन करके उनका महत्त्व तथा इस आराधनाके आचार्योंका सङ्केत करते हैं—'शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं' कहकर । भगवान् शङ्कर तो नित्य राम-नाम-जापक हैं ही। उनके हृदयमें तो प्रभु सदा ही निवास करते हैं। 'जय महेस मन मानस हंसा' कहकर इसीसे प्रभुकी स्तुति होती है। श्रीशेष-जी भी परम भागवत, नित्य भगवद्ध्यानपरायण एवं भक्तिमार्गके परमाचार्य हैं। वे अहर्निश श्रीरामगुण-गान करते हैं, यह श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है। मुनिगण तो नित्य प्रभुके ध्यानमें लगे ही रहते हैं।

अन्तमें श्रीगोस्वामीजी प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—

'मम हृदय कंज निवास करु कामादि खल दल गंजनं ।'

प्रभो ! आपके कर-चरणादि कमलके समान हैं, अतः आपका निवास भी कमलमें ही होना चाहिये। मेरे हृदय-कमलमें आप निवास करें। आप धनुष-बाणधारी हैं, खल-दल-गंजन स्वभाव है आपका और मेरे हृदयमें काम-क्रोधादि दुष्ट भरे हैं । आप खर-दूषण-विजयी हैं, अतः इन दुष्टोंको सहज ही नष्ट कर देंगे। यह मुझपर आपका अनुग्रह होगा। आप कृपालु हैं, अतः इतनी कृपा करें।

इस प्रकार श्रीगोस्वामीजीने इस पदमें मर्यादा-पुरुषोत्तम परात्पर परमब्रह्म श्रीरामके इष्टस्वरूप, स्वभाव, सौन्दर्य, कामादि-दलन प्रभावादिका सम्पूर्ण वर्णन किया है। इस ध्यानसे बाह्याभ्यन्तरशुद्धिपूर्वक भगवत्प्राप्ति निरूपित हुई है।

कामके पत्र

(१)

धनका सदुपयोग कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपके लंबे पत्रका उत्तर संक्षेपमें निम्नलिखित है। धनसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं । यदि किसीके पास धन आये तो उसे तुरंत भगवत्प्रीत्यर्थ लोकसेवाके काममें लगाना आरम्भ कर देना चाहिये । धनकी सार्थकता तथा सफलता इसीमें है । भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यय किया हुआ धन भगवान्‌की प्रसन्नताका कारण होता है और फलतः व्यय करनेवाले-को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। धनकी तीन गतियाँ प्रसिद्ध हैं—दान, भोग और नाश। इनमें भगवत्प्रीत्यर्थ धनका दान उसका सर्वोत्तम उपयोग है; भोग निकृष्ट है और परिणाममें दुःखदायी है। नहीं तो, नाश तो होगा ही। पर वह दुःख, संकट, अपमान, कलह, अनाचार और मौततक देकर नाश होगा। बड़ी साधसे छिपाकर रक्खा हुआ धन जब जबरदस्ती जाता है, तब बहुत दुःख होता है। पहले उसका सद्व्यय किया नहीं, फिर सिर पटककर रोना पड़ता है। धन भी छूटता है और वह सुखको भी साथ ले जाता है। बटोरे हुए धनका बलात्कारसे अपहरण और विनाश आज प्रत्यक्ष है; यह धनकी अवश्यम्भावी गति है। आप चाहे जितने दुखी हों, यह तो जायगा ही। बस, इसके बटोरनेमें आपने जो पाप किये, उनका फल यहाँ और आगे आपको भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसको लेकर यहाँ जो चिन्ता तथा दुःख है, वह अलग है। अब भी मेरा तो यही निवेदन है कि बचे-खुचे धनका यदि अब भी कुछ सदुपयोग हो सके तो करना चाहिये। किसी तरह, मान लीजिये, यदि आपने छलछद्म करके इसको बचा भी लिया, जिसकी सम्भावना बहुत कम है, तो आपके उत्तराधिकारी इसका कैसा सुन्दर सदुपयोग करेंगे, इसका अनुमान आप उनके वर्तमान विचारों और आचरणोंसे लगा सकते हैं। सच्ची बात तो यह है कि धनको जो इतना महत्त्व दिया जा रहा है, यही भूल है। सच्चा धन तो भगवान्‌का भजन है, मन लगाकर उसका सञ्चय कीजिये । छोड़िये इसकी चिन्ताको, यह तो कभी छूटेगा ही। इस समय रह

भी जाता, तो मरनेके समय इसे छोड़ना पड़ता। यह साथ तो जाता ही नहीं, फिर अभीसे इसका मोह छोड़कर निश्चिन्त क्यों नहीं हो जाते? आप अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं, और बुद्धिमान् हैं भी। यह तो बुद्धिका दुरुपयोग हुआ, जिससे आज आपको दुखी होना पड़ रहा है। इस बुद्धिको, विवेकको अब जगत्से मोड़कर भगवान्की ओर लगा दीजिये। घबरानेकी जरा भी बात नहीं है। जितनी आयु आपकी शेष है, यदि उसका एक-एक श्वास आपने भगवान्को सौंप दिया तो सारे पाप-तापोंसे मुक्त होकर इसी जन्ममें आप भगवान्को पाकर अनन्त जीवनकी साध पूरी कर सकते हैं। आशा है मेरी प्रार्थनापर आप ध्यान देंगे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

प्रेम मुँहकी बात नहीं है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण।............किसीके व्याख्यानको सुनकर ही उसे प्रेमी मान लेनेमें बड़ा धोखा हो सकता है। प्रेम वाणीका विषय ही नहीं है। जितना प्रेम यथार्थ और शुद्ध होता है, उतना ही उसमें त्याग अधिक होता है। वस्तुतः त्याग ही प्रेमका आधार है। प्रेममें अपने शुद्ध स्वार्थको, अपने व्यक्तिगत लाभको और अपनेको सर्वथा भूल जाना पड़ता है। प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर ये अपने-आप ही भूले जाते हैं। प्रेममें प्रेमास्पदसे कुछ भी पानेकी आशा नहीं रहती। वहाँ तो बस, देना-ही-देना होता है—देह-प्राण-मन ले लो, धन-ऐश्वर्य-समृद्धि ले लो, मान-यश-प्रतिष्ठा ले लो, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ले लो; जो चाहो सो ले लो—और इस देनेमें ही परम सुख, परम सन्तोष मिलता है प्रेमीको। आत्मविसर्जन ही प्रेमका मूल-मन्त्र है। प्रेमास्पदका हित और सुख ही प्रेमीका परम सुख है। इस प्रकारकी स्थिति बातोंसे तो हो नहीं सकती। इसके लिये त्याग चाहिये। आपने व्याख्यान सुन लिया, प्रेमकी महिमा सुन ली, कभी एक-दो बूँद आँसू देख लिये और किसीको प्रेमी मान लिया। यह ठीक नहीं है। प्रेमका पता तो तब लगेगा, जब उसकी प्रत्येक क्रियामें आपको त्यागकी अनुभूति होगी। बहुत-से स्वार्थी लोग प्रेमकी व्याख्या इसीलिये किया करते हैं कि लोग उनके प्रेमी बनें, और वे उनके प्रेमास्पद प्रियतम बनें। अर्थात् लोग अपना सर्वस्व उन्हें अर्पण कर दें। यह प्रेमके नामपर लोगोंको ठगना है। यहाँ नीच काम ही प्रेमकी पोशाक पहनकर आता है। असलमें प्रेमका व्याख्यान नहीं होता; प्रेमका तो आचरण होता है और वह किया नहीं जाता, होता है—बरबस होता है। क्योंकि प्रेमीसे वैसा किये बिना रहा नहीं जाता। प्रेमास्पद उसे भले ही न चाहे, बदलेमें प्रेम न करे, उसके प्रेमका तिरस्कार करे, उसे ठुकरा दे, पर प्रेमीके पास इन सब बातोंकी ओर देखनेके लिये चित्त ही नहीं है। उसका चित्त तो अपने प्रेमास्पदमें सहज ही लगा है।

'मैं किसीका प्रेमास्पद बनूँ—प्रेमीका उपास्य बनूँ—मेरे प्रेमी लोग मुझे अपना प्रेमदान देकर आप्यायित करें।' ऐसी यदि मनमें चाह है तो समझना चाहिये कि हमारा मन नीच स्वार्थके कलंकरूप कामके वश हो रहा है और भोले लोगोंको प्रतारित करना चाहता है। ऐसी स्थितिमें सावधान हो जाना चाहिये। प्रेमका कहीं यदि उपदेश होता है तो वह अपने लिये ही होता है कि 'मैं ऐसा प्रेमी बनूँ। मैं ऐसा त्यागपूर्ण आचरण करूँ, जिससे मेरा पवित्र प्रेम खिल उठे।' ×××××शेष भगवत्कृपा।

(३)

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण! कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपके प्रश्नोंपर विचार यों हैं—

(१) यह ठीक है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं; यह भी सत्य है कि वे भविष्यमें होनेवाली सभी बातोंको जानते हैं; अतः जो भी उनके ज्ञान या निश्चयमें है, वही होगा। तथापि मनुष्यको शुभ कर्म करना चाहिये और अशुभसे बचना चाहिये। जो भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे ही

शास्त्रद्वारा मनुष्यको यह प्रेरणा देते हैं कि वह सत्कर्म करे और पापसे बचे । इससे सिद्ध है कि मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार कर्म करनेमें स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें पहलेसे ही मौजूद है । अतः इस विधि-निषेधको मानते हुए मनुष्य जो कुछ कर रहा है या करेगा, वह सब ईश्वरके द्वारा अनुमोदित है । शास्त्र ईश्वरीय आदेश है, उसके पालनसे ईश्वर प्रसन्न होते हैं और शास्त्रके विपरीत चलनेसे मनुष्य दण्डका भागी होता है । इसके अनुसार पुरस्कार और दण्डकी प्राप्ति भी सर्वज्ञ ईश्वरकी दृष्टिमें है; अतः मनुष्य-को शास्त्राज्ञा-पालनमें सतत सावधान रहना चाहिये । मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, यह बात सर्वज्ञ ईश्वर-द्वारा अनुमोदित है ही । इसलिये वह जो कुछ भी करेगा, वही सर्वज्ञकी दृष्टिमें पहलेसे है—ऐसा माना जा सकता है । सर्वज्ञने कब किससे क्या करवानेका निश्चय कर रक्खा है, यह बात किसीको भी ज्ञात नहीं है । अतः जो न्यायोचित कर्तव्य है, उसके लिये चेष्टा करना सभीको उचित है । मनुष्यका ऐसा स्वभाव बना दिया गया है कि वह कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता ।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

उसका स्वभाव उसे चुपचाप बैठने न देगा । भगवान्‌ने जो पहलेसे निश्चय कर रक्खा है, वही होगा और वह अपने-आप हो जायगा—यों विचारकर कोई भी हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रह सके, यह सम्भव नहीं है । उसकी प्रकृति उसे कर्ममें लगा देगी (प्रकृति-स्त्वां नियोक्ष्यति) ।

महाभारतमें कौरव-पाण्डव उभय पक्षके जिन वीरोंकी मृत्यु नियत थी, उन सबका वह भावी परिणाम भगवान्‌ने अपने विराट्‌रूपमें पहले ही अर्जुनको दिखा दिया । इसपर अर्जुन यह सोच सकते थे कि 'ये सब मरेंगे तो निश्चय ही, फिर मैं क्यों इनकी हत्याका कलंक लूँ ।' पर उन्होंने अर्जुनको ऐसा सोचने नहीं दिया । उन्हें यह प्रेरणा दी गयी—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।' 'अर्जुन ! तू निमित्तमात्र हो जा ।' इसी प्रकार शास्त्रीय विधि-निषेधके द्वारा भगवान् हम सबको निमित्तमात्र बना रहे हैं । अर्जुनको निमित्त बनना पड़ा । हमको भी भावीमें जो सुनिश्चित है, निमित्त बनना ही पड़ेगा । 'हम निमित्तमात्र ही हैं, वास्तवमें भगवान् स्वयं सब कुछ कर रहे हैं, करवा रहे हैं'—यह भावना दृढ़ रहे तो हमें उन कर्मोंका बन्धन भी नहीं लगेगा । मनुष्य बँधता है ममता और अहङ्कारके कारण, कर्म और उसके फलमें आसक्ति तथा कामनाके कारण । यदि ईश्वरप्रीत्यर्थ ही सब कुछ किया जाय अथवा अपनेको निमित्तमात्र मानकर अपने ऊपर कर्तृत्वका अभिमान न लादा जाय तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता । अतः सब कुछ सर्वज्ञ ईश्वरकी सुनिश्चित इच्छाके अनुसार होनेपर भी हम सबका यही कर्तव्य है कि हम भगवत्प्रीतिके उद्देश्यसे शास्त्रीय सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें ही संलग्न रहें ।

(२) यह ठीक है कि मरे हुए पिता-पितामह आदि जहाँ जिस योनिमें जन्म पाते हैं, वहाँ उन्हें कर्मानुसार अन्नपान आदि तो प्राप्त होता ही है । फिर भी पुत्र-पौत्रादिका कर्तव्य है, उनके लिये श्राद्ध करें । श्राद्धमें दी हुई वस्तु उन पितरोंको, जहाँ जिस योनिमें भी वे रहते हैं, योग्यतानुसार प्राप्त होती है और उन्हें तृप्त करती है । श्राद्धके तीन देवता हैं, जो नित्य एवं सर्वव्यापी हैं । उनके नाम हैं—वसु, रुद्र और आदित्य । वसु पिताके स्वरूप हैं । रुद्र पितामहके प्रतिनिधि हैं । और आदित्य प्रपितामहके प्रतीक हैं । श्राद्धमें जब पितरों-का आवाहन होता है, तब जो आ सकते हैं वे पितर भी आते हैं नहीं तो ये ही लोग उपस्थित होते हैं; ये पुत्रादिद्वारा अर्पित किये हुए सत्कार, मान, पूजा, श्राद्धान्न आदि सब स्वयं ही ग्रहण करते हैं और वह सब ले जाकर मनुष्यके पितरोंके पास पहुँचा देते हैं । वे अपने ज्ञान और शक्तिसे भलीभाँति जानते हैं कि किसके पिता, पितामह आदि कहाँ किस रूपमें उत्पन्न हुए हैं; अतः उनके पास वे अनायास पहुँच जाते हैं और वह श्राद्धीय वस्तु उनको अर्पित करते हैं । यदि वे पितर मनुष्येतर स्थूल योनिमें या स्वर्ग-नरकादिके देव या पितृ-शरीरमें हैं तो वहाँके शरीरके अनुरूप खाद्य

प्रस्तुत करके ये उन्हें तृप्त करते हैं। इस प्रकार श्राद्ध-द्वारा तृप्त किये हुए वसु आदि देवता मनुष्यके पितरोंको तो पूर्ण तृप्त करते ही हैं, श्राद्धकर्ताको भी उसके भाव तथा श्रद्धाके अनुसार आयु, सन्तान, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदिकी प्राप्ति कराते हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया, इसका समर्थन याज्ञवल्क्य-स्मृतिके निम्नाङ्कित वचनोंसे होता है—

वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः।
प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धेन तर्पिताः॥
आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः॥

(आचाराध्याय २६९-२७०)

आपने श्राद्धके विषयमें वैदिक मन्त्रके उल्लेखका भी अनुरोध किया है। श्राद्धविषयक वैदिक मन्त्र अनेक हैं। यहाँ स्थानाभावके कारण केवल एक मन्त्र दिया जाता है—

आ यन्तु न पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेवऽनन्त्वस्मान्॥ (यजुर्वेद १९। ५८)

"हमारे सोमपानके अधिकारी 'अग्निष्वात्त' पितर देवयानमार्गसे आयें और इस यज्ञमें स्वधा (श्राद्धान्न) से तृप्त होकर हमें मानसिक उपदेश एवं आशीर्वाद दें।'

(३) गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

'पुरुष श्रद्धामय होता है; जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।' इसके अनुसार सात्त्विक श्रद्धासे सम्पन्न पुरुष सात्त्विक होता है। अतएव उसकी ऊर्ध्वगति हो सकती है; क्योंकि 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' यह गीताका सिद्धान्त है। इसी प्रकार तामसी श्रद्धावाला मनुष्य तमोगुणी होनेके कारण अधःपतनको प्राप्त हो सकता है। यहाँ मनुष्यके स्वभावगत श्रद्धाकी बात कही गयी। जहाँ श्रद्धारहित कर्मको निष्फल बताया गया है (न च तत्प्रेत्य नो इह), वहाँ उत्तम श्रद्धाका क्रियाके साथ योग न रहनेपर वह कर्म निष्फल होता है—ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये। सात्त्विक श्रद्धाका योग न होनेपर कर्म निरर्थक हो जाता है। यदि राजसी या तामसी श्रद्धाका योग हो जाय तब तो राजस-तामस भावके अनुसार फल अवश्य होगा। हवन, दान, यज्ञ, तप, जप आदि कर्म सात्त्विक श्रद्धासे ही किये जाने चाहिये। तामसी श्रद्धावालेकी तो इसमें प्रायः प्रवृत्ति ही नहीं होगी। हुई भी तो विधिका पालन न हो सकेगा। आप कहते हैं श्रद्धारहित कर्म हो ही नहीं सकता। किंतु जगत्‌में श्रद्धा रहित कर्म भी होता देखा जाता है। कोई किसी दबाव या संकोचके कारण भी सत्कर्म करता है। भीतरसे उस कर्ममें उसकी रुचि या श्रद्धा नहीं होती। यही अश्रद्धाकृत कर्म है। छान्दोग्य उपनिषद्‌की श्रुतिमें भी श्रद्धा कृत कर्मकी ही श्रेष्ठता बतायी गयी है। इससे और गीताके वचनसे कोई विरोध नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

(४)

मृत्युके बादके शरीर और श्राद्ध-तर्पण

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें क्रमसे उत्तर लिख रहा हूँ। पितृ-श्राद्धके सम्बन्धमें कल्याण १५ वें वर्षके ११ वें अंकमें छप चुका है, उसे भी देखना चाहिये।

(१) 'जैसे जोंक अगले तृणपर पैर रखकर पिछले तृणसे पैर उठाती है, इसी प्रकार जीव दूसरे शरीरका निश्चय करके पहले शरीरको छोड़ता है।' अथवा जैसा श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—'जैसे पुराना वस्त्र त्यागकर मनुष्य नया वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही जीव एक शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरको धारण कर लेता है।' ये दोनों ही बातें सत्य हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि 'जीव अपने कर्म-फल भोगनेके लिये नरक, पितृलोक या स्वर्गादि लोकोंमें भी जाता है।' इन दोनों ही शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी संगति है। शरीरोंके कई भेद हैं। हमारे इस मर्त्यलोकका शरीर पाञ्चभौतिक पृथ्वीप्रधान होता है। पितृलोकका वायुप्रधान होता है और स्वर्गादि देवलोकोंका तेजःप्रधान होता है। यहाँ मृत्यु होते ही जीवको एक आधार-

रूप शरीर मिल जाता है, उसे 'आतिवाहिक देह' कहते हैं। इसलिये उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तोंके साथ कोई विरोध नहीं रहता। उनमें शरीर मिलनेकी बात है; कैसा कौन-सा शरीर मिलेगा, यह कुछ भी नहीं कहा है।

आतिवाहिक शरीरसे—कर्मानुसार यदि जीवको नरकोंमें जाना है तो वायुप्रधान 'यन्त्रणा-शरीर' मिलता है, जिसमें उसे भीषण यन्त्रणाओंका अनुभव होता है पर मृत्यु नहीं होती। जैसे नरकोंकी आगसे जलने और तीक्ष्णधार पत्रोंके द्वारा कटने आदिकी पीडा असह्य होती है, पर मृत्यु नहीं हो पाती। पितृलोकके अन्यान्य स्तरोंमें जानेवाले जीवोंको भी वायुप्रधान भोग-देह प्राप्त होते हैं, परंतु उनमें वे नरक-यन्त्रणा न भोगकर पितृलोकके भोग भोगते हैं। स्वर्गादि देवलोकों-में जानेवालोंको तेजःप्रधान देह मिलते हैं। ये स्थूल पार्थिव देह नहीं होते। देव-देहमें वृद्धावस्था नहीं होती। मूत्र-पुरीषादि नहीं होते। हमलोगोंकी भाँति मरण नहीं होता। पर इन देहोंकी आकृति यहाँ मृत्युलोक-की आकृतिके सदृश ही होती है। हाँ, प्रेतलोकके देहकी आकृति मलिन तथा भयानक दीखती है और देवलोकके देहकी तेजस्वी और सुन्दर प्रतीत होती है। परंतु उन आकृतियोंको देखकर यहाँके उनके परिचित लोग उन्हें पहचान सकते हैं कि ये अमुक हैं। लङ्का-विजयके पश्चात् महाराज दशरथके लङ्कामें पधारनेकी बात आती है, और उन्हें पहचानकर सीता-जी अवगुण्ठनवती हो जाती हैं तथा भगवान् श्री-रामचन्द्र उनका यथोचित सत्कार करते हैं। इस प्रकारके अन्यान्य बहुत-से इतिहास हैं। इस युगमें भी परलोकगत आत्माओंके आने और उन्हें पहचानने-के बहुत-से उदाहरण मिलते हैं (यद्यपि ऐसी बातोंमें आज झूठ-फरेब बहुत अधिक मात्रामें आ गया है)। पितृ-लोक और देवलोकके हमारे आत्मीय हमारे साथ वैसा ही सम्बन्ध मानते हैं, जैसा यहाँ मानते थे और अपने-अपने स्वभावके अनुसार हमारे सुख-दुःखमें सुखी-दुखी होते हैं तथा सहायता एवं विरोध करनेका भी यथाशक्ति प्रयास करते हैं। हमलोग जो उनके लिये श्राद्ध-तर्पण, दान आदि करते हैं, उन लोकोंके नियमानुसार वहाँके पदार्थोंके रूपमें वह उन्हें प्राप्त होता है, उनकी भूख-प्यास मिटती है और उन्हें शान्ति मिलती है। उनके निमित्त किये हुए सदनुष्ठानोंसे उनकी सद्गति-तक हो जाती है। इसलिये उनके निमित्त श्रद्धा तथा विधिपूर्वक श्राद्ध-तर्पण, कीर्तन, दान तथा जपादि अवश्य-अवश्य करने चाहिये।

(२) जो लोग पितृलोक तथा देवलोकादिसे लौटकर मनुष्य या पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि स्थूल शरीरों-को प्राप्त हो जाते हैं, उनको भी उनके यहाँके पदार्थों-के रूपमें परिणत होकर हमारे अर्पण किये हुए पदार्थ मिलते हैं। जैसे हमें अमेरिका डालर भेजने हों तो यहाँ तो रुपये ही जमा करायेंगे; परंतु बैंक अपने भावसे मुद्रापरिवर्तन करके वहाँ उन्हें दे देगा। इसी प्रकार हम यहाँ जो कुछ देंगे, वह उन्हें वहाँ उन्हींके उपयोगी होकर मिल जायगा। वसु, रुद्र और आदित्य—देवशक्तियाँ, कौन जीव कहाँ है, इस बातका पता रखती हैं और यथायोग्य वस्तुएँ वहाँ पहुँचा देती हैं। इसलिये श्राद्धतर्पण करते ही रहने चाहिये—चाहे पितर पितृ-देवलोकमें हों, चाहे स्थूल योनिमें आ गये हों।

(३) आपकी यह शङ्का ठीक है कि 'यदि कोई पितर मुक्त हो गया हो तो उसके निमित्त किया हुआ श्राद्ध-दान आदि किसको मिलेगा। ऐसी स्थितिमें श्राद्ध-तर्पण करनेसे क्या लाभ है ?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो हमको यह पता कैसे लगेगा कि अमुक पितरकी मुक्ति हो गयी है। हमने मुक्ति मानकर श्राद्ध-तर्पण करना छोड़ दिया और उसकी मुक्ति अभी नहीं हुई हो तो हम कर्तव्यविमुखताका पाप करनेवाले हुए और उस पितरको अतृप्त रहना पड़ा। दूसरे,

यह मान लें कि मुक्ति हो गयी तो भी श्राद्ध-तर्पणादि करनेमें कोई हानि नहीं है, हमारे उस सत्कर्मका फल लौटकर हमींको मिल जायगा, जैसे किसीके नाम मनीआर्डरसे भेजे हुए रुपये उस व्यक्तिके वहाँ न मिलनेपर या मर जानेपर लौटकर हमें वापस मिल जाते हैं।

शास्त्रका आदेश तो डंकेकी चोट है ही, हमारा अपना भी इस विषयमें कुछ अनुभव है; उसके आधार-पर हम यह कह सकते हैं कि श्राद्ध-तर्पण, हरिकीर्तन, अनुष्ठान, नारायणबलि और गया-श्राद्ध आदिसे पितरों-को बहुत सुख मिलता है, उनका बड़ा हित होता है। अतएव माता-पिता तथा पूर्वपुरुषोंके प्रति कर्तव्यशील प्रत्येक व्यक्तिको श्रद्धा तथा विधिपूर्वक यथासाध्य श्राद्ध-तर्पण अवश्य करना चाहिये।

(५)

चेष्टाओंसे स्वभावज्ञान

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है कि मनुष्यकी आकृतिसे और उसकी चेष्टाओंसे उसके स्वभावका बहुत अंशमें पता लग सकता है; परंतु इस प्रयासमें सभी लोग सफल नहीं हो सकते। आकृतिविज्ञान एक प्रकारका शास्त्र ही है, पर उसकी मुझको जानकारी नहीं है, इसलिये इस विषयमें कुछ भी नहीं लिख सकता। हाँ, चेष्टाओंके सम्बन्धमें कुछ बातें सोची जा सकती हैं। जैसे—

(१) जिस मनुष्यको भोजन-पदार्थोंकी चर्चा बहुत अच्छी लगती हो, जो भोजनके किसी अमुक पदार्थकी चर्चा आनेपर हर्षित हो उठता हो और कहता हो कि 'वह तो बहुत ही स्वादिष्ट—बहुत ही उत्तम है।' वह आदमी प्रायः जीभका गुलाम या पेटू होता है। ऐसे लोग जब पंक्तिमें भोजन करने बैठते हैं तब बगलके लोगोंकी पत्तलोंकी ओर टेढ़ी नजरसे ताका करते हैं।

(२) जिस मनुष्यको स्त्री-सम्बन्धी चर्चा बहुत अच्छी लगती हो, जो स्त्रियोंके अङ्गोंसे वस्तुओंकी तुलना करते हों, जिनकी स्त्री-साहित्यमें बड़ी रुचि हो, ऐसे लोग प्रायः 'कामी' स्वभावके होते हैं, यद्यपि वे बातोंमें या आचरणमें कोई लम्पटता नहीं दिखाते।

(३) जो लोग वेष-भूषा आदिसे शरीरको सजानेमें बहुत रुचि रखते हैं, वे स्त्री हों या पुरुष, प्रायः लम्पटताके दोषसे युक्त होते हैं। लोग मुझे सुन्दर देखें, इस भावसे शरीरको सजानेवालोंके मनमें 'काम' छिपा रहता है।

(४) जो लोग प्राकृतिक सौन्दर्यमें विशेष रुचि रखते हैं, प्रातःकालके और सन्ध्याके विविध रंगरञ्जित आकाशको बड़े चावसे देखते हैं, पक्षियोंके गानमें बड़ा सुख पाते हैं, दिनमें गम्भीर रहते हैं और रात्रिमें विशुद्ध आमोद-प्रेमी होते हैं, उनमें कलाकार-कविका भाव होता है। उनकी आमोदप्रियता मर्यादित होती है।

(५) जो लोग अपनी ही कहते रहते हैं, दूसरेकी सुनना चाहते ही नहीं, कोई कुछ बोलना चाहता है तो उसे तुरंत रोक देते हैं, और सत्यका प्रकट होना पसंद नहीं करते, ऐसे वाचाल लोग उदार तो होते ही नहीं, सत्यसे डरनेवाले होते हैं।

(६) जो मनुष्य अपनी बड़ाई सुनकर, उसका विरोध करते हुए भी, मन-ही-मन प्रसन्न होते हैं, वे 'मूर्ख' होते हैं और प्रायः दूसरोंके द्वारा ठगे जाते हैं।

(७) जो लोग बात-बातमें शपथ खाते हैं, उनका स्वभाव बहुत ओछा होता है। वे किसी गम्भीर विषयमें चित्तका संयोग प्रायः नहीं कर सकते।

(८) जो लोग हाँ-में-हाँ मिलाते हैं और अपना कोई सिद्धान्त नहीं रखते, वे 'चाटुकार' माने गये हैं और उनके लिये सत्यका सन्धान पाना बहुत कठिन होता है।

(९) जिन लोगोंको परनिन्दा बहुत प्यारी लगती है और परनिन्दा सुनानेवालोंसे जो बड़ा प्रेम रखते हैं, उनके हृदयमें द्वेष भरा है। द्वेष न हो तो निन्दा सुननेका मन ही न हो।

(१०) जिन लोगोंको गहरी रात्रिके समय सन्-सन् करनेवाली लंबी हवा अच्छी लगती है, वे प्रायः ही भावुक हृदयके या दार्शनिक भावोंके मनुष्य होते हैं।

(११) जो लोग एकान्तमें भजन, ध्यान, सद्विचार, सच्चिन्तन करते हैं, वे सच्चे साधक होते हैं।

(१२) जो लोग बात-बातमें कभी किसीको, कभी किसीको बुला-बुलाकर कानोंमें मुँह लगाकर बातें करते हैं, वे प्रायः अविश्वासी और सन्दिग्धमना होते हैं। ऐसे लोगोंपर दूसरोंको भी विश्वास नहीं करना चाहिये।

(१३) जो लोग रास्ता चलते हुए भी इधर-उधर ताकते रहते हैं, वे प्रायः मन्दबुद्धि या चोरस्वभावके होते हैं।

(१४) जो स्त्री पुरुषोंमें अधिक जाना-आना और पुरुषोंसे ही अधिक बातचीत करना पसंद करती है, उसके स्वभावमें प्रायः पुरुषाकर्षण-प्रवृत्तिका दोष रहता है।

(१५) जो स्त्री बात-बातमें मुसकराती है और आँखें नीची करके लज्जाका भाव दिखलाती है, उसका हृदय प्रायः कुटिल होता है।

वास्तवमें मनुष्यके स्वभावका पता अकेलेमें लगता है। इसलिये एकान्तमें वह क्या करता है, रातको अकेलेमें उसकी क्या चेष्टा होती है—यह देखना चाहिये। परंतु जो साधक है, अपना हित चाहता है, वह दूसरेका एकान्त क्यों देखे। उसे तो नित्य-निरन्तर अपना एकान्त देखना चाहिये, जिसका देखना अत्यन्त आवश्यक है और जिसको वह आसानीसे बिना भूलके देख भी सकता है। हम स्वयं, अपने मनके अंदर—मनके एकान्त कोनेमें—किस कोनेमें कब क्या हो रहा है, इसे भलीभाँति जान सकते हैं। अतएव उसीको देखे और उसमें दोष हो तो उसीके सुधारमें तत्परतासे लग जाय। तभी हमारा कल्याण होगा। शेष भगवत्कृपा।

हिंदू-संस्कृति और विकासवाद

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

संसार क्या है ? इसका निर्माण क्यों और कैसे हुआ ? इसकी क्रियाओंके नियम क्या हैं ? ये प्रश्न मनुष्यके मनमें सदासे ही उठते रहे हैं। इन प्रश्नोंमें केवल कौतूहल-पूर्ण जिज्ञासा ही नहीं है। हम जिस विश्वमें रहते हैं, उसके नियमोंको जानकर ही अपने जीवनक्रमको व्यवस्थित कर सकते हैं। अतएव विश्वकी गतिशीलताके नियम अवश्य जान लेने योग्य हैं। भारतीय महर्षियोंने बताया कि एक सर्वशक्तिमान् दयामय सत्ता है और उसने जीवोंके विनोदके लिये विश्वका निर्माण किया। विश्व जब बना, सम्पूर्ण दोषरहित था। धीरे-धीरे वह उसी प्रकार बिगड़ता जा रहा है, जैसे नये खिलौने पुराने होते जाते हैं या वर्षाका शुद्ध जल सड़ता जाता है। पाश्चात्त्य देशोंमें डार्विनने इसके विपरीत ठीक दूसरी बात कही। उसका मत है कि कोई चेतनसत्ता नहीं है। विश्व धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। उसमें गति स्वतः स्वाभाविक है।

विचारणीय यह है कि भारतीय विकृतिवाद तथा डार्विनके विकासवादमेंसे सत्य कौन-सा मत है। यदि भारतीय मत ठीक है—जो कि ठीक ही है, यह हम आगे देखेंगे,—तो ईश्वर स्वतःसिद्ध सत्ता है। फिर धर्माचार, आध्यात्मिकता आदि मनुष्यके जीवनके आदर्श होने चाहिये। यदि डार्विनका मत ठीक है तो चेतनसत्ता कोई नहीं है। मनुष्य भी एक पशुविशेष है। नास्तिक महापण्डितोंकी यह बात ठीक ही है कि 'ईश्वर मनुष्यका मानसपुत्र है और धर्म मनुष्यकी दुर्बलताओंका संघीभाव।'

हमें यह भूल नहीं जाना चाहिये कि विकासवादका जन्म इंग्लैंडमें हुआ है। वहाँकी सभ्यताका इतिहास ढाई-तीन सहस्र वर्षका है। यूरोपके दूसरे देशोंके असभ्य लोग जब अपने देशकी अपेक्षाकृत सभ्य जातियोंसे पराजित हुए, तब भागकर वहाँ जा बसे। वहाँ खेती आदिकी सुविधा थी नहीं। फलतः उनका रहा-सहा ज्ञान भी विस्मृत हो गया। वे केवल

समुद्री मछलियोंपर निर्वाह करनेवाले मछुए बन गये। पश्चिमी यूरोपीय देशोंकी भी उस समय यही दशा थी। रोम (इटली) के संसर्गसे धीरे-धीरे उनकी सभ्यताका विकास हुआ। अतएव डार्विनके विकासवादकी युक्तियाँ वहाँ ठीक प्रमाणित हुईं। पश्चिमी यूरोपके भी वे अनुकूल थीं। फलतः वहाँके विद्वानोंके हृदयमें वे बैठ गयीं। क्योंकि पश्चिमी यूरोप और ब्रिटेन शासकदेश थे, विश्वके तीन चौथाई देशोंपर उनका शासन था। अमेरिका, आस्ट्रेलियामें वही उपनिवेश बनाकर बसे थे। उनकी इस मान्यताका खूब प्रचार हुआ। शासित देशोंके विद्वानोंने भी आँख मूँदकर उनका अनुसरण किया। यों तो अब यूरोप तथा ब्रिटेनके वैज्ञानिक विकासवादको दो युग पीछेका भ्रमपूर्ण सिद्धान्त बतलाते हैं और उसे स्वीकार नहीं करते; परंतु इतिहास, भूगर्भशास्त्र, पुरातत्त्व आदि सभी विद्याओंपर विकासवादकी धारणाका प्रभाव पड़ा था और अबतक वह चल रहा है। विकासवादको अस्वीकार करके भी पश्चिमी यूरोपमें सभ्यताके विकासके कारण इन विद्याओंमें परिवर्तनकी आवश्यकता ज्ञात नहीं हो रही है और न है; परंतु भारत, मिस्र आदि देशोंमें तो सभी विभागोंके ग्रन्थोंको नये सिरेसे लिखना आवश्यक होगा। अबतकके पाश्चात्त्य सिद्धान्तोंको अस्वीकार करके दूसरे ही ढंगसे समस्त ज्ञानको सजाना होगा। इन प्राचीन सभ्य देशोंके विद्वान् पाश्चात्त्योंका अनुकरण करनेके कारण सभी विषयोंको भ्रमात्मक बना चुके हैं और अभी भी उसी प्रवृत्तिका अनुगमन करते हैं। अतएव डार्विनके विकासवाद-की आलोचना अभी इन देशोंमें बहुत आवश्यक है।

विकासवादके प्रमाण

वैज्ञानिक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। अन्ततः डार्विनको ऐसे कौन-से प्रमाण मिले, जिससे उसने विकासवादके सिद्धान्तोंको स्थिर किया ? इसके उत्तरमें विकासवादी निम्न पाँच विद्याओं-का नाम लेते हैं—

१—जाति-विभाग।

२—तुलनात्मक शरीर-रचना।

३—लुप्त जन्तुओंके प्राप्त शरीर।

४—गर्भ-वृद्धिक्रम।

५—भौगोलिक रचना।

इन विषयोंपर पाश्चात्त्य विद्याविशारदोंने बहुत अन्वेषण (!) किया है। यहाँ विकासवादके इनके सम्बन्धमें अपने सिद्धान्त और उन सिद्धान्तोंकी आलोचना क्रमशः करना पर्याप्त होगा। १—जाति-विभाग। इसमें विश्वके दो विभाग हैं—वनस्पति और प्राणी। विकासवादी वैज्ञानिक वनस्पति-विभाग छोड़ देते हैं; क्योंकि तृणसे वट-जैसा महावृक्ष कैसे विकसित हुआ, यह उनके वशकी बात नहीं। प्राणिवर्गके भी दो विभाग हैं—बिना रीढ़वाले प्राणी और रीढ़की हड्डीवाले। इन प्राणियोंमें भी श्रेणीविभाग किया जाता है; किंतु ऐसा श्रेणीविभाग अभी निश्चित नहीं कहा जा सकता। रुधिर-परीक्षणसे प्राणियोंमें चार प्रकारके रक्त पाये गये हैं। गोल, चपटे, अण्डाकार तथा चपटे अण्डाकार रक्त-कण होते हैं। छोटे कीड़ोंमें रक्तके स्थानपर कुछ चिपचिपा जल होता है। क्यों गोल या चपटा रक्तकण वर्तुलाकार हुआ ? विकास-वादी रक्तके परिवर्तनका कोई कारण बता नहीं पाते। जाति-विभागके मुख्य आधार रक्तकण हैं और जब यही नहीं बताया जा सकता कि एक रक्तकण दूसरे रक्तकणमें क्यों बदलता है, तब वह बदलता ही है, ऐसी भ्रमात्मक बात क्यों मानी जाय ?

दूसरा प्रमाण तुलनात्मक शरीर-रचनाका है। सच्ची बात तो यह है कि इसी बातने डार्विनको भ्रममें डाला और एक बार भ्रमको सत्य मान लेनेपर बहुत-से कल्पित प्रमाण एकत्र कर लिये गये। बन्दर, वनमानुष, जावाके जंगली मनुष्य, हब्शी और यूरोपियन—इन आकृतियोंमें कुछ समता है। ऐसे ही चमगीदड़ पशु एवं पक्षियोंके बीचका है। उड़नेवाली गिलहरी, तेंदुआ सब ऐसे ही प्राणी हैं। ऐसी ही समानता विकासवादी लेते हैं। गाय, घोड़ा, हिरन, गधा, हाथी, ऊँट—ये सब खुरवाले पशु हैं। इस प्रकार मनुष्यसे कीड़ोंतक आकृति-योंमें कुछ-न-कुछ समताका क्रम मिल जाता है और जहाँ नहीं मिलता, वहाँ मान लिया जाता है कि सन्धि-योनियोंके प्राणी पृथ्वीपरसे नष्ट हो गये।

यह तो ठीक है कि आकृतियोंमें समताका तारतम्य है; परंतु क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ये जीव एक दूसरेके विकसित रूप हैं ? अन्ततः यह विकास क्यों हुआ ? किस पद्धतिपर हुआ ? वैज्ञानिक कहते हैं कि विकास-का कारण परिस्थिति है। जैसे पानीमें लकड़ी तैरती थी। उसपर कीड़े थे। उन कीड़ोंको खानेके लिये जो मछलियाँ कूदने लगीं, वे धीरे-धीरे मेढक हो गयीं। जो मेढक वृक्षपर कीड़े पकड़नेका प्रयत्न करने लगे, वे आगे जाकर गिलहरी बन गये। आकृतियोंके इस परिवर्तन-सिद्धान्तकी आलोचना तो पीछे करेंगे; पहले यह देखिये कि क्या यह सम्भव है ?

आज सहस्रों वर्षोंका इतिहास प्राप्त है—इतने वर्षोंमें एक भी वैज्ञानिक-प्रयोगशाला लाख सिर मारकर भी एक मेढक-को गिलहरी या एक मछलीको मेढक न बना सकी। इन जीवोंमें थोड़ा भी परिवर्तन नहीं हुआ। ब्रिटेनके दो प्रसिद्ध भेड़ पालनेवालोंमेंसे एकने निश्चय किया कि वे अपनी भेड़ोंको हाथीके बराबर बनायेंगे और दूसरे भेड़ोंको चूहोंके बराबर बनानेमें लगे। वैज्ञानिकोंकी सलाहें ली गयीं। सहस्रों पाउण्ड व्यय हुए। वर्षोंके परिश्रमके पश्चात् ज्ञात हुआ कि कुछ इंच भेड़ें बढ़ीं और घटी हैं तथा आगे घटना और बढ़ना बंद हो गया है। आकार भी घटाया-बढ़ाया न जा सका तो भेड़से ऊँट या चूहा बननेकी तो बात ही दूर। भेड़ोंने सिद्ध कर दिया कि वे अपने समान चरनेवाली बकरी भी नहीं बनना चाहतीं।

एक टेढ़ा प्रश्न और है—जो सन्धियोनियाँ मिलती हैं, वे अबतक क्यों उसी प्रकार हैं? जब चमगीदड़ पशुसे पक्षी बन रहा था, तब क्यों उसके सब साथी सफल हो गये और वह अभी अधरमें लटक रहा है? क्यों जलके छोटे जीव अभी ज्यों-के-त्यों हैं? नालीमें पड़े अन्नके सड़नेपर पूँछवाले कीड़े आपने देखे होंगे, सभी देशोंमें ये इसी आकृति-के होते हैं। मूत्रके कीड़े भी सब कहीं एक-से होते हैं। किसी देशकी परिस्थिति इन्हें अपनी शीत या उष्णतासे दूसरा रूप नहीं दे पाती।

तुलनात्मक शरीर-रचनामें घोड़ा एक बड़ा भारी रोड़ा है। पुरुष घोड़ेके स्तनके चिह्न नहीं होते। उसके टाप होता है, खुर नहीं। बच्चा देते समय घोड़ीकी जिह्वा गिर जाती है। यह सब विशेषता उसमें कैसे आयी? फिर जो प्राणी घोड़ेसे आगे विकसित हुए, उनमें यह विशेषता क्यों नहीं आयी? अनावश्यक होनेसे जब पुरुष घोड़ेके स्तन-चिह्न लुप्त हो गये तो आगेके पुरुष प्राणियोंमें उनकी क्या आवश्यकता हो गयी? बकरीके गलस्तन, मनुष्यकी छठी अँगुली किस आवश्यकताके लिये विकसित होते हैं?

सच्ची बात तो यह है कि इस शरीररचनाके निरीक्षणमें ही दोष है। डार्विन स्वयं जब उत्तरी ध्रुवदेशमें गये तो वहाँके मनुष्योंको देखकर पहचान न सके कि ये पशु हैं या मनुष्य, किंतु वनमानुष उन्हें मनुष्यका पूर्वज लगा। ध्रुव-देशके वे अत्यन्त छोटे मनुष्य, चौदह इंच मोटे ओठोंवाले दक्षिणी अमेरिकाके हब्शी और एक अंगरेज, ये सब मनुष्य हैं, यद्यपि इनकी आकृतियोंमें बहुत अन्तर है। वनमानुषों (गुरिल्लों) की कोई-कोई जाति इससे भी कम अन्तर मनुष्याकृतिसे रखती है, पर वे मनुष्य नहीं हैं।

एक सिद्धान्त भारतीय 'समानप्रसवात्मिका जातिः'का है। जिन प्राणियोंके परस्पर संयोगसे सन्तति-परम्परा चल सके, उन्हें जाति कहना चाहिये। चाहे आकृतियाँ कितनी भी मिलें, परंतु गधे एवं घोड़ेके मेलसे उत्पन्न खच्चरकी जाति नहीं चलती। खच्चरी गर्भ धारण करते ही मर जाती है। खच्चरमें वीर्य होता ही नहीं। इसी प्रकार कलमी वृक्षोंके बीज या तो उगते नहीं या उगकर फल नहीं देते और फल देते भी हैं तो फल मूल बीजू वृक्ष-जैसा देते हैं।

आकृतियोंमें इतनी समानता क्यों है? इसका बड़ा सीधा उत्तर है कि यह समानता बतलाती है कि कोई सृष्टिकर्ता चेतनतत्त्व है और उसके मन है। वह मनोयोगसे सृष्टि-रचना करता है। मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि मनका स्वभाव है कि वह एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थको सहसा नहीं सोचने लगता। पहले पदार्थके किसी सादृश्यके आधारपर ही दूसरे पदार्थतक जाता है। मनके इसी धर्मके कारण हमारे जीवनकार्योंमें तारतम्य एवं सादृश्य होता है। सृष्टिकर्ताके मनका भी यही धर्म होना चाहिये। अतः एक जीव-सृष्टिसे दूसरे जीवकी सृष्टिमें उनके मनकी सादृश्यता ही लक्षित होती है।

तीसरा प्रमाण विकासवादियोंका लुप्त जन्तुओंके प्राप्त चिह्न हैं। विकासवादी इसीको सबसे पुष्ट आधार मानते हैं; पर वे स्वीकार करते हैं कि प्राप्त प्रमाण अभी अपर्याप्त हैं। पृथ्वीमें खोदनेपर जीवोंके बहुतसे अस्थिपंजर मिले हैं। 'चट्टानोंमें दबे जीवोंके चिह्न मिले हैं। प्रायः सभी संग्रहालयों (अजायबघरों) में इनका एक विभाग होता है। विकासवादी वैज्ञानिकोंकी यह कठिनाई स्वीकार करने योग्य है कि समूची पृथ्वी खोदी नहीं जा सकती। बहुत-से अस्थि-पंजर नष्ट हो जाते हैं। संयोगवश ही कोई प्राणी ऐसे स्थान-पर दबा रह जाता है, जहाँ सड़े-गले नहीं। ऐसे प्राणी समस्त पृथ्वीभरमें होंगे। अतः प्राप्त प्रमाण अत्यल्प हैं। इनमें भी केवल अस्थिवाले जीवोंके ही अवशेष मिलते हैं। जिनमें अस्थि नहीं है, वे तो सड़-गल जायँगे।

जो प्रमाण मिले हैं, उनमें देखा गया है कि भूमिके नीचेकी तहोंमें केवल छोटे जीवोंके चिह्न हैं। जैसे-जैसे ऊपरी तहें आती हैं, उन्नत (इसका अर्थ केवल बड़े) जीवोंके चिह्न मिलते हैं। मनुष्यके चिह्न तो सबसे ऊपरके

स्तरमें ही हैं। इसीलिये जीवोंका क्रमविकास पृथ्वीपर सिद्ध किया गया है। लेकिन वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पृथ्वीके एक स्तरको बननेमें कई शताब्दियाँ लगती हैं। एक स्तरके ऊपर जब दूसरा स्तर बनता है, तब नीचेके स्तरपर भार बढ़ जाता है। बहुत नीचेके स्तर भारकी अधिकतासे टूटकर एक हो गये हैं। ऐसी दशामें यह स्वतः सिद्ध है कि जो स्तर जितने नीचे हैं, उनको उतना अधिक काल व्यतीत हुआ है। हड्डी भी दीर्घकालमें मिट्टी बन जाती है, यह सब जानते हैं। अधिक भारसे बड़े अस्थिपंजर दब जायँगे और पत्थरोंकी संनिधियोंमें बचे छोटे जीवोंके अवशेष ज्यों-के-त्यों रहेंगे, यह स्वाभाविक है। इस प्रकार पहले छोटे ही प्राणी थे, यह नहीं कहा जा सकता।

अस्थिपंजरोंका पहचानना और भी टेढ़ा है। गधे, टट्टू और जुर्रावके पंजर पास-पास हों तो उनको कैसे पहचाना जाय? यदि पृथ्वीसे सब शेर नष्ट हो गये होते तो उनके अस्थिपंजर देखकर वैज्ञानिक यही तो कहते कि किसी समय बिल्लियाँ गधेके बराबर होती थीं। प्राप्त अस्थिपंजरों (फॉसिलों) से भी कुछ सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्धका लंदनका संग्रहालय विश्वमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और उसके अध्यक्षसे यह तो आशा करनी ही चाहिये कि वह विश्वके दूसरे संग्रहालयोंकी विशेषताओंसे परिचित होगा। वह ब्रिटिश संग्रहालयका अध्यक्ष डाक्टर एथ्रिज कहता है—'इस ब्रिटिश म्यूजियममें एक कण भी ऐसा नहीं, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियोंमें परिवर्तन होता है। विकास-सम्बन्धी दसमें नौ बातें व्यर्थ और सारहीन हैं। इनके परीक्षणोंका आधार सत्यता और निरीक्षणपर सर्वथा अवलम्बित नहीं है; पूरे विश्वमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो विकास-सिद्धान्तकी पुष्टि करती हो।'

अगस्त सन् १९२३ के 'थियासॉफिकल पाथ' पत्रमें एक समाचार निकला है—'जॉन टी० रीडको नेवाड़ामें एक आदमीके पद-चिह्न और अच्छी प्रकार बने हुए जूतेका एक तला प्राप्त हुआ है। इसमें सिलाई, धागोंके मरोड़, सीनेके छेद, धागोंके माप जो मिले हैं, वे आजकलके बने अच्छे-से-अच्छे जूतेसे पक्के और सूक्ष्म हैं। चट्टानविषयक भूगर्भ-विद्यासम्बन्धी ज्ञानके अनुसार इस जूतेके तलेको पचास लाख वर्ष पुराना समझा जाता है।' इसका अर्थ हुआ कि पचास लाख वर्ष पूर्व मनुष्य इतना सभ्य था कि आजकी अपेक्षा अच्छे जूते बनाकर पहनता था। तब मनुष्यका विकास कब हुआ? विकासवादके अनुसार पृथ्वीकी आयु बहुत छोटी है, यह स्मरण रखना चाहिये।

चौथा प्रमाण विकासवादियोंका गर्भका विकास-क्रम है। मनुष्य सर्वाधिक विकसित प्राणी है; अतएव मानव-शिशु गर्भमें उन सब अवस्थाओंमें दिखलायी पड़ता है, जिन योनियोंमें विकसित होते हुए वह मनुष्य-शरीरमें आया है। विभिन्न समयोंके गर्भस्थ शिशुओंके नमूने सुरक्षित रक्खे गये हैं। इस सम्बन्धमें वैज्ञानिक कहते हैं कि जिस नियमसे प्राणीका विकास हुआ है, वही नियम गर्भका भी है।

इस प्रमाणके सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिये कि लुप्त जन्तुओंके शरीरोंकी भाँति इसमें मध्यकी कड़ियोंके न मिलनेके कारण नहीं हैं। गर्भको पूरा-पूरा विकास-क्रम दिखलाना चाहिये; परंतु ऐसा होता नहीं है। विवश होकर विकासवादी कहते हैं कि गर्भशास्त्रके विकास-क्रममें भी अध्याय-के-अध्याय लुप्त हैं अर्थात् मध्यकी बहुत-सी आकृतियाँ गर्भमें नहीं मिलतीं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर नहीं है। उदाहरणके लिये मुर्गीको वे सर्पणशीलोंसे पक्षी हुआ मानते हैं; किंतु गर्भमें मुर्गीके सर्पणशीलोंके दाँत नहीं दिखायी पड़ते। चमगीदड़का पशुओंसे पक्षी होना बताया जाता है, क्योंकि उसके स्तन हैं; किंतु चमगीदड़के गर्भमें भी पशुओंके पूरे चिह्न नहीं हैं। मनुष्य पक्षीसे इस योनिमें आया है। मानव-गर्भ मछली, मेंढक, पक्षी, बंदर, वनमानुषका रूप बताया जाता है; किंतु मनुष्यगर्भमें चोंच तथा डैने कभी स्पष्ट नहीं होते।

बात यह है कि कोई भी बच्चा सहसा नहीं बन जायगा। पिण्डके बननेमें अवयव क्रमशः प्रकट एवं स्पष्ट होंगे। अपुष्ट तथा अप्रकट अवयवोंमें मनमानी कल्पना कर लेना एक बात है और सचमुच गर्भका वैसा प्राणी होना दूसरी बात। बच्चे बादलोंमें घोड़े, हाथी, ऊँटकी आकृतिकी कल्पना करते हैं। गर्भके सम्बन्धमें भी ऐसी ही कल्पना विकासवादी करते हैं। नहीं तो मनुष्यका गर्भस्थ शिशु न तो एक बार भी मछली या मेंढकके समान गलफड़ोंसे श्वास लेता पाया गया है और न उसमें पक्षियोंके पक्षके लक्षण आते हैं; यही दशा सभी प्राणियोंके गर्भकी है।

पाँचवाँ प्रमाण विकासवादी भौगोलिक शास्त्रको बतलाते हैं। कम-से-कम इस शास्त्रको उन्होंने क्यों प्रमाण माना, यह समझमें आना कठिन है। क्योंकि इसके सम्बन्धमें वे स्वयं जो कुछ कहते हैं, वह उनका खण्डन करता है, समर्थन नहीं

करता। वैज्ञानिकोंका कहना है कि संसारके सभी स्थानोंमें एक प्रकारके प्राणी नहीं हैं। जहाँकी जैसी परिस्थिति है, वहाँ वैसे प्राणी हैं। जैसे हिमप्रान्तके प्राणी उष्ण देशोंमें नहीं हैं। बात तो ठीक है, पर वे चाहते क्या हैं? क्या वे चाहते हैं कि मछलियोंको घासके मैदानोंमें टहलना चाहिये और ऊँटको समुद्रमें डुबकी लेते मिलना चाहिये? जिस प्राणीके स्वभाव, आकृति, आहारके अनुरूप जो स्थान है, वह वहाँ पाया जाता है।

विकासवादी ही कहते हैं कि यूरोपियनोंके जानेसे पूर्व आस्ट्रेलियामें शशक नहीं थे, यद्यपि उनके रहने योग्य वहाँ परिस्थिति थी। जब वे वहाँ लाकर छोड़े गये तो खूब बढ़ गये। ऐसे उदाहरण बहुत-से प्राणियोंके सम्बन्धमें मिल सकते हैं। इन उदाहरणोंका तो यही अर्थ हुआ कि परिस्थिति अनुकूल होनेपर भी प्राणियोंका स्वतः विकास नहीं होता। उनका बीज तो लाना पड़ता है। भारतका मयूर दूसरे स्थानोंपर कम पहुँचा है, अतः उसकी सन्तति भी अन्यत्र कम है। स्वयं वह कहीं किसी पक्षीसे विकसित नहीं हो गया।

इस प्रकार विकासवाद जिन पाँच प्रमाणोंपर निर्मित हुआ है, उनमेंसे पाँचों ही प्रमाण मानने योग्य नहीं हैं। उनमेंसे एक भी प्रमाण ऐसा नहीं है, जिससे विकासवाद सिद्ध होता हो। प्रमाणोंको छोड़कर विकासवादके सिद्धान्तों एवं नियमोंकी आलोचना भी कर लेनी चाहिये। विकासवादी कहते हैं—'पृथ्वी धीरे-धीरे शीतल हो रही है। पहले यह एक धधकते गैस (वायव्य अग्नि)-गोलकके रूपमें थी। धीरे-धीरे शीतल हुई और तब क्रमशः जल एवं भूमि प्रकट हुए। बहुत समय पश्चात् जलमें जीवन-बीज प्रकट हुआ। यह जीवन-बीज क्यों और कहाँसे आया, इसका उत्तर वे दे नहीं पाते, परंतु इतना मानते हैं कि वह पाञ्चभौतिक तत्त्वसे ही किसी प्रकार बना। पहले जीवन-बीज एक कोष्ठका था। धीरे-धीरे उसीसे वनस्पति एवं प्राणिजगत्का विकास हुआ।

विकास सदा यन्त्रकी भाँति होता है। आरम्भिक शरीर सीधे सरल थे, वे क्रमशः जटिल होते गये। विकासकी प्रवृत्ति प्रकृतिके संघर्षोंमें जीवन-रक्षा एवं भोजन-प्राप्तिकी आवश्यकताके कारण हुई। जैसे तैरती लकड़ीपर कीड़े पकड़नेका प्रयत्न करते-करते मछलियाँ क्रमशः मेढक हो गयीं। प्रकृतिके संघर्षमें जो प्राणी अपनेको अनुकूल बना पाते हैं, वे बच रहते हैं और शेष नष्ट हो जाते हैं। प्रकृतिमें सदा योग्यकी रक्षा एवं अयोग्यके विनाशकी प्रवृत्ति है। वे विशेषताएँ जो एक जीवमें उसके प्रयत्नसे आती हैं, उसकी सन्तानमें भी आ जाती हैं। इस प्रकार सन्ततिक्रमके द्वारा विशेषताएँ बढ़ती जाती हैं और वह एक नवीन आकृति बना देती है। साथ ही जो जीव अपने जिस अङ्गसे काम लेना बंद कर देते हैं, वे अङ्ग धीरे-धीरे असमर्थ होकर लुप्त हो जाते हैं।'

विकासवादके सिद्धान्तोंकी आलोचना

विकासवादके सिद्धान्त ऊपर संक्षेपमें दिये जा चुके। पृथ्वी क्रमशः शीतल हुई और होती जा रही है, यह बात ही प्रथम विश्वसनीय नहीं है। सब जानते हैं कि शीत देशोंके पुरुष लंबे होते हैं और उष्ण देशोंके ठिंगने होते हैं। यदि पृथ्वी क्रमशः शीतल हो रही है तो सभी देशोंके मनुष्योंकी लंबाई अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा बढ़नी चाहिये। प्रत्यक्ष तथा मिले कंकालोंपरसे यह निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि सभी देशोंमें मनुष्यकी लंबाई घटी है और बराबर घटती जा रही है।

जीवन-बीज पृथ्वी, जल आदिसे ही बना—यह कल्पना ही है। प्रत्यक्ष सत्य तो यह है कि नदीमें रेत निकलनेपर, समुद्रमें नवीन टापू प्रकट होनेपर तबतक वहाँ कोई पेड़, तृण या जीव नहीं हो पाते, जबतक उनके बीज बाहरसे वहाँ न पहुँचें। यद्यपि बीजके बढ़नेके, पोषणके योग्य वहाँ परिस्थिति होती है, तथापि बीज स्वयं वहाँ उत्पन्न नहीं होता। यही बात शरीरोंके सरल एवं क्रमशः जटिल होनेके सम्बन्धमें है। अमीबाको प्रारम्भिक एक कोष्ठक जीव कहा जाता है। वह सरेस या गोंदके एक बिन्दुके समान है। वह चाहे जहाँसे अपने शरीरमें छिद्र करके अपना भोजन ग्रहण कर लेता है। शरीरमें चाहे जहाँ छिद्र होनेपर भी उसके भीतरका द्रव बहता नहीं। वह भोजन पचाता है, अपना भोजन पहचानता है और उसीको लेनेमें प्रवृत्त होता है, मल-त्याग करता है। अब उसके शरीरकी रचनाको सरल कहना केवल धृष्टता नहीं तो क्या है? मनुष्यके पश्चात् सबसे बुद्धिमान् प्राणी चींटी है; किंतु उसके मस्तिष्कमें क्या है? उस रचनाको तो अभी समझना ही कठिन है। अतएव किसी प्राणीके शरीरकी रचना जटिल और किसीकी सरल है, यह बालकों-जैसी कल्पना है। सभी प्राणी आहार पहचानते, ग्रहण करते, पचाते, मल त्यागते तथा सन्तानोत्पादन करते हैं, सब भयका अनुभव करते और आत्मरक्षाका प्रयत्न करते हैं। इन

कार्यके योग्य यन्त्र सबमें हैं। अतः सबकी रचना एक-सी जटिल है।

आहारके अन्वेषण तथा जीवन-रक्षाके प्रयत्नके अनुसार आकृतियोंमें परिवर्तन हुए। आवश्यक अङ्ग, जिनसे काम लिया गया, बढ़ गये और अनावश्यक अङ्ग क्षीण हो गये, यह बात भी सत्य नहीं है। जिन प्राणियोंमें हड्डी नहीं थी, उनमें हड्डी कैसे बनी? इसका कोई उत्तर विकासवादियोंके पास नहीं है। वे कहते हैं कि जैसे हाथमें कार्य करनेसे घट्टे पड़ते हैं, वैसे ही कोई नस कठोर हो गयी होगी या हड्डी बनानेवाली वस्तुएँ खानेसे हड्डी बनी होगी। इन दोनों ही बातोंमें तथ्य नहीं है। घट्ठे शरीरके बाहर पड़ते हैं और वे कभी इस रूपमें नहीं आते कि उन्हें हड्डीका पूर्वरूप कहा जा सके। उनमें सदा चर्म ही रहता है, चाहे वह कितना भी कड़ा हो जाय। दाँत स्पष्ट बतलाते हैं कि वे स्नायुसे नहीं बने हैं। वे नसके अङ्ग होते तो गिर न सकते। नसमें चूनेका वह अंश ही नहीं, जिससे हड्डी बनती है। जोंक, खटमल, जूँ—ये मनुष्य एवं पशुओंके अस्थि बनानेवाले रक्तसे ही जीवित रहते हैं, परंतु इनमें अस्थिका नामतक नहीं, अतः अस्थि बनानेवाले भोजनसे अस्थि स्वतः बन गयी। यह बात भी ठीक नहीं।

अस्थि, मान लीजिये, किसी प्रकार बन गयी; पर उसमें परिवर्तन कैसे होता है? क्योंकि अस्थिवाले प्राणियोंकी आकृतिमें परिवर्तन तो अस्थिमें परिवर्तन हुए बिना हो नहीं सकता। भोजनकी आवश्यकता या आत्मरक्षाकी आवश्यकताका अनुभव मनको होता है। अस्थिपर मनका कोई नियन्त्रण नहीं है। दाँतोंमें छिद्र करनेसे कष्टका अनुभव नहीं होता। टूटी हड्डी जब शरीरसे बाहर आती है, डाक्टरकी रेतीके चलनेपर भी कष्ट नहीं होता। जब मनका अस्थिपर कोई नियन्त्रण ही नहीं है तो मनके द्वारा अनुभूत आवश्यकतासे अस्थिमें परिवर्तन कैसे सम्भव है।

दूसरी बात यह है कि आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन होते तो कहीं देखा नहीं जाता। भारतमें, अफ्रिकामें रीछ भी हैं और भैंस भी हैं। गाय और भैंसें साथ-साथ रहती हैं। भैंसको गर्मी और शीत दोनोंमें कष्ट होता है, परंतु आवश्यकता उसके शरीरपर गाय-जैसा मोटा बालयुक्त चमड़ा न बना सकी। साइबेरियाके मनुष्योंके शरीरपर भी रीछ-जैसे बाल नहीं उगे। उन बेचारे एस्किमो लोगोंको मछलीका चमड़ा पहनना पड़ता है। इस प्रकार कहीं भी आवश्यकताके अनुसार परिवर्तन देखनेमें आता नहीं।

निरन्तरके अभ्याससे यदि कोई अङ्ग घट जाता होता तो आर्य अपने बच्चोंका सहस्रों वर्षोंसे कर्णवेध करते हैं; किंतु एक भी बच्चा जन्मसे कानोंमें छिद्र लेकर नहीं उत्पन्न हुआ। चीनी स्त्रियोंके युगोंके प्रयत्नसे भी उनके पैर छोटे नहीं उत्पन्न होते। मनुष्य पक्षियोंसे उत्पन्न हुआ बताया जाता है। उसने उड़नेके लिये विमान बनाया। भला, क्या पक्ष भी ऐसी वस्तु थी जो व्यर्थ हो जाय। फिर पक्षका लोप क्यों हुआ? कहा जाता है कि मयूरके पक्ष काम न लेनेसे दुर्बल हो गये; परंतु अभी भी उसे कुत्ते, शृगालसे भय है। अतः पक्षकी आवश्यकता गयी तो नहीं थी। कोई मनुष्य नहीं चाहता कि उसके बाल पक जायँ, उसके दाँत गिर जायँ। वह दाँतोंसे काम भी लेता ही है। इतनेपर भी बाल पक जाते हैं। दाँत गिर जाते हैं।

प्रकृतिमें योग्य ही टिक पाते हैं और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं—यह बात जितनी मिथ्या है, उतनी ही भयङ्कर भी। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक जाति अहङ्कारवश अपनेको सर्वश्रेष्ठ मान लेती है और कल्पना कर लेती है कि शेष समस्त विश्व उसीके उपभोगके लिये है, उसे अपनी उन्नतिके लिये दूसरोंको नष्ट करनेका नैतिक अधिकार है। जर्मनी-जापानादिने इस धारणाका खुला प्रचार किया था। यह सिद्धान्त स्थिर करनेवाले यह नहीं देखते कि जिस अमीबाको वे निकृष्टतम प्राणी कहते हैं, वह विश्वमें दूसरे सब जीवोंसे अधिक हैं और उन्नततम मनुष्यकी संख्या किसी भी जातिके कीड़ेसे कम है। यदि प्रकृतिमें उन्नत जीवोंको ही रखनेकी प्रवृत्ति होती तो एक भी कीट आदि न होता।

विशेष संस्कार सन्ततिमें आते हैं, यह सिद्धान्त बहुत थोड़ी दूरतक ही ठीक है। नियम तो यह है कि जिस प्राणीका जो स्वभाव है, वही उसकी सन्तानमें आता है। यदि कोई प्राणी कोई अतिरिक्त विशेषता उत्पन्न कर ले तो सन्तानमें वह अतिरिक्त विशेषता नहीं आती। जो बहुत विद्वान् हैं, उनके पुत्र प्रतिभाशाली ही हों, यह आवश्यक नहीं। बकरीके गलस्तन तथा मनुष्यकी छठी अँगुली सन्तानमें नहीं आती। इसी प्रकार कर्णवेधका छिद्र, खतनेका चिह्न, छोटे किये गये पैर भी सन्ततिमें नहीं आते। कृत्रिम रीतिसे जो विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं, उनका प्रयत्न भी स्वाभाविकताकी ओर ही जानेका है। यदि बगीचेके कलमी वृक्षोंकी सम्हाल न रक्खी जाय तो थोड़े दिनोंमें वे बीजू हो जाते हैं। सिंह तथा बाघके योगसे सन्तान होती है; किंतु

जब उस मिश्रित सन्तानसे सन्तान पैदा करायी जाती है तो बच्चा सिंह या बाघ हो जाता है। इस प्रकार नवीन प्राणी बनाया नहीं जा पाता।

विकासवादके समर्थक कहते हैं कि 'मनुष्य स्त्रियोंके कई बच्चे होते हैं, उनमें कहीं-कहीं छःसे आठतक स्तन देखे गये हैं; इससे सिद्ध है कि मनुष्य पशुओंसे विकसित हुआ है।' मनुष्योंमें तो और भी विशेषताएँ हैं, वह भेड़ियेकी माँदमें पाले जानेपर बिलमें रह सकता है और कच्चे मांस खा सकता है। मृगोंद्वारा पाले जानेपर चालीस मील प्रतिघंटेकी गतिसे छलाँग भरता भी देखा गया है; किंतु ये सब विशेषताएँ तो उसे बन्दरके बाद मनुष्य होनेपर मिली हैं न ? बन्दर भी तो मनुष्यके समान ही निम्न योनियोंसे विकसित हुआ है। मनुष्यसे छोटा होनेपर भी दूसरी योनियोंसे तो बड़ा है ही। बन्दरियाके दोसे अधिक स्तन क्यों कभी देखे नहीं जाते ? क्यों बन्दरिया चार-छः बच्चे कभी नहीं देती ? बन्दरको भी आप भेड़ियेकी माँदमें पाल सकेंगे क्या ?

विकासवादी भी मानते हैं कि कुछ स्थिर जातियाँ हैं। सृष्टिके आरम्भसे अबतक उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर नहीं है। क्यों अमीबा जीवित रहा और उससे अधिक योग्य प्राणियोंकी जातियाँ नष्ट हो गयीं ? इसका भी उत्तर नहीं है। जन-संख्याके अनुसार विश्वमें बहुत लंबे और बहुत ठिंगने व्यक्ति थोड़े ही हैं। इनमें मध्यम कदके ही अधिक हैं। ऐसा क्यों है ? यह भी समाधानहीन प्रश्न है। वैज्ञानिक यह जानते हैं कि मेढक, मछली, सर्प—इन सबकी आयु बहुत अधिक है; परंतु मनुष्य, पशु तथा पक्षियोंकी आयु उनके सम्मुख अत्यल्प है। इस प्रकार आयुकी दृष्टिसे ह्रास हुआ है। भोजनकी दृष्टिसे भी सर्प, मछलीका आहार कम है। वे निराहार भी पर्याप्त समयतक रह सकते हैं। मेढक महीनों बिना भोजनके रह सकता है। पशु एवं पक्षियोंमें भोजनकी आवश्यकता बढ़ गयी। यहाँ भी असुविधा ही बढ़ी। इस प्रकार किसी भी रीतिसे विकासवादका कोई सिद्धान्त ठीक नहीं सिद्ध होता।

मद्रास हाईकोर्टके जज श्री टी० एल्० स्ट्रैंजने लिखा है—'जलकृमियोंमें भिन्न-भिन्न स्वरूपके जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं। उनके लिये एक दूसरे जन्तुसे विकृत होकर उत्पन्न होना आवश्यक नहीं। एक-दूसरेसे अपेक्षारहित होकर एक ही समय वे अलग-अलग आकारके उत्पन्न होते हैं।

प्रोफेसर गेडिसका कहना है—'यह मान लेना चाहिये कि मनुष्यके विकासके प्रमाण संदिग्ध हैं और उनके लिये विज्ञानमें अब कोई स्थान नहीं है।' यह एक व्यक्तिकी बात नहीं है। अमेरिकाकी कई रियासतोंने डार्विनकी शिक्षाको अनियमित घोषित कर दिया है। वहाँ विकासवादकी चर्चा अपराध है। एक अमेरिकन जजने प्रोफेसर जॉन स्कोप्सपर एक सौ डालर जुर्माना करते हुए फैसलेमें लिखा था—'अभियुक्तने शिक्षा दी कि मनुष्य छोटे-छोटे पशुओंका विकसित रूप है।' सिडनी कॉलेटका कहना है कि 'विज्ञान स्पष्ट कहता है कि मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके बदले उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है। मनुष्यकी आरम्भिक दशा उत्तम थी।'

न्यूटनका सिद्धान्त है कि गतिको रोकनेके लिये शक्तिकी आवश्यकता है, बनाये रखनेके लिये शक्तिकी आवश्यकता नहीं है। गति और उष्णता एक ही तत्त्वके रूप हैं, आज यह सिद्ध हो चुका है। पृथ्वी जब वायुहीन स्थानमें अग्निका गोला थी तो शीतल कैसे हुई ? वायुहीन बोतलमेंका गरम पानी आज शीतल नहीं होता और होता भी है तो इसलिये कि बोतलपर बाहरी वायुका प्रभाव पड़ रहा है। पृथ्वी जब अग्निगोलक थी, तब तो वायु थी ही नहीं। अतः उस समय उसमें शीतलता आना सम्भव ही नहीं।

विकासवादियोंमें हक्सलेने कहा था कि प्राचीन समयमें भारतीय भी विकास मानते थे। कुछ वैज्ञानिक अवतारोंके क्रमको विकासवादका पोषक बतलाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भारतका नाम लेकर वे अपनी भ्रान्त धारणाका अनुचित ढंगसे पोषण करना चाहते हैं। वे जानते हैं कि जब मत्स्य-कच्छपादि अवतार हुए, तब सृष्टिमें सभी प्राणी विद्यमान थे। वे अवतार प्राणियोंका विकास करनेके लिये नहीं हुए। उनके अवतारका प्रयोजन ही दूसरा था।

आकृतियोंमें परिवर्तन होता है और परिस्थितिका प्रभाव भी उनपर पड़ता है, यह सिद्धान्त सत्य है। परंतु इस परिवर्तनका यह अर्थ नहीं कि गधा बिच्छू बनने जा रहा है, आपके घरके सामनेका वृक्ष किसी दिन सर्दी या गर्मी या कोई विशेष खाद पाकर भेड़ बनकर भाग जायगा या आपकी गो-माता सिंहिनी बनकर आक्रमण करनेके उद्योगमें है। आप चाहे तोतेको पिंजड़ेमें डालकर बंदी ही बना दें परंतु इस परिस्थितिसे वह सर्प बनकर सरक निकलेगा और आपको डँस लेगा, ऐसा भय करनेकी आवश्यकता नहीं।

आकृतिमें परिवर्तनकी एक सीमा है । उस सीमाके पश्चात् आकृतिमें परिवर्तन नहीं होता । जातिका लक्षण है समान प्रसव, आयु और भोग । परिस्थिति जाति नहीं बदल देगी । मनुष्यका, पशुका, एक जातिका सजातीयमें सन्तानोत्पादनकी शक्ति, उस सन्तानसे सन्तति-परम्परा चलना, उसकी आयुकी सीमा और उसका स्वाभाविक आहार, यह परिस्थिति नहीं बदल सकती ।

जब अंग्रेज अमेरिका गये थे, उस समयका उनका चित्र, आजके अमेरिकनका चित्र और अमेरिकाके एक रेडइण्डियनका चित्र लेकर देखिये। आजके अमेरिकनकी आकृति रेडइण्डियन-से अधिक मिलती है । इसका अर्थ है कि उसकी आकृतिमें उस देशकी जल-वायुके अनुसार परिवर्तन हो रहा है; किंतु रेडइण्डियनकी आकृति ज्यों-की-त्यों है। उसमें परिवर्तन पूरा हो चुका। इसी प्रकार एक ही मनुष्यजाति स्थानके प्रभावसे हब्शी, चीनी, यूरोपियन, ध्रुवीय देशके बौने—इन विभिन्न आकृतियोंमें परिस्थितिके कारण परिवर्तित हुई है । परिस्थिति इतना ही परिवर्तन कर सकती है । पर सब कहीं मनुष्य मनुष्य ही है। वह न तो सैकड़ों वर्ष जीनेवाला सर्प बना और न कुल आठ-दस वर्ष जीनेवाला पक्षी । किसी भी दो जातिके मनुष्योंसे सन्तान-क्रम चल सकता है । प्रत्येक मनुष्य फलोंको रुचिपूर्वक खाता है ।

'परिस्थितिजन्य परिवर्तन यदि जाति नहीं बदल सकता और एक जीवसे दूसरा जीव क्रमशः विकसित होकर नहीं बना, तो इतने जीव सृष्टिके आदिमें एक साथ कैसे बन गये ?' इसी प्रश्नको न सुलझा पानेके कारण डार्विन विकासवादके भ्रममें पड़ा । भारतीय शास्त्र कहते हैं कि 'पृथ्वी जलसे प्रकट हुई। पृथ्वीतत्त्व जलका परिणाम है । अतएव इसके क्रमशः शीतल होनेका प्रश्न ही नहीं है । यदि यह गोला थी तो जलका थी। आजतक भी समुद्रोंसे नवीन-नवीन द्वीपोंके निकलनेके समाचार आते ही रहते हैं । जैसे आज समुद्रसे नवीन द्वीप प्रकट होते हैं, वैसे ही आदिसृष्टिमें भी जलसे पृथ्वी प्रकट हुई। आज जैसे बरसातमें बीरबहूटी, केंचुए प्रकट हो जाते हैं, जैसे मेढकको सुखाकर चूर्ण बनाकर रख लें और वर्षाके समय जलमें फेंकें तो तुरंत सैकड़ों छोटे मेंढक कूदने लगते हैं, जैसे आज भी जलमें नित्य सैकड़ों नवीन प्रकारके कृमि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सृष्टिके आदिमें भी सब जीव एक साथ उत्पन्न हो गये ।

जीवोंके उत्पन्न होनेके दो क्रम संसारमें स्पष्ट दिखलायी पड़ते हैं । एक तो सन्तति-परम्परासे और दूसरे उस जीवके शरीरांशसे । मेढक, बीरबहूटी, केंचुए ये सब बच्चे उत्पन्न करते हैं । इनमेंसे कोई भी वर्षाके प्रारम्भमें मिट्टीसे भी उत्पन्न हो सकता है; किंतु मेढक वहीं उत्पन्न होगा, जहाँ मेढकके शरीरका अंश हो। बीरबहूटी एवं केंचुए भी अपने शरीरांशसे ही उत्पन्न होंगे, चाहे वह शरीरांश सूखकर मिट्टीमें चूर्णित क्यों न हो गया हो। सब मिट्टी केंचुआ, बीरबहूटी या मेढक नहीं बन सकती। इसका अर्थ है कि सृष्टिके आदिमें बहुतसे जीव उत्पन्न तो हो सकते हैं, किंतु उनके जीवन-बीज होने चाहिये । जीवन-बीजकी खोजमें जानेपर पहले बीज या पहले वृक्षका प्रश्न आता है। सृष्टिकी अनादि-परम्परा माने बिना छुटकारा नहीं ।

'मान लें कि सृष्टि अनादि है; किंतु जब सर्वप्रथम पृथ्वी प्रलयके पश्चात् प्रकट हुई, तब जीवन-बीज कहाँसे आये! पृथ्वीमें तो प्रलयके समय नष्ट हो गये थे। जब पृथ्वी जलात्मक या उससे पूर्व आग्नेय थी, तब वहाँ जीवन किसी प्रकार सम्भव नहीं था। जब जीवन ही नहीं था तब जीवन-बीज कैसा । उससे पूर्व-सृष्टिका जीवन-बीज रक्षित रह सकता है, बिना इसे माने कोई मार्ग नहीं। क्योंकि विश्वमें परिस्थिति जीवन उत्पन्न नहीं करती, यह स्पष्ट हो चुका है । पूर्व-सृष्टिके जीवन-बीज रक्षित थे तो कहाँ थे? क्यों रक्षित थे?' इनका अन्वेषण करनेपर आपको एक सृष्टिकर्ता चेतनकी सत्ता स्वीकार करनी होगी और मानना पड़ेगा कि समस्त जीवन-बीज उसीके समीप सुरक्षित थे ।

जीवनकी एक प्रकारकी विजातीय-सी उत्पत्ति हम संसारमें और देखते हैं । जुएँ, खटमल, नालीमें अन्नके कीड़े इसके उदाहरण हैं । ये स्वयं सन्तान उत्पन्न करते हैं और बिना आदि बीजके मनुष्यके पसीने और नालीके सड़े अन्नसे उत्पन्न हो जाते हैं। नालीमें जब अन्न सड़ता है और पूँछवाले कीड़े उत्पन्न होते हैं, तब न तो वहाँ उनको उत्पन्न करनेवाला कोई कीड़ा पहलेसे होता और न किसी कीड़ेके शरीरका अंश । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अन्नमें ही उनको उत्पन्न करनेका बीज था। अन्नसे ही मनुष्य-शरीर बना है । अतएव एक ही अन्नका परिपाक दो रूपोंमें सम्भव है । मनुष्यके स्वेदसे खाटमें खटमल तथा बालों और कपड़ोंमें जुएँ उत्पन्न होते हैं। स्वेदमें परिस्थिति-भेदसे दो जीव उत्पन्न हुए, इसका भी यही अर्थ है कि दोनोंके बीज स्वेदमें थे । स्वेद मनुष्यका है, अतः मनुष्यमें ही

खटमल एवं जूँके मूल बीज रहते हैं, यह मानना पड़ेगा ।

यह ध्यान रखनेकी बात है कि एक बार जूँ बननेपर वह फिर खटमल नहीं बन सकता और खटमल जूँ नहीं बन सकता। स्वेदसे उत्पन्न होनेपर भी दोनोंकी जातियाँ पृथक् हैं । वे आगे अपनी ही जातिकी सन्तानें उत्पन्न करती हैं । दूसरी बात यह कि कहीं भी जीवका निर्माण जडसे नहीं होता । मिट्टी, पानी, पत्थरमेंसे कोई जीवन कभी प्रकट नहीं होगा । जड पदार्थ केवल जीवनका पोषण करते हैं । जीवनका उद्भव तो सदा चेतन या चेतनके शरीरांशसे होगा । खटमल आदि मनुष्यके पसीनेसे ही हो सकते हैं, वर्षामें खेतोंमें सफेद छत्रक (कुकुरमुत्ते) खेतोंमें भूमिसे निकल पड़ते हैं। खोज करनेपर यह सिद्ध हो गया है कि वे भूमिसे नहीं निकलते । किसी लकड़ीका अंश, पत्तोंकी सड़ी खाद, गोबर या किसी प्राणीके मिट्टीप्राय शरीरांशसे ही वे निकलते हैं। विकासवादी भी वृक्षादिको जीवन-सृष्टिमें ही मानते हैं । अतएव यह सिद्ध है कि एक ही जीवनयुक्त शरीरमें अनेक प्राणियोंके जीवन-बीज हो सकते हैं। परिस्थितिविशेषमें वे प्रकट हो जाते हैं। प्रकट होनेके पश्चात् वे अपनी ही जाति चलाते हैं । उनमें प्रकट होनेके अनन्तर कोई विकास नहीं होता ।

जीवोंकी यह अपरिमित सृष्टि क्यों हुई ? हिंदुओंमें तो चौरासी लक्ष योनियोंकी बात बच्चा-बच्चा जानता है । स्पेन्सरने वनस्पतिशास्त्रके अनुसार वनस्पतियोंके तीन लाख बीस हजार भेद बताये हैं और प्राणियोंके भेद उसने बीस लाख लिखे हैं । उसके पश्चात् खोजमें कई लाख योनियाँ और मिली हैं । लाखों प्राणिवर्ग सृष्टिसे लुप्त हो गये; अभी पता नहीं, कितने सूक्ष्म प्राणी, समुद्री जीव, जंगलों एवं बर्फीले स्थानों तथा भूमिके प्राणी अज्ञात होंगे । अतएव वैज्ञानिकोंको भी हिंदुओंके प्राणिगणनाकी शङ्कामें अब सन्देह नहीं है । इतने प्राणी क्यों हो गये ?

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।'

—इस सिद्धान्तके अतिरिक्त इसका कोई उत्तर नहीं। पूर्व-जन्मके जैसे कर्म होते हैं, वे अपने परिणामस्वरूप जाति, आयु तथा भोग देते हैं । शास्त्र इन विविध योनियोंका यही कारण बतलाता है । प्रत्येक जीवकी गति, आयु एवं भोग निश्चित है । विभिन्न जातिके प्राणियोंसे नवीन प्राणी उत्पन्न करनेपर इसी कारण उसकी सन्तति-परम्परा नहीं चलती । क्योंकि किसी जीवका प्रारब्ध उस कृत्रिम जातिमें जानेका नहीं होता । कोई जीव उधर आकर्षित नहीं होता ।

जिस प्रकार 'समानप्रसवात्मिका जातिः' का नियम निर्भ्रान्त है, वैसे ही जातिकी आयुका भी है । समान आयु एवं भोगको लेकर तो कृत्रिम प्राणी या पौधा बनाया भी जा सकता है; किंतु विषम आयु एवं भोग लेकर यह भी नहीं किया जा सकता । गधे एवं घोड़ेकी आयु समान है, दोनोंका आहार समान है, अतः उनसे खच्चर हो सकता है। घोड़ी और बैलसे कोई सन्तान नहीं उत्पन्न की जा सकती। ऐसी दशामें पशु एवं पक्षीके मेलसे तो सन्तान हो ही कैसे सकती है । वृक्षोंपर कलम बाँधनेवाले जानते हैं कि कलम सदा समानजीवी एकसे रसके पौधोंकी ही परस्पर बाँधी जा सकती है । दूधवाले पौधोंकी कलम विना दूधवाले पौधोंपर नहीं लगेगी । इसी प्रकार जिस जातिके वृक्षकी आयु बहुत है, उसकी कलम कम वृक्षकी आयुके पेड़पर भी नहीं लग सकती ।

किसी प्राणीके भोगमें भी व्याघात करनेपर वह टिकाऊ नहीं होता । जापानियोंने प्रयत्न करके मुर्गोंकी लंबी पूछें बना डालीं । विचित्र कबूतर बनाये । लेकिन उनकी सन्तति वैसी नहीं होती । वह साधारण कबूतर-जैसी ही होती है। मि० लामार्कने चूहोंकी पूँछ काट-काटकर चाहा कि बिना पूँछके चूहे उत्पन्न हों; किंतु ऐसा हो नहीं सका । आजकल कुछ डेरी फार्मोंमें बछड़े और बछड़ियोंके सींग जड़से निकाल दिये जाते हैं, इससे बड़े होनेपर वे बैल या गौ बिना सींगके होते हैं। पर ऐसा नहीं होता कि बिना सींगकी गो-जाति पैदा हो गयी हो । सींग तो निकलते ही हैं, पीछे उन्हें काटा जाता है । किसी जातिका स्वाभाविक स्वरूप नष्ट करना शक्य नहीं है ।

जीवोंकी जातियाँ, उनकी आयु, उनके भोग निश्चित हैं। उनमें कृत्रिम विशेषता लानेपर वह विशेषता आगे नहीं चलती । कृत्रिम प्राणियोंकी सन्ततिपरम्परा नहीं चलती। यह सब सिद्ध करता है कि सृष्टिके आदिसे ही सभी जीववर्ग अपने मूल रूपमें ही हैं । यह दूसरी बात है कि डार्विन जिन खर्वाकार टेरोडेल्फिगोके मनुष्योंको पहचान न सका, वे पशु नहीं मनुष्य हैं और डार्विनके मतसे उसके पूर्वज वनमानुष पशु हैं । जातिका यह भेद उनके समान प्रसवसे स्पष्ट हो जाता है और आकृतियोंमें इतना ही अन्तर

परिस्थिति कर पाती है। वह जाति, आयु एवं भोग नहीं बदल सकती। सृष्टिके आदिमें सब प्राणी किसी चेतन सत्तासे उत्पन्न हुए। उस चेतन सत्तामें ही उनके बीज थे जो परिस्थितियोंकी भिन्नताके कारण उससे अभिव्यक्त हुए। प्रत्यक्ष निरीक्षणसे यही सिद्ध हुआ।

हिंदू-शास्त्रोंका सृष्टिक्रम यही है। सृष्टि अनादि है, सृष्टिकर्ताकी चेतनसत्ता है। प्रलयके समय समस्त जीव (जीवन-बीज) सृष्टिकर्तामें लीन हो जाते हैं। सृष्टिके समय विभिन्न मानसिक परिस्थितियोंमें स्रष्टाके शरीरसे ही जीवोंका प्रादुर्भाव होता है। स्रष्टाके कुछ मानसिक पुत्रोंसे भी मानसिक सृष्टि होती है। जब यह सृष्टि प्रकट हो जाती है, तब सन्तान-परम्परासे अपनी अभिवृद्धि करती है। यही हिंदू-शास्त्रोंका सृष्टि-सिद्धान्त है।

डार्विनको वनमानुष देखकर भ्रम हुआ। उसके देशमें उसके समाजका सचमुच ज्ञान-विकास हुआ था। अतएव भ्रमको एक सहारा मिला। दूसरे बहुतसे विद्वान् उसकी प्रबल कल्पनासे भ्रान्त हो गये। यूरोपमें अब वैज्ञानिक इस भ्रमसे प्रायः छुट्टी पा चुके हैं। पर भारतमें अब भी उसी भ्रमपूर्ण सिद्धान्तका पोषण, प्रचार एवं शिक्षण होता है, यह खेदकी बात है। विद्वान् सम्मुखके सत्यको न देखकर कल्पनाके पीछे दौड़ रहे हैं, यह चिराग-तले अँधेरा ही है। आदिमानव पूर्ण सभ्य था या असभ्य ? इसके उत्तरमें आजके विद्वान् कह देते हैं कि मनुष्य पहले जंगली था। सभ्यताका विकास हुआ है। वे देखते नहीं कि विकास किसी वस्तुका निर्माण होनेके पश्चात् नहीं होता। सब वस्तुएँ पहले शुद्ध बनती हैं। धीरे-धीरे फिर विकृत होती, सड़ती हैं। प्रकृतिमें जो भी पदार्थ प्रकट होता है, वह आदिमें शुद्ध, पूर्ण होता है। जलको ही ले लीजिये। वर्षाका जल पृथ्वीपर आनेसे पूर्व पूर्ण शुद्ध होता है। धीरे-धीरे वह सड़ता है। यही दशा मनुष्यके बनाये पदार्थोंकी है। आप अच्छी या बुरी जो वस्तु बना देंगे, यदि उसे सुधारने-सम्हालनेमें न लगे रहें तो वह धीरे-धीरे स्वतः बिगड़ती जायगी। बासी भोजन, काममें न आनेवाली मशीनें आदि क्या यह नहीं बतलातीं कि प्रकृतिका स्वभाव ही विकृत करनेका है। जब सब कहीं विकृति हो रही है, सब कहीं ह्रास हो रहा है तो मनुष्यमें ही कैसे विकास होगा। मनुष्यकी बुद्धि भी तो प्राकृतिक ही है। नियम सब कहीं एक-से होते हैं, यह ध्यान रखना चाहिये।

सब पदार्थ विकृत हो रहे हैं। सबमें ह्रास हो रहा है। मनुष्यकी आकृति और शरीर-बलमें ह्रास हो रहा है, यह इतना स्पष्ट है कि विकासवादी भी इसे स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें, केवल मनुष्यकी बुद्धिका विकास हो रहा है, यह हास्यास्पद बात है। हम देखते हैं कि विकास करना बुद्धिका धर्म नहीं है। हम जो कुछ सीखते हैं, दूसरोंसे सीखते हैं। यदि हम अपने सीखे ज्ञानको स्मरण रखनेका प्रयत्न न करते रहें तो वह भूलता जाता है। बुद्धिका स्वाभाविक धर्म विस्मरण है, अतः विकास वहाँ सम्भव नहीं।

सृष्टिमें यह नियम सर्वत्र एक-सा दिखलायी पड़ता है कि पदार्थ प्रारम्भमें पूर्ण, शुद्ध प्रकट होते हैं। धीरे-धीरे उनमें विकार आता है। विकारके सीमासे अधिक होनेपर पदार्थका स्थूल रूप नष्ट हो जाता है और फिर उनके सूक्ष्म रूपसे नवीन शुद्ध स्थूल रूप प्रकट होता है। जल शुद्ध होता है जब वर्षा होती है। धीरे-धीरे सड़ता जाता है और अन्तमें सूखकर वाष्प हो जाता है। फिर वाष्पसे बादल बनकर वर्षा होती है। बच्चा उत्पन्न होता है रोगहीन। धीरे-धीरे वृद्धावस्थातक शरीर विकृत होता है। अन्तमें मृत्युके पश्चात् पुनर्जन्म। सभी पदार्थोंमें यही क्रम चलता रहता है। हिंदू-शास्त्र पूरी सृष्टिके सम्बन्धमें भी यही क्रम बतलाते हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें सत्ययुग था। मनुष्यके शरीर स्वस्थ, बलवान्, सुन्दर थे। मन निर्दोष था। संकल्पमें पदार्थोंको प्रकट करनेकी शक्ति थी। धीरे-धीरे ह्रास हुआ। त्रेता और उसके पश्चात् द्वापरयुग आया। अब कलियुग चल रहा है। इस युगके अन्तमें प्राणि-सृष्टिका क्षय होकर पुनः सत्ययुग आ जायगा।

पाश्चात्त्य वैज्ञानिक जगत् भी हिंदू-शास्त्रके विकृतिवादको अब सन्देहहीन होकर स्वीकार करता है। विश्वमें जो नेत्रोंके सम्मुख प्रत्यक्ष ह्रासका क्रम चल रहा है, उसे कोई भी विचारशील कैसे अस्वीकार कर देगा ? इस ह्रासकी सीमाके पश्चात् क्या होगा ? यह विषय सम्मुखके पदार्थोंका क्या होता है, पूर्ण ह्रास होनेपर, यह देखनेसे जाना जा सकता है और तभी ज्ञात होता है कि चतुर्युगके ह्रास-क्रमके पश्चात् पुनः वही आदियुग। इस प्रकार सर्वज्ञ ऋषियोंका आवर्तवाद सर्वथा पूर्ण एवं निर्भ्रान्त है।

सिव चतुरानन देख डेराहीं

[कहानी]

(लेखक— स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

हनुमानगढ़ीके नागा—बालाजी मेरे परिचित थे। अब तो वे समाधि ले गये, परंतु उनकी एक आप-बीती कहानी, मुझे बार-बार याद आया करती है। उन्होंने एक दिन मेरी कुटीपर पधारकर वह विचित्र कथा सुनायी थी।

बालाजी अनाथ थे। पाँच सालकी आयुमें एक बाबाजीके साथ लग लिये। जब बारह सालके हुए, तब बाबाजीने उनको हनुमानगढ़ीके किलेमें, एक सिपाही बनाकर ढील दिया। चौबीस सालतक अखण्ड ब्रह्मचर्य साधकर और तत्कालीन महन्तकी गुरुदक्षिणा प्राप्तकर नागाजी देशाटनको निकले। क्योंकि देशाटनके बिना ज्ञान अनुभवके पदपर नहीं पहुँचता—वह पुस्तकीय ज्ञान रह जाता है।

घूमते-घामते वे नर्मदा-किनारे जा पहुँचे। वहाँ मिला एक योगी। उससे मित्रता हो गयी। दोनोंने एक साथ रहकर देश-पर्यटन करनेकी ठानी।

× × × ×

जिला छत्तीसगढ़के एक गाँवमें वे दोनों जा पहुँचे। गाँवके बाहर शिवजीके मन्दिरपर डेरा डाला। ग्रामवासी नर-नारी-बालक आदि आकर दर्शन और सत्सङ्ग करने लगे। आजकल कोई योगी द्वारपर ठहर जाता है तो मूर्ख गृहस्थ उससे बहस करनेपर आमादा हो जाता है। ज्ञान सीखना नहीं चाहता, वह अपना ज्ञान सिखाना चाहता है कि जो कुछ भी नहीं है!

रातको जब एकान्त हुआ। दोनों मित्रोंमें बातचीत छिड़ी।

योगी—आप मायासे अभीतक बचे हुए हैं?

नागा—माया ससुरी है क्या चीज जो बचना पड़ेगा? स्वरूपरूपी हिमालयके सामने एक चींटी!

योगी—आपने स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया? आप अपना सहज स्वरूप पा गये? क्या आपने सनातन पुरुषको प्राप्त कर लिया?

नागा—निश्चय!

योगी—आपको माया कभी परास्त नहीं कर सकती?

नागा—सपनेमें भी नहीं। रातमें भी मैं रामपञ्चायतनकी पञ्चायतमें सोता हूँ, जहाँ बजरङ्गीका अटल पहरा है।

योगी—माया कहते किसे हैं?

नागा—कामिनी, काञ्चन और कीर्ति—इन तीन नदियोंकी त्रिवेणीको माया कहते हैं।

योगी—आप पक्के गुरुके चेले मालूम पड़ते हैं।

नागा—पक्के गुरुके होंगे आप, हम तो सच्चे गुरुके चेले हैं। जिन्होंने प्रत्येक तत्त्वके सारे बखिये खोलकर रख दिये।

योगी—आप कौन हैं?

नागा—जीव था, अब ईश्वर हो गया हूँ।

योगी—कैसे?

नागा—ईश्वरने अपने महलकी एक खिड़की मुझमें खोल दी है। अब वही वह है—मैं जो था, सो खिड़की खुलते ही न मालूम कहाँ चला गया। ठीक अब समझा, वाह गुरुदेव! कैसी मार्केकी बात बतलायी! बतलायी नहीं—दिखलायी!

योगी—क्या बतलायी?

नागा—गुरुजीने बेतारके तारसे इसी समय यह कहा था कि खिड़की खुलनेसे मन चला गया मायामें। मनभर मायाका एक माशा मन तेरा मन बना घूमता था। सो वह मायामें खिंच गया। डोरी लगी थी—खिंच गया पतङ्ग-सा!

योगी—वाह, वाह, वाह! आज पक्के योगीके दर्शन हुए। धन्य भाग्य! आप छार-छार ईश्वर हो गये और मायाकी अब आपको कोई परवा नहीं।

नागा—अजी माया है कहाँ जो परवा होती? मुर्दा है—माया। इधरसे मत देखो—जरा उधरसे तो देखो। बेचारी चींटी!

चींटी चढ़ी पहाड़पर नौ मन तेल लगाय।
हाथी पकड़ बगलमें दाबे लिये ऊँट लटकाय॥

कबीर साहबके इस रहस्यवादी दोहेका अर्थ अब खुला।

योगी—परंतु नागाजी महाराज! जरा ध्यान दीजिये कि रामायण क्या कहती है इस विषयमें।

नागा—किस विषयमें?

योगी—मायाके विषयमें?

नागा—क्या कहती है?

योगी—

सिव चतुरानन देख डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

नागा—यह तुलसीकी विमूढ़ता है। हम परमहंस लोग, विधि-हरि-हर तीनों देवोंसे ऊपरके लोकमें विचरण करते हैं। हमारे सामने माया बदमाशी करे तो तुरंत हम उसकी नाक काट डालें।

योगी—वाह गुरु ! मैं मायादेवीसे करबद्ध अनुरोध कर रहा हूँ कि वह अपनी शक्तिका कुछ नमूना हमारे इन परमहंसजीको अवश्य दिखलानेकी कृपा करें।

× × ×

प्रातः एक बूढ़ा आदमी, जो चन्दन लगाये था, दो लड़कोंके साथ वहाँ आया और दण्डवत् कर नम्रताके साथ दोपहरीका निमन्त्रण दे गया। योगियोंका धर्म है कि वे निमन्त्रण स्वीकार कर गृहस्थोंके गृह पवित्र किया करें।

दोपहरीमें दो लड़के आये और दोनों योगियोंको घर लिवा ले गये। पक्का सामान बनाया गया था। खूब आनन्दसे भोजन कराया गया। फिर ऊपरके हवादार कमरेमें, दोनों महात्माओंको विश्राम करनेके लिये कहा गया। थोड़ी देर बाद एक लड़का आया और योगीजीको नीचे मालिक-मकानके कमरेमें लिवा ले गया। थोड़ी देरमें बालाजी सो गये।

मालिक—आइये महाराज ! बैठिये, आपसे एक प्रार्थना है।

योगी—कहिये भगतजी !

मालिक—आपके साथ जो दूसरे योगी हैं उनका आपका साथ कबसे है ?

योगी—कोई एक माससे।

मालिक—उससे पहले वे कहाँ थे ?

योगी—हनुमानगढ़ीमें रहते थे।

मालिक—अच्छा तो, वे अपने सम्बन्धमें और कुछ कहते थे ? विवाहका हाल बतलाते थे ?

योगी—विवाह ! अरे राम-राम ! उनका विवाह ?

मालिक—विवाह क्यों नहीं ?

योगी—वे अखण्ड योगी हैं आप कहते हैं—विवाह !

मालिक—ऐसी-तैसी उसकी और तुम्हारी ! तुम चुपकेसे चले जाओ। नहीं तो, मारे जूतोंके सारी शृङ्खला बिगाड़ूँगा।

योगी—आखिर मामला क्या है ?

मालिक—तुम्हारे साथ जो है वह मेरा दामाद है। बारह सालका था, उसे कोई बाबा बहका ले गया था। गाँवके मदरसेमें पढ़ता था। नाम था बालाजी। तुम्हारे साथीका क्या नाम है ?

योगी—(मन-ही-मन मायाको प्रणामकर) ठीक है, नाम तो बालाजी ही बतलाता था।

बूढ़ेका एक दामाद था जरूर। नाम भी उसका बालाजी ही था। एक नामके सैकड़ों होते हैं। उसे कोई बाबा ले भी गया था।

मालिक—तुम अच्छे लड़के दिखलायी देते हो। फिर तुम्हारा अपराध भी कुछ नहीं। बल्कि तुमने यह अहसान किया कि उसे इधर ले आये। कल जो गाँवकी स्त्रियाँ, मन्दिरपर गयीं, तो सखियोंके साथ मेरी लड़की विमला भी चली गयी थी। लड़की जो लौटकर आयी तो बेतरह रोने लगी। जब उसकी माताने बहुत दम-दिलासा दिया, तब उसकी हिचकी रुकी। उसने कहा कि मेरे पति ही योगीरूपसे मन्दिरपर एक संन्यासीके साथ ठहरे हैं। बारह साल हो गये तो क्या हुआ—कोई स्त्री अपने पतिको भूल थोड़े ही सकती है।

योगी—नहीं भूल सकती। भूलका क्या काम ?

मालिक—बेटा रमेश !

रमेश—जी !

मालिक—इधर आओ। देखो बेटा ! रमेश ! इन संन्यासी-जीके चरण-स्पर्श करो। यही तुम्हारे जीजाजीको लाये हैं।

रमेशने योगीको प्रणाम किया, योगीने मायाको प्रणाम किया।

मालिक—जीजाजी क्या करते हैं ?

रमेश—सोते हैं।

मालिक—तुम देख आये हो ?

रमेश—जी हाँ।

मालिक—गुदगुदे गद्देपर, मसहरी काहेको देखी होगी ! अच्छा जाओ—धीरेसे किंवाड़ बंद करना और ताला लगा देना। और हाँ—विमलाको जरा यहाँ भेजते जाना।

रमेश गया। विमला आयी।

मालिक—बेटी विमला ! तुम्हारी समझसे तुमने ठीक-ठीक पहचाना है न कि ऊपर जो योगी सो रहा है—वही तुम्हारा पति है ?

विमला चुपचाप रोने लगी।

मालिक—कहिये महात्मन् ! यह रोती क्यों, यदि वही न होता ?

योगी—वही है।

मालिक—आपकी आत्मा आईना हो गयी है। आप भी समझते हैं कि वही है।

योगी—वही है ! वही है ! मातेश्वरी माया वही है !

मालिक—नाम भी वही, रूप भी वही !

योगी—नाम भी वही, रूप भी वही। वही तो बेटा ! जुआचोर।' कहता था कि मैं ईश्वर हूँ और माया

कुछ नहीं। अब नथ गये बच्चू नथकी नकबेसरमें।

मालिक–आप ही बतायें कि मेरा क्या कर्तव्य है ?

योगी–मैंने तो प्रार्थना ही की थी इस कर्तव्यके लिये।

मालिक–तो आप इसी समय यहाँसे चले जायँ। उससे हम निबट लेंगे। अपना और उसका खून एक कर दूँगा—नहीं तो, मेरा नाम विश्वनाथ महाराज नहीं। मेरी एकमात्र कन्याको कलङ्कित करता है—बेईमान।

योगी–अच्छा चलता हूँ। जय सीताराम।

मालिक–जय श्रीराम ! अब आप कहाँ जायँगे ?

योगी–अपने आश्रमपर लौट जाऊँगा। दुनिया देख ली है।

× × ×

बालाजीकी जो आँख खुली तो शाम हो गयी थी। किवाड़ खोले तो बाहर था ताला। इधर-उधर देखा तो कोई नहीं। आवाज दी—कुछ नहीं। योगीको देखा—कहीं पता नहीं ! बालाजीको बड़ा क्रोध हुआ। क्या मैं नजरबंद कर दिया गया ? ईश्वरको भी नजरबंद ?

ताबड़तोड़ जो दस-पंद्रह लातें किंवाड़ोंपर जमायी तो एक आला बालाने आकर ताला खोल दिया और कहा—'कहिये स्वामीजी क्या आज्ञा है ?'

बाला–बाहरसे साँकल क्यों लगायी थी ?

ताला भी था–इसका पता नहीं था।

युवती–जिससे कोई लड़का या बिल्ली आपकी निद्रा भंग न करे।

बालाजीकी गरमी शान्त हो गयी। अपने ईश्वरत्वमें जो शङ्का पैदा हो गयी थी, वह दूर हो गयी।

बाला—दूसरा योगी कहाँ गया ?

युवती थी विमला।

विमला–अपनी कुटीपर चले गये।

बाला–मेरे लिये क्या कह गये ?

विमला–कह गये कि आप तबतक यहीं रहें, जबतक मैं पुनः न लौट आऊँ ?

बाला–कब आयगा ?

विमला–सात दिनके अंदर।

बाला–चला क्यों गया ? बिना कहे चला गया ?

विमला–कोई चीज लाने गये हैं।

बाला–मैं सात दिन एक जगह नहीं रह सकता।

विमला–क्यों ?

बाला–'बहता पानी–रमता जोगी, इनको कौन सके बिलमाय?'

विमला–आप योगी थे तो मुझसे विवाह क्यों किया था ?

बाला–किसने विवाह किया ?

विमला–आपने।

बाला–किसके साथ ?

विमला–मेरे साथ।

बाला–तुम भूलती हो।

विमला–वही नाम, वही रूप।

बाला–फिर भी मैं वह नहीं।

विमला–वही ! वही ! निश्चित वही !!

बाला–कैसे जाना ?

विमला–वही नाम, वही रूप और वही मसा !

बाला–मसा क्या चीज ?

विमला–नाकके नीचे जो छोटा-सा मसा है, वह भी था।

बाला–फिर भी मैं नहीं।

विमला–वाणी वही। रंग वही।

बाला–फिर भी नहीं। तुम भ्रममें हो।

हाथमें भरी बंदूक लिये मालिक ऊपर आ गये।

मालिक–देखो बालाजी ! तुम दोनोंकी सारी बातें मुझे जीनेमें खड़े होकर सुननी पड़ीं। वैसे पिताको कन्या-दामादकी बात नहीं सुननी चाहिये। परंतु लाचारी थी। यदि अब तुम अपना जोगीपन छाँटोगे तो अच्छा न होगा।

बाला–क्या होगा ?

मालिक–इस बंदूकमें पाँच गोलियाँ हैं। दोसे तुम दोनोंको मारूँगा, दोसे हम दोनों मरेंगे। एक फिर भी बच रहेगी। मेरे दोनों लड़के घरमें राज करेंगे। क्या समझे ?

बालाजीने देखा कि मामला बेढब है। दब गये। अवसर पाकर किसी दिन निकल भागेंगे–यह मनमें स्थिर किया।

मालिक–क्या कहते हो ?

बाला–आपकी आज्ञा स्वीकार है।

मालिक–यह मत समझना कि भाग जाओगे। तुम्हारे ऊपर छः सालतक कड़ा पहरा रहेगा।

दोनों पति-पत्नीकी तरह रहने लगे। तीन साल डटे रहे। जब एक लड़का पैदा हो गया। पहरा कुछ ढीला पड़ गया। एक रात निकल भागे। आखिर योगी थे, योगी नहीं चाहता राज्य भी। तब आकर उन्होंने अपना यह लङ्का-काण्ड सुनाया।

मैंने पूछा–बालाजी ! अब मायाके प्रति क्या विचार है ?

बालाने कहा–वह जगदम्बा है ! माताकी इज्जत और परवा करना अपना धर्म है। यहाँ रहकर ईश्वर नहीं बना जा सकता। रामायणमें ठीक ही लिखा है।

वनस्पतिवालोंकी दलीलोंमें न सत्य है, न तथ्य ही

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी मन्त्री अ० भा० गो-सेवकसमाज)

जिस आदमीके पास सच्ची या असली चीज होती है उसे विज्ञापनबाजीकी जरूरत नहीं। वह विज्ञापन देता ही नहीं, देता है तो साधारण सूचनाके लिये। जिसके पास खरा सोना है, वह उसे बेचनेके लिये घर-घर पुकार नहीं करता, लोग स्वयं आकर खरीदते हैं। शुद्ध घी बेचनेवाले किसानने कभी आजतक एक पाई भी विज्ञापनपर खर्च नहीं की, हमारे देशमें वनस्पति चलनेके दो ही कारण रहे हैं। सरकारी अधिकारी तथा विज्ञापनबाज़ी। जब-जब भी वनस्पतिसे घीमें रंग डालने या मिलावट दूर करनेका प्रश्न सामने आया इन दो ढालोंने उनकी रक्षा की। पं० ठाकुरदासजी भार्गवके वनस्पतिनिषेध बिलने तो इनके वारे-न्यारे कर दिये। वनस्पति-कारखानेवालोंके पास यदि कोई उचित दलील होती तो विज्ञापनबाज़ीपर लाखों रुपये खर्च न करते। वनस्पतिके पक्षमें दलीलें हैं—१. वनस्पति एक राष्ट्रिय इन्डस्ट्री या शिल्प है और इसपर देशका २५ करोड़ रुपया लगा हुआ है। २. वनस्पति स्वास्थ्यके लिये हानिकारक नहीं, यह पौष्टिक, स्वास्थ्य-वर्धक और सर्वगुणसम्पन्न खाद्य पदार्थ ही नहीं, ईश्वरीय दैन भी है। ३. वनस्पति घी गोवंश और किसानको नुकसान नहीं पहुँचाता, अपितु लाभ ही देता है। ४. वनस्पतिका समर्थन सरकारके मन्त्री तथा विशेषज्ञ करते हैं। ५. उत्तम वस्तु होनेके कारण वनस्पतिकी माँग साधारण जनतामें ही नहीं, फौजी सिपाहियोंके लिये भी है।

वनस्पतिवालोंने इन दलीलोंका प्रचार करनेके लिये एँड़ी-चोटीका जोर लगाया है। पर यह दलीलें तर्कसम्मत नहीं। हमारे शास्त्रोंमें आप्तवचनको सबसे बड़ा प्रमाण माना है। महात्माजी आप्तपुरुष थे। गान्धीजीने वनस्पति घीको धोखा-दगा ही नहीं बताया, खोटे सिक्कोंकी-सी उपमा देते हुए दण्डनीय भी कहा। तथा इस कामके करनेवालोंको नहीं, वनस्पति घीको सहन करनेवालोंको भी देशका शत्रु बतलाया। सरकार और वनस्पतिवालोंके लिये गान्धीजीके वचन पर्याप्त हैं। उन्हें चाहिये था कि गान्धीजीके कहते ही वनस्पति घीको बंद कर देते, पर जो लोग किसी स्वार्थके वश गान्धीजीके सिद्धान्तोंकी केवल मौखिक दुहाई देते हैं और काम करते हैं उनके विरुद्ध, उन्हें गान्धीजीकी सम्मति बतलाना जंगलमें रोनेके समान व्यर्थ है। अतः सत्य तथा तथ्यकी दृष्टिसे वनस्पतिवालोंकी दलीलोंका उत्तर दिया जाता है।

१. वनस्पति न इन्डस्ट्री है, न इसके बंद करनेसे करोड़ों रुपयेका नुकसान ही होगा

कपास, रूई, ऊन, रेशमसे कपड़ा बुनना, चमड़ेसे जूते आदि बनाना, कच्चे लोहेसे लोहेकी चीजें बनाना, दूधसे घी बनाना; सरसों-तिल आदिसे तेल निकालना इन्डस्ट्री है या शिल्प। पर वनस्पति घी न इन्डस्ट्री है न शिल्प। मूँगफली या बिनौलेके तेलको घीका रंग-रूप देनेसे उसका खाद्यमूल्य नहीं बढ़ता। कितने ही विशेषज्ञोंके मतमें घटता ही है। इस समानगुण या हीनगुण वस्तुके लिये व्यर्थ परिश्रम ही नहीं करना पड़ता, मूल्य भी अधिक देना पड़ता है। वनस्पति एक खाद्य वस्तु है। तेलसे अधिक इसमें खाद्यमूल नहीं, देशमें चिकनाईकी कमी होनेके कारण वनस्पतिके अधिक दिन ठहरा रहनेकी दलीलमें भी कोई सार नहीं है। जो चीज़ अधिक होती है उसे ही अधिक दिन रखनेकी आवश्यकता होती है। गो कि वनस्पति घी न शिल्प है न इन्डस्ट्री ही। गान्धीजीके हरिजन ता० ६. १०. ४६ के पत्रमें लिखे वचनानुसार यह धोखा है, दगा है। २५ करोड़ रुपयेकी लागतका सवाल भी उचित नहीं, वनस्पतिके कारखानोंमें तेलके बीजोंसे तेल निकालने, तेलको शुद्ध करने और तेलको जमाने इत्यादिकी क्रियाएँ होती हैं। तेलको शुद्ध करनेकी क्रियाका विरोध नहीं है। तेल जमानेके लिये जो मशीनें ४२ कारखानोंमें लगी हुई हैं, उनकी कुल कीमत चालीस लाखसे अधिक नहीं। तेलका जमाना या वनस्पति बनाना बंद हो जाय तो इन मशीनोंसे अन्य शिल्पकारियोंके लिये अरंड नीम आदि तेल जमाये जा सकते हैं। वनस्पतिके कारखानेवालोंने करोड़ों रुपया कमाया है। सालोंतक तो कारखानेकी कुल कीमतके बराबर मुनाफा ही हुआ है। अतः इस चालीस लाखकी रकमके लिये पचास करोड़का नुकसान बताना उचित नहीं। कारखानेवालोंने देशका अहित करके वनस्पति घीसे बहुत रुपया कमाया है। उचित है कि वह बर्दाश्त कर ले या देशकी सरकार और जनता जमानेकी मशीनोंकी लागत देकर इन मशीनोंको उखड़वा दे। देशहितके लिये चालीस लाखकी रकम कोई बड़ी बात नहीं। इतनी या इससे कुछ कम रकम तो वनस्पति घीवालोंने विज्ञापनबाज़ीमें खर्च की और कर रहे हैं।

२. जहरको अमृत बनानेवाले विशेषज्ञोंकी अविशेषज्ञता

वनस्पति घी प्रायः मूँगफलीके तेलसे बनता है। वनस्पति-

के पक्षपाती विशेषज्ञोंके मतानुसार भी इसमें तेलसे अधिक गुण नहीं, अतः वनस्पति घी न स्वास्थ्यवर्धक है न पौष्टिक। यह ठीक है, वनस्पति घी कारखानेवालों, तत्सम्बन्धी राज्य-अधिकारियों और विज्ञापन करनेवालोंके लिये ईश्वरीय देन है, जनताके लिये। मूँगफली तथा मूँगफलीका तेल उत्तरभारतके गरम तथा शुष्क इलाकेके लोगोंके लिये अत्यन्त हानिकारक है। दक्षिण-पूर्वके लोग प्रायः तेल खाते हैं। उन्हें वनस्पति घीकी जरूरत ही नहीं। वनस्पति घीपर सर्वप्रथम १९२७ में पंजाबके सरकारी विशेषज्ञ कैप्टन थामस तथा उसके बाद बम्बईके करनल महकी, सर साहिबसिंह सोखे और कितने ही सरकारी विशेषज्ञों, डाक्टरों, वैद्यों और हकीमोंने इसे स्वास्थ्यके लिये हानिकारक बतलाया है। सरकारने स्वयं इज्जतनगरके अनुभवके आधारपर जनताको अनेक बीमारी पैदा करनेवाली चीज़ बतलाया। पिछले महीने ही देशकी प्रसिद्ध सूचना राज्यकी प्रेस-टस्ट्र-इंडियाने दिल्लीके इरविन अस्पतालके अनुभवका जिक्र करते हुए बताया है कि पिछले चार सालोंमें आँखोंकी बीमारियाँ आठगुना बढ़ गयीं। इन बीमारियोंके बढ़नेका प्रधान कारण वनस्पति घी और मक्खन निकला घी पाउडर है। जिन विशेषज्ञोंने २४ नवम्बर १९४९ की रिपोर्टमें वनस्पति घी और साधारण तेलोंमें समान गुण-दोष बतलाये हैं, उन विशेषज्ञोंकी कमेटीका निर्णय अभी अधूरा है। सर्वसम्मत भी नहीं। सर साहिब सोखे, जो इन सब विशेषज्ञोंसे सर्वश्रेष्ठ थे और जिनका नाम इस विशेषज्ञ कमेटीमें था, शामिल नहीं हुए। बतलाया जाता है कि अनुभवमें चूहों या मनुष्योंको वनस्पतिके साथ-साथ अन्य चिकनाई या विटामिन दिये गये जिनसे केवल वनस्पतिके गुण-दोष ठीक मालूम नहीं हो सकते। अतः यह अनुभव जो आज वनस्पतिवाले और उनके साथियोंका बड़ा सहारा है, न सर्वसम्मत है न सम्पूर्ण या अन्तिम और न पक्षपातरहित। यह सब मानते हैं कि वनस्पति स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हानिकारक नहीं, तो सन्देहात्मक अवश्य है। भोजनकी चीज़ोंमें सन्देहका लाभ व्यापारीकी दृष्टिसे नहीं, खानेवालेकी दृष्टिसे देखा जाता है। भोजनकी जिस चीजमें सन्देह होता है वह खाने योग्य नहीं समझी जाती। उदाहरणतया यदि हमारे दूध या चायके प्यालेमें हमें यह सन्देह हो कि इसमें जहर है या अन्य स्वास्थ्यको हानि पहुँचानेवाली चीज है तो न हम उसे स्वयं पियेंगे, न किसी औरको पीने देंगे। वनस्पति घीको तो बीस-पचीस सालतक लगातार प्रसिद्ध विशेषज्ञोंने स्वास्थ्यके लिये हानिकारक बतलाया। सन्देहात्मक तो सभी बतलाते हैं। तब न्यायकी दृष्टिसे वनस्पति तेलोंका जमाना बंद कर देना चाहिये। उचित होगा, यह अनुभव चूहों, कैदियों आदिपर न होकर वनस्पतिके कारखानेवालों, जो स्वयं शुद्ध घी-मक्खन खाते और लोगोंको नकली खिलाते हैं, तथा उनके पक्षपाती सरकारी अधिकारियोंपर पूर्ण देख-रेखके साथ किया जाय। यदि इनको छः महीनेतक कोई चिकनाई या विटामिन न देकर केवल वनस्पति खिलाया जाय। और इनका स्वास्थ्य ठीक आज-जैसा ही रहे तो कहा जा सकेगा कि वनस्पति स्वास्थ्यके लिये बुरी चीज नहीं है। आशा है वनस्पति घीवाले और उनके पक्षपाती सरकारी अधिकारी तथा विशेषज्ञ इसके लिये तैयार होंगे।

३. पशुधन और किसानका शत्रु

हमारे देशमें पशु दूध ही नहीं, हल चलानेके लिये, बोझ ढोने, कुएँ आदि चलानेके भी काममें आते हैं। पशुओंसे देशको बारह अरब रुपये वार्षिक या कुल आयकी आधी आमदनी होती रही है। इसमें तीन अरब रुपया दूध-घी आदिसे मिलता है। अधिकतर पशु गाँवमें रहते हैं। प्रायः गाँव शहरोंसे दूर है। वहाँ दूध बिकता नहीं इसलिये घाटा उठाकर भी घी तैयार करना पड़ता है। घी निकालनेसे किसानको छाछ भी मिलती है और यही छाछ किसानके जीवनका एकमात्र सहारा है। छाछके कारण ही वह कड़ी धूप, सर्दी, गर्मीकी परवा नहीं करता। किसानका घी तसल्लीसे बिकना चाहिये और उचित मूल्य भी मिलना चाहिये। नकली घीके कारखानेवालोंने वनस्पति घीका रंग-रूप तथा सुगन्ध घी जैसा बनाकर घीकी मिलावटके दरवाजे खोल दिये हैं। शुद्ध घीकी तसल्ली नहीं रही। अर्थशास्त्रके ग्रेशम नियमानुसा[र] जब बाजारमें नकली घी तथा सस्ती चीजें आ जाती हैं त[ब] असली चीजोंको खदेड़ बाहर करती हैं। वनस्पति घी[के] कारण आज शुद्ध घीकी कोई तसल्ली नहीं रही। शुद्ध घ[ी] खरीदनेवालोंको शुद्ध घीका भरोसा नहीं रहा। अतः व[ह] वनस्पति खरीदनेपर मजबूर है। शुद्ध घी पैदा करनेवा[ले] किसानको यह निश्चय नहीं कि उसका घी उचित दामोंप[र] बिकेगा, जब घीकी बिक्रीकी तसल्ली ही नहीं रही तो पशुपाल[न] नहीं हो सकता। महात्मा गान्धीजीने ८ जनवरी १९४० [के] हरिजनमें श्रीपन्नालालजीकी इस बातको स्वीकार किया है [कि] वनस्पति घीकी मिलावट जारी रही तो पशु लाभदायक न[हीं] रहेंगे, केवल शौक या मनबहलावेकी चीज रह जायँगे। सरका[री] कृषिकमीशन १९२८ तथा सरकारी पशुरक्षा-उन्नति-कमेटी[की] रिपोर्ट १९४८ और प्रायः सभी पशु व कृषिविशेषज्ञोंने वनस्[पति] घीको पशुओंकी उन्नतिकी दृष्टिसे हानिकारक बतलाया है [।] यदि किसानोंका मत मालूम किया जाय तो शायद ही को[ई]

किसान वनस्पतिके पक्षमें मत दे। भारतीय किसान वनस्पति घीको अपना तथा अपने पशुओंका शत्रु समझता है।

४. दो मन्त्रियोंकी बाबत झूठा प्रचार तथा वनस्पतिके बड़े वकील गिल्डर और भटनागर

वनस्पतिके कारखानेवालोंने अपने विज्ञापनोंमें उत्तरप्रदेशके खाद्य तथा स्वास्थ्यमन्त्री श्रीचन्द्रभानजी गुप्त तथा श्रीजयरामदास दौलतरामजी खाद्य तथा कृषिमन्त्री भारतसरकार, बम्बई-के स्वास्थ्यमन्त्री श्रीगिल्डर और भारतसरकारके विशेषज्ञ श्रीभटनागरका नाम बार-बार लिया है। महात्मा गान्धीजीके वनस्पतिके विरुद्ध मत प्रकट करनेके बाद इनके मतका विशेष मूल्य नहीं। श्रीचन्द्रभानजी गुप्तने वनस्पतिवालोंकी विज्ञापन-बाजीका विरोध करते हुए लिखा है, मैं वनस्पतिका पक्षपाती नहीं हूँ। ऐसे विज्ञापन नहीं छापने चाहिये। ८ दिसम्बर १९४९ के प्रश्नोत्तरमें वनस्पतिवालोंने श्रीजयरामदास दौलतरामके हवालेसे वनस्पतिको पौष्टिक और स्वास्थ्यवर्द्धक लिखा है। पर श्रीजयरामदासजीने ऐसा नहीं कहा। इन दोनों मन्त्रियोंकी बाबत जो प्रचार किया जा रहा है वह असत्य है। वनस्पति-वालोंके दो बड़े वकील हैं—श्रीगिल्डर और भटनागर। श्रीगिल्डर-ने तो गान्धीजीको भी वनस्पतिका पक्षपाती बतलाकर उनके वनस्पतिके विरुद्ध दिये वक्तव्योंपर पानी फेरकर उस महान् पुरुषकी भी अवहेलना की है। श्रीगिल्डर इज़तनगरके अनुभवकी बावत कहते हैं कि चूहोंको वनस्पतिके साथ बंगाली या कमजोर ख़ूराक दी गयी इसलिये अन्धापन तथा अर्धाङ्ग आदि बीमारियाँ उत्पन्न हुईं। उसका यह मतलब है कि चूहोंको वनस्पतिके साथ पौष्टिक ख़ूराक दी जाती तो बीमारी न होती। साधारण बुद्धिका आदमी भी यह जानता है कि भोजनमें पौष्टिकता उत्पन्न करने या बढ़ानेके लिये ही घीकी आवश्यकता है। घीके खानेसे पौष्टिकता बढ़ी, स्वास्थ्य ठीक रहा, बीमारियाँ नहीं हुईं तथा वनस्पति घीके खानेसे पौष्टिकता मिली नहीं। इसलिये बीमारियाँ हुईं। जो आदमी भोजनके साथ मक्खन, मेवे, फल तथा अन्य विटामिन खाते हैं, यदि वह साथमें थोड़ा-सा वनस्पति घी भी खा लें और यह कहा जाय कि वनस्पति स्वास्थ्यके लिये अच्छा है, उचित नहीं होगा। विशेषज्ञोंके २४ नवम्बर १९४९ के अनुभवकी रिपोर्टमें यही भूल है। श्रीगिल्डरको जनताके रुपयेसे वेतन मिलता है, उन्हें केवल वनस्पति घीवालोंकी ही वकालत नहीं करनी चाहिये थी, साथ-साथ इन विशेषज्ञोंके शिरोमणि उनके नगरके हाफ़किन इन्स्टीट्यूट बम्बईके डायरेक्टर श्रीसाहिबसिंह सोखेका मत भी एसम्बली मेम्बरोंके सम्मुख रखना चाहिये था। गान्धीजीके नामका जो उन्होंने दुरुपयोग किया है वह तो अक्षम्य है। दूसरे बड़े वकील हैं श्रीशान्तिस्वरूप भटनागर। जनताका नमक खाते हुए भी इन्होंने सदैवसे वनस्पतिवालोंका साथ दिया है। जब पंजाबमें रंग डालनेका सवाल आया, तब भी आपने जनताका नहीं, वनस्पति घीका पक्ष लिया। आप वनस्पति घीमें मिलावट दूर करनेके लिये रंग डालनेके भी विरुद्ध हैं। आपकी दलील है कि यदि घीकी मिलावट दूर करनेके लिये वनस्पतिमें रंग डालना जरूरी है तो क्यों न दूधकी मिलावटमें काम आनेवाले पानीको रंग देना चाहिये। आपने लिखा है कि संसारके मान्य लोग रँगने-के विरुद्ध हैं। अतः वह नहीं चाहते कि वनस्पति घीको रँगा भी जाय। श्रीभटनागरने पानी रँगनेकी दलील देकर वनस्पति-का पक्ष ही नहीं लिया, अपनी अविशेषज्ञता ही प्रकट की है। पानी एक प्राकृतिक चीज है। उसका रँगा जाना असम्भव है; पर वनस्पति घीका मिठाई, शरबत आदिकी तरह रँगा जाना असम्भव नहीं। पश्चिमीय देशोंमें वनस्पति घीके बदले मारग्रीन चलती है, वहाँ दूध गायोंका ही होता है और उस दूधके मक्खनका रंग हल्का पीला है। मारग्रीन सफेद होती है, उसे मक्खन-जैसे बनानेके लिये पीला रँगा जाता था, जिसे सरकारने कानूनद्वारा बंद कर दिया। संसारके किसी देशके सम्मुख मारग्रीन-को रँगनेका ही नहीं, रंग न देनेका प्रश्न आया है। अतः भटनागर साहिबका यह कहना कि संसारके विशेषज्ञ रंग डालनेके विरुद्ध हैं, उचित नहीं। मारग्रीन वनस्पतिकी तरह केवल जमा हुआ तेल ही नहीं है, पौष्टिकता लानेके लिये इसमें चर्बी, दूधका छेना, तेल तथा अन्य ऐसे ही कितने पदार्थ मिलाये जाते हैं, मारग्रीन और मक्खनके रंग, स्वाद और सुगन्ध भिन्न-भिन्न हैं। उनकी मिलावट नहीं हो सकती। फिर भी किसानके लाभ और मक्खनकी दस्तकारीकी रक्षाके लिये कनेडा, दक्षिणी अफ्रीका और इटलीने मारग्रीन बनना और बिकना कतई बंद कर दिया। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंडमें यह पनप ही नहीं सकी। इंग्लैंड, अमरीका और डेन्मार्क तथा अन्य देशोंमें जबतक मक्खनको पूरी रक्षा न मिली, तबतक मारग्रीनपर तरह-तरहके प्रतिबन्ध लगाये गये। डेन्मार्कने तो इसके विज्ञापन भी न छपने दिये। अच्छा होता भटनागर विदेशोंके उदाहरण देनेसे पहले 'ओयल एन्ड फैट' (तेल तथा चिकनाई) और भारतसरकारकी मूँगफली रिपोर्टके ३०१ से ३०६ तक पृष्ठ पढ़ लेते। दर-असल भटनागर साहिब सदासे वनस्पतिवालोंके पक्षपाती रहे हैं। इसका कारण बतलाना मेरा काम नहीं है। यह सरकारका काम है।

५. वनस्पतिकी माँग अच्छा होनेके कारण नहीं

यह ठीक है कि पिछले दस सालोंमें वनस्पति घी

आठगुना अधिक बढ़ा है और शुद्ध घीका उत्पादन आधा रहा है। वनस्पति घीकी माँग इसलिये नहीं बढ़ी, कि वह अच्छी चीज है अपितु इसलिये बढ़ी कि वनस्पतिकी मिलावटके कारण ही शुद्ध घीकी तसल्ली नहीं रही। शुद्ध घीकी तसल्ली न रहनेके कारण मजबूरन वनस्पति खरीदना पड़ता है। शायद ही कोई फौजी सिपाही होगा जो वनस्पति घी खाना पसंद करे। यदि सरकार सचाईके साथ फौजी सिपाहियोंका मत ले तो नब्बे प्रतिशतसे भी अधिक वनस्पतिके विरोधी मिलेंगे। पर जब फौजीके लिये वनस्पतिकी मिलावटके कारण शुद्ध घी नहीं मिलता या मिलनेमें कठिनाई आयी, तब उसे मजबूरन वनस्पति खरीदना पड़ा। माँग बढ़नेका कारण वनस्पतिके गुण नहीं, उसकी मिलावट है।

६. रंग भी नहीं, सुगन्ध और दाना भी रहेगा

१९२७ से वनस्पति घीकी मिलावट दूर करनेके लिये रँगनेका सवाल जनता और सरकारके सामने आया, पर जब-जब रंग डालनेकी कोशिश हुई या की गयी, वनस्पति घीके कारखानेवालोंने विशेषज्ञों तथा सरकारी अधिकारियोंसे मिलकर रंग न पड़ने दिया। कभी रंग न मिलनेका बहाना किया गया, रंग मिला तो स्वास्थ्यके लिये खराब बतलाया। सरकार इन मायावी लोगोंके मायाजालमें फँसकर कुछ न कर सकी। २२ मई १९४९को कांग्रेस वर्किंग कमेटीने शीघ्र रंग डालनेकी तजवीज की। श्रीजयरामदास दौलतरामजीने ८ दिसम्बरको रंगका जिक्र किया और उसी सरकारके विशेषज्ञ श्रीभटनागर, जिनके सुपुर्द रंग तलाश करनेका काम हुआ था, कहते हैं रंग नहीं डालना चाहिये। जबतक श्रीभटनागर-जैसे विशेषज्ञ रहेंगे, रंग नहीं पड़ेगा। रंगके अतिरिक्त वनस्पतिमें घी-जैसी सुगन्ध तथा रंग-रूप देना भी उचित नहीं, यह केवल घीकी मिलावटके लिये दिये जाते हैं। सरकारी मूँगफली-रिपोर्टके पृष्ठ ३०५ पर सिफारिश की गयी है कि ब्यूट्रिक एसिड और साइन्थेटिक एसैन्स, जो वनस्पतिको घीका रंग-रूप देता है, न मिलाये जायँ, पर कुछ परवा नहीं की गयी। वनस्पति घीके कारखानेवाले, उनके पक्षपाती विशेषज्ञ और सरकारी अधिकारी रंग न पड़ने देंगे और न घी-जैसी सुगन्ध तथा रूप-रंग बंद करेंगे। इसका एक ही उपाय है वनस्पति तेल, (घी नहीं, तेल है) तेलकी तरह बने तथा बिके। जमाया न जाय। भारत-सरकारके वर्तमान खाद्य-मन्त्री श्री के० एम० मुन्शीने मद्रासमें वनस्पतिवालोंसे मिलावट दूर करनेके लिये कहा। यदि वास्तवमें श्रीमुन्शीजी चाहते हैं कि मिलावट दूर हो तो वनस्पति तेलोंका जमाना बंद कर दें। यदि वह तुरंत ऐसा नहीं करना चाहते तो अनुभवके तौरपर रंग मालूम करनेकी जिम्मेवारी सरकारी विशेषज्ञोंपर न डालकर कारखानेवालोंपर डालें। एक कमेटी बनानेका निश्चय किया था पर आजतक उस कमेटीका पता ही नहीं है। यदि यह कमेटी जाँच कर लेती तो वनस्पति घीवालोंका पक्ष कतई कमजोर होता। सरकारने हर उचित-अनुचित तरीकेसे वनस्पति घीवालोंकी मदद करनेकी कोशिश की है। पं० ठाकुरदासजी भार्गवके वनस्पति घीके निषेध-बिलकी बाबत जनमत लेनेकी जरूरत न थी, केवल कानून बनाना था। यदि जनमत ही लेना था तो ग्रामपंचायतों, म्युनिसिपल बोर्डों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा अन्य ऐसी संस्थाओंसे लेना था जो लोगोंके सीधे सम्पर्कमें रहती हैं। आज वनस्पतिवाले अपने व्यापारियोंके द्वारा दबाव या लालच देकर हस्ताक्षर करवा रहे हैं। यह शुद्ध जनमत नहीं है। यह आवश्यक बिल केवलमात्र सरकारी गजटमें छापनेसे जनतातक पहुँचा ही नहीं। जो पहुँचना उचित था सरकारने इसे केवल अपने गजटमें छापा जो अंग्रेजी भाषामें है, जिसे जनताका एक प्रतिशत भाग भी नहीं समझ सकता। बिलके साथ कुछ प्रान्तोंमें नियमके अनुसार संसदमें हुए वक्तव्योंका सार नहीं, विशेषज्ञोंकी अधूरी एकतरफा सम्मति है। इन बातोंसे सिद्ध है कि जनताके नामसे चलनेवाली सरकार जनताका नहीं, वनस्पति घीवालोंका पक्ष ले रही है। गान्धीजीके नामकी दुहाई देनेवाली सरकारके कर्णधारोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे महात्मा गान्धीजीके कथनानुसार वनस्पति घीको जाली सिक्का समझें, इसे धोखा और दगा मानें और जनहितके लिये इसका जमाना बंद कर दें। यदि सरकारने अपनी अनुचित जिद्दको न छोड़ा तो भविष्यमें आनेवाले चुनावोंमें वनस्पति घी भी उसकी पार्टीके उम्मीदवारोंके विरुद्ध एक बड़ी दलील होगी। लाखों वोटोंपर इसका प्रभाव पड़ेगा।*

* इस लेखको पढ़ लेनेके बाद वनस्पतिके पक्षमें कही जानेवाली बातोंकी निस्सारता सबकी समझमें आ गयी होगी। 'कल्याण'के पाठकोंसे प्रार्थना है कि इसके विरोधमें पं० ठाकुरदासजी भार्गवने जो बिल विधान-सभामें रक्खा है, उसके समर्थनमें गताङ्कके लेखके अनुसार सभाओंमें प्रस्ताव पास करके और जनतासे हस्ताक्षर कराकर श्रीमान् स्पीकर महोदय, संसद नयी दिल्लीके पतेसे भेजनेकी शीघ्र कृपा करें।—सम्पादक

'कल्याण'के इस अङ्कपर भारतवर्षके विभिन्न भाषाओंके बहुसंख्यक पत्रोंने जो मत प्रकट किये हैं, उनमेंसे मराठीके प्रसिद्ध 'केसरी' और गुजरातीके 'ज्योति'के मतका अधिकांश नीचे दिया जाता है—

'केसरी'—संयुक्तप्रान्तके गोरखपुर, गीताप्रेससे 'कल्याण' नामक सुप्रसिद्ध हिंदी मासिकपत्र निकलता है। 'कल्याण'का प्रतिवर्ष एक विशेषाङ्क निकला करता है। इस वर्ष 'हिंदू-संस्कृति' नामक विशेषाङ्क निकला है। इस विशेषाङ्कमें बड़े आकारके कुल १०२५ पृष्ठ हैं। सुन्दर चिकने कागजोंपर २२८ इकरंगे और २१ बहुरंगे उत्कृष्ट चित्र हैं। 'हिंदू-संस्कृति'पर प्रकाश डालनेवाले लगभग ३०० लेख और ४६ कविताएँ हैं। कुछ लोगोंकी समझ है कि 'हिंदू' शब्द हीनत्वका द्योतक है। इस अङ्कमें इस शङ्काका उत्तर दिया गया है और हिंदू शब्द प्राचीन तथा गौरवार्थी है, यह दिखलाया गया है।

लेखोंमें 'भारतीय संस्कृति और सूर्य', 'भगवद्गीता और कम्यूनिस्टवाद', 'हिंदू कौन है', 'हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप,' 'त्याग और भोगका समन्वय,' 'भारतीय सामाजिक रचना और मार्क्सवाद', "भारतीय संस्कृतिमें स्त्रियोंका स्थान' इत्यादि लेख विशेष अभ्यसनीय हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन दर्शन-शास्त्र, देवतावाद, हिंदुओंके मुख्य देवता, भगवान्‌के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अवतार, आदर्शभूत महर्षि, प्राचीन भक्त और अर्वाचीन सत्पुरुष, आदर्श स्त्रियाँ, विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्य, महात्मा और भक्त, आदर्श राजा-महाराजा इत्यादिकी जानकारी करानेवाले विविध लेख हैं। मुख्य सम्पादकका 'हिंदू-संस्कृति अध्यात्मपरक है' लेख विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकारके उत्तम लेखोंसे पूर्ण और उत्कृष्ट चित्रोंसे सुसज्जित प्रचण्ड अङ्क केवल वार्षिक मूल्यमें ही ग्राहकोंको मिल जाता है। कल्याणका वार्षिक मूल्य डाकव्ययसहित ७॥) रुपया है।

'ज्योति'—भारतके सुप्रसिद्ध हिंदी मासिकपत्र 'कल्याण'ने इस वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति' विषय-पर निकाला है। इसमें अनेकों चित्रोंके साथ १०४६ बड़े आकारके पृष्ठ हैं। पहले पृष्ठपर 'हिंदू-संस्कृति'का आदर्श रंगीन चित्रमें दिखलाया गया है। इस अङ्कमें हिंदू-संस्कृतिके समग्र प्रकार, मन्तव्य, वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंकी सूक्तियाँ, विभिन्न दर्शनों और वादोंका सार, आयुर्वेद-चिकित्सा, शिल्पकला, चित्रकला, सङ्गीतकला, नाट्यकला, नक्षत्रविज्ञान, सामुद्रिकशास्त्र, अवतार, ऋषि-मुनि, भक्त, सत्पुरुष, सन्नारी, राजपुरुष, तत्त्वचिन्तक, देवी-देवताओंके संक्षिप्त वृत्तान्त, शिष्टाचार, वर्णव्यवस्था आदि विषय दिये गये हैं। साम्प्रदायिक आचार्य, सुप्रसिद्ध शास्त्री, पण्डित, महामहोपाध्याय, साहित्यकार, प्राध्यापक, वकील आदिके अतिरिक्त श्रीअरविन्द, श्रीमाताजी, भूतपूर्व गवर्नर जनरल श्रीराजगोपालाचार्य, बंगाल तथा विहारके गवर्नर, भारत-सरकारके भूतपूर्व उद्योगमन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, उत्तरप्रदेशके शिक्षामन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्द, श्रीगोलवलकर, श्रीविनोवा भावे आदि-आदिने हिंदू-संस्कृतिकी अनेकों वानगियाँ परोसी हैं। हिंदू-संस्कृतिका दर्शन करानेवाली अनेकों कविताएँ भी इस अङ्कमें हैं। अतएव प्रत्येक सुशिक्षित हिंदू बहिन-भाईके लिये इस अङ्कका पढ़ना आवश्यक है। यह विशेषाङ्क इतना बड़ा होनेपर तथा दूसरे ग्यारह अङ्क और भी दिये जानेवाले होनेपर भी 'कल्याण'के इस वर्षका वार्षिक मूल्य केवल ७॥) रुपया रक्खा गया है। इसके लिये तथा गत २३ वर्षोंसे हिंदू-धर्म, हिंदू-तत्त्वविद्या और हिंदू-संस्कृतिकी प्रतिमास लगातार सेवा करते रहनेके लिये हम 'कल्याण'के सञ्चालकोंको हार्दिक धन्यवाद देते हैं और अपने पाठकोंको 'कल्याण'का 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' पढ़नेके लिये अनुरोध करते हैं।

विष्णु भगवान्का ध्यान

तव प्रभु ध्यान करै युत प्रीती । एक चित्त निरखै एहि रीती ॥
नील कंज दल स्याम सरूपा । सिरपर ललित किरीट अनूपा ॥
मुख प्रसन्न अंबुज दुतिहारी । कंज गर्भ दृग सोभनकारी ॥
सौरभ स्याम अलक घुघुरारे । ललित कपोलन पैं सुख भारे ॥
मंडित गंड सुकुंडल लोलं । नासा सुक तहँ मुक्त अमोलं ॥

अरुण अधर अति सोहने, चिबुक चारु दर ग्रीव ।
कंठ कौस्तुभमनि लसै, सकल प्रभा की सींव ॥
अंगद भुज वर सोह, कटक मुद्रिका सुभग अति ।
मुक्त माल मन-मोह, संख चक्र कर कमल धर ॥

वक्ष चिह्न श्रीवत्स पुनीतं । लसत कमल केसर पट पीतं ॥
वनमाला युत मधुप सोहनी । रसना श्रोणि देस पर बनी ॥
नूपुर चरन शब्द युत नीको । पद नख मनि प्रकास कर ही को ॥
दर्सनीयतम सांत अनूपा । दृग मन कहु अभिराम अनूपा ॥
भक्त हृदय वर कंज सुहावन । सोइ आसन जिनको अति पावन* ॥

---

* हस्तलिखित दोहा-चौपाईयुक्त श्रीमद्भागवतसे ।

वर्ष २४
अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २००७, अक्टूबर १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

'कल्याण'का

पचीसवें वर्षका विशेषाङ्क

संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे प्रार्थना

'कल्याण' अपने ग्राहकोंकी रुचि और आग्रहसे प्रति तीसरे वर्ष प्राचीन साहित्यमें किसी विषय-पर विशेषाङ्क देनेका प्रयत्न किया करता है। इसीलिये 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'से पहले 'उपनिषदङ्क' निकला था। और अगले वर्ष 'संक्षिप्त स्कन्दपुराण' विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करना निश्चय किया गया है। भारतीय वाङ्मयमें पुराण-साहित्यका विशेष महत्त्व है। पुराणोंमें स्कन्दपुराण प्रधान है। इसमें तीर्थ, देवता, पर्व और मासादिके माहात्म्यके प्रसङ्गमें भगवान्‌के तत्त्व, स्वरूप, रहस्य, लीला, महत्त्व और चरित्रोंको लेकर बड़ी सुन्दर-सुन्दर कथाएँ दी गयी हैं। परंतु यह पुराण बहुत बड़ा है और मूल संस्कृतमें है, इस कारण सर्वसाधारण इसके लाभसे प्रायः अभीतक वञ्चित ही है। इसीलिये इसके विशेष-विशेष उपयोगी स्थलोंको चुन-चुनकर उनका सरल सुन्दर हिंदी-अनुवाद इस अङ्कमें देनेका प्रयत्न किया गया है। अतः इस अङ्कमें बहुत ही रोचक, शिक्षाप्रद तथा लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली अनेकों सुरुचिपूर्ण सुन्दर ऐसी कथाएँ रहेंगी, जिनके पढ़नेमें बालक, वृद्ध, युवा सभी नर-नारियोंका मन लगेगा और उनका उपकार होगा।

साथ ही, इसमें भगवान् विष्णु, भगवान् शङ्कर, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण आदिके तथा भक्तोंके एवं अन्यान्य कथा-प्रसङ्गोंके सैकड़ों सादे, इकरंगे तथा बहुरंगे सुन्दर चित्र दिये जायँगे। जिससे यह अङ्क और भी सुन्दर, सुगम, सुबोध और विशेष आकर्षक तथा संग्रहणीय हो जायगा। इसमें पृष्ठ-संख्या लगभग ८०० होगी। यदि एक अङ्कमें संक्षिप्त स्कन्दपुराणकी पूरी सामग्री नहीं जा सकेगी तो अगले कुछ अङ्कोंमें वही और दी जायगी। उसके बादके अङ्कोंमें सदाकी भाँति पारमार्थिक विविध विषयोंपर अनुभवी तथा विद्वानोंके लेख रहेंगे। वार्षिक मूल्य ७॥) रक्खा गया है। इसमें 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' (विशेषाङ्क) मिलेगा और ग्यारह महीनोंतक प्रतिमास एक-एक साधारण अङ्क मिलता रहेगा।

अबतकके प्रकाशित 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनके लिये पहलेसे रुपये भेजकर ग्राहक नहीं बन जानेवालोंको निराश ही रहना पड़ा है। उन विशेषाङ्कोंके लिये अबतक हमारे पास बड़ी आग्रहपूर्ण माँगें आती हैं। परंतु अङ्क न होनेसे हमें सबको निराशापूर्ण उत्तर लिखना पड़ता है। अतएव नये-पुराने जिन सज्जनोंको ग्राहक बनना हो, वे मनीआर्डरसे ७॥) रुपये तुरंत भेजनेकी कृपा करें जिससे उनका विशेषाङ्क सुरक्षित हो जाय। मनीआर्डर-फार्म साथ भेजा जा रहा है।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में लिये जा रहे हैं। अतएव सब पत्र-व्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय और मनीआर्डरके कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। मनीआर्डर-कूपनमें ग्राहक-नम्बर जरूर लिखना चाहिये तथा नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये, और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग।

सजिल्द विशेषाङ्क चाहनेवालोंको १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये। इस वर्ष जिल्दों-की जुजबन्दीकी सिलाईकी व्यवस्था की गयी है।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये।

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजना चाहें, वे पूरी बीमा बेंचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्डपत्रसे रुपये न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'की नहीं होगी।

कल्याणके चार महत्त्वपूर्ण पुराने विशेषाङ्क

'कल्याण' के पुराने विशेषाङ्कोंकी बड़ी माँग है, किंतु हमारे पास केवल चार ही हैं—

१—संक्षिप्त महाभारताङ्क–१७ वें वर्षका विशेषाङ्क (पूरी फाइल दो जिल्दोंमें) १०)
२—संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क–१९ वें वर्षका विशेषाङ्क पूरी फाइलसहित ४≡)
३—उपनिषदङ्क–२३ वें वर्षका विशेषाङ्क पूरी फाइल ६≡)
४—हिंदू-संस्कृति-अङ्क–२४ वें वर्षका विशेषाङ्क (चालू वर्ष, पूरे वर्षके अङ्क) ७॥)

इनकी थोड़ी ही प्रतियाँ बची हैं, अतएव मँगवानेवाले सज्जन शीघ्र मूल्य भेजकर मँगवा लें।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रामचरितमानस मूल (गुटका)

—जो कि इधर कुछ दिनोंसे अप्राप्य था, अब छपकर तैयार हो गया है। मूल्य ॥।) डाकखर्च ॥); दो प्रतिका मूल्य डाकखर्चसहित २≡); तीनका ३=); छःका ५॥।=); बारहका ११॥) भेजना चाहिये।

गीता-डायरी सन् १९५१ की अक्टूबरमें तैयार हो सकती है।

साइज २२×२९—३२ पेजी, मूल्य अजिल्द ॥=) सजिल्द ॥।)

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २००७, अक्टूबर १९५० { संख्या १०
पूर्ण संख्या २८७

क्षुधा-माधुरी

गोपालराइ दधि माँगत अरु रोटी ।
माखन सहित देहु मेरी मैया, सुपक सुकोमल रोटी ॥
कत हौ आरि करत मेरे मोहन, तुम आँगनमैं लोटी ।
जो चाहौ सो लेहु तुरतहीं, छाँड़ौ यह मति खोटी ॥
करि मनुहारि कलेऊ दीन्हौं, मुख चुपर्‌यौ अरु चोटी ।
सूरदासकौ ठाकुर ठाढ़ो, हाथ लकुटिया छोटी ॥

—सूरदासजी

याद रक्खो—सांसारिक सुख तुम्हारी उन्नतिका प्रतिबन्धक है, तुम्हारे विकासका वैरी है, तुम्हारे विवेकका नाशक है और तुम्हारे नये पापों और बन्धनोंका कारण है ।

याद रक्खो—सांसारिक सुख तुम्हें सम्पत्तिपर गर्व करना सिखाता है, तुम्हारी प्रवृत्तियोंको बहिर्मुखी करता है, तुम्हारी यथार्थ दृष्टिपर अज्ञानका पर्दा डाल देता है और तुम्हारे सहज जीवन-प्रवाहका अवरोध करता है।

याद रक्खो—सांसारिक सुख तुम्हें ऐश्वर्यका गुलाम बनाता है, भविष्यकी सुखकल्पनाके भ्रमजालमें फँसाता है, तुम्हारे हृदयको कलुषित करता है और तुम्हें पतनकी ओर ले जाता है ।

याद रक्खो—सांसारिक सुख विषयोंमें आसक्ति और कामनाको बढ़ाता है, बुद्धिको भ्रष्ट करता है, दीन और दुखियोंके प्रति उपेक्षाके भाव जाग्रत् करता है और अधिकारकी प्रबल लालसा उत्पन्न करता है ।

याद रक्खो—सांसारिक सुख दूसरोंकी उन्नतिमें ईर्ष्या उत्पन्न करता है, मोहमुग्ध कर देता है, दूसरोंको मूर्ख और अपनेको बुद्धिमान् माननेके लिये आग्रह करता है और सहज ही श्रेष्ठ पुरुषोंका भी अपमान करवा देता है।

याद रक्खो—सांसारिक सुख मनुष्यकी दृष्टिको परम साध्यसे हटा देता है, विलास-विभ्रममें जोड़ देता है, आत्मशक्तिको छिपा देता है और मानव-जीवनको विफल कर देता है ।

याद रक्खो—सांसारिक सुख तुम्हें धर्मसे हटाता है, ईश्वरसे विमुख करता है, आत्माको अधोगतिमें ले जाता है और नरकोंकी यन्त्रणा भोगनेको बाध्य करता है ।

याद रक्खो—इसके विपरीत, सांसारिक दुःख उन्नतिमें सहायक है, विकासकी ओर ले जाता है, विवेकको जाग्रत करता है और पापोंका प्रायश्चित्त कराकर बन्धनोंको काटता है ।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख तुम्हें सुकृतियोंपर गर्व करना सिखाता है, तुम्हारी प्रवृत्तियोंको अन्तर्मुखी करता है, यथार्थ दृष्टिको खोलता है और जीवनप्रवाहको सीधा चलने देता है ।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख तुम्हें मनका स्वामी बनाता है, भविष्यमें सच्चे सुखके साधन बतलाता है, हृदयको पवित्र और उदार बनाता है और उत्कर्षकी ओर ले जाता है।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख वैराग्य और उपरतिको उत्पन्न करता है, बुद्धिको शुद्ध करता है, दीन-दुखियोंके प्रति सहानुभूतिके भाव जाग्रत् करता है और अधिकारके केन्द्रसे हटाकर कर्तव्यपरायण बनाता है ।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख विनयी और नम्र बनाता है, मोह-निद्रासे जगाता है, दूसरोंके प्रति सद्भाव पैदा करता है और श्रेष्ठ जनोंका सम्मान करना सिखाता है ।

याद रक्खो—सांसारिक दुःख साध्यका स्मरण कराता है, विलास-भ्रमका भंग कर देता है, आत्मशक्तिको प्रकाशित करता है और मानव-जीवनको सफलताकी ओर ले जाता है !

याद रक्खो—सांसारिक दुःख तुम्हें धर्ममें लगाता है, ईश्वरके आश्रयमें ले जाता है, आत्माका उत्थान करता है और नरक-यन्त्रणासे बचाकर सद्गति प्राप्त कराता है ।

याद रक्खो—मोहके कारण ही तुम सांसारिक भोगसुखोंको चाहते हो और सांसारिक दुःखोंको भयानक मानकर उनसे भागना चाहते हो । विश्वास करो, जो सुख भगवान्‌का विस्मरण कराकर भगवान्‌की ओर अरुचि उत्पन्न कर दे, उसके समान कोई भी हमारा शत्रु नहीं है । और जो दुःख विषयोंसे हटाकर भगवान्‌की ओर लगा दे, उसके समान हमारा कोई मित्र नहीं है । इसी प्रकारके सुख-दुःखोंकी यह बात है और इसी दृष्टिसे सांसारिक सुख-दुःखका निरीक्षण और परीक्षण करके उनसे लाभ उठाना चाहिये ।

'शिव'

श्रीमद्भागवतकी कुछ सुधा-सूक्तियाँ

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसंभृताम् ।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥
(५ । १९ । २५)

जो प्राणी इस भारतवर्षमें ज्ञान, क्रिया और द्रव्य-राशिसे सम्पन्न मानव-जन्मको पाकर भी मोक्षके लिये प्रयत्न नहीं करते, वे जंगली जन्तुओंकी भाँति पुनः बन्धनमें ही पड़ते हैं ।

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं
स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्
वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ॥
(५ । १९ । २८)

देवता कहते हैं कि यदि इस देवलोकमें स्वर्गसुख-भोगसे बचा हुआ अब भी हमारा यज्ञ, स्वाध्याय एवं क्रियाजनित शुभ पुण्य शेष हो तो उसके फलरूपमें अजनाभ भारतवर्षके भीतर हमलोगोंका जन्म हो और उस समय हमें अपने पूर्वजन्मकी भी स्मृति बनी रहे । भारतवर्ष वह पुण्यस्थली है, जहाँ साक्षात् श्रीहरि अपना भजन करनेवालोंका कल्याण करते हैं ।

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः ।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥
(६ । १ । १६)

राजन् ! पापी मनुष्य अपने मन-इन्द्रिय और प्राणको श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित करके उनके भक्तजनोंकी सेवासे जितना पवित्र हो सकता है, उतना तपस्या आदिसे नहीं हो सकता ।

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥
(६ । १ । १८)

राजेन्द्र ! जैसे मदिरासे भरे हुए घड़ेको नदियाँ भी नहीं शुद्ध कर सकतीं, उसी प्रकार भगवद्विमुख मनुष्य-को अनेकानेक प्रायश्चित्त व्रत भी पवित्र नहीं बना सकते ।

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥
(६ । १ । १९)

जिन्होंने यहाँ भगवान्के गुणोंमें अनुरक्त हुए अपने मनको एक बार भी श्रीकृष्णचरणोंमें लगाया है, उनके द्वारा समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है। वे यमराज तथा उनके पाशधारी किंङ्करोंको स्वप्नमें भी नहीं देखते।

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
(६ । २ । १०)

समस्त पापियोंके लिये यही सबसे सुन्दर प्रायश्चित्त है कि वह भगवान् विष्णुके नामोंका कीर्तन करे । इससे भगवद्विषयक बुद्धि होती है ।

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्धयत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥
(६ । २ । ११)

ब्रह्मवादी महात्माओंद्वारा बताये हुए व्रत आदि प्रायश्चित्तोंसे पापी पुरुष वैसा शुद्ध नहीं होता जैसा कि भगवन्नामसम्बन्धी पदोंके कीर्तनसे होता है । नाम-कीर्तन श्रीहरिके गुणोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है ।

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥
(६ । २ । १२)

पापका प्रायश्चित्त कर लेनेपर भी यदि मन पुनः असत् मार्गपर दौड़ता है तो वह प्रायश्चित्त पापनिवृत्तिका आत्यन्तिक साधन नहीं है । अतः जो लोग कर्ममलका निराकरण करना चाहते हैं, उनके लिये श्रीहरिका गुणानुवाद ही अन्तःकरणको पवित्र बनानेवाला है ।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
(६ । २ । १४)

किसीके नामके व्याजसे, परिहासमें या गीतके आलाप आदिके लिये अथवा अवहेलनापूर्वक भी लिया हुआ भगवान्‌का नाम सब पापोंका नाश करनेवाला माना गया है ।

पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥
(६ । २ । १५)

गिरकर, लड़खड़ाकर, चोट खाकर, बिच्छू आदिके डंक काटनेपर, ताप सहकर या आघात पाकर विवशतापूर्वक भी जो हरि-नामका उच्चारण करता है, वह पुरुष यमयातनाको नहीं प्राप्त होता ।

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥
(६ । २ । १८)

अनजानमें अथवा जानकर उच्चारण किया हुआ जो श्रीहरिका नाम है, वह मनुष्यकी पापराशिको उसी प्रकार भस्म कर देता है जैसे आग ईंधनको ।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥
(६ । ३ । २९)

यमराज अपने सेवकोंसे कहते हैं—जिनकी जिह्वा भगवान्‌के गुण और नामका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंका निरन्तर चिन्तन नहीं करता तथा जिनका मस्तक एक बार भी श्रीकृष्णके सामने नहीं झुकता, भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये कर्म न करनेवाले उन दुष्ट पुरुषोंको तुम अवश्य ले आओ ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात् क्षितेस्तनुः ॥
(६ । ७ । २९)

आचार्य ब्रह्माका, पिता प्रजापतिका, भ्राता इन्द्रका तथा माता साक्षात् पृथ्वीका स्वरूप है ।

दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम् ।
अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः ॥
(६ । ७ । ३०)

बहिन दयाकी मूर्ति है, अपना अतिथि साक्षात् धर्मका स्वरूप है, अभ्यागत अग्निका अङ्ग है तथा सम्पूर्ण भूत आत्माके रूप हैं ।

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम् ।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥
(६ । १० । ६)

निश्चय ही यह संसार स्वार्थी है, यह दूसरेके संकटको नहीं जानता । यदि जानता तो किसीसे याचना न करता, और जो देनेमें समर्थ है, वह माँगनेपर इनकार नहीं करता ।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
(६ । ११ । २६)

भक्त वृत्रासुर कहते हैं—प्राणवल्लभ कमलनयन ! जिनके पंख अभी नहीं उगे हैं ऐसे पक्षिशावक जैसे चारेके लिये अपनी माताकी बाट जोहते रहते हैं, भूखसे पीड़ित बछड़े जैसे वनमें गयी हुई गौ (मा) के दूधके लिये लालायित रहते हैं तथा विषादमें डूबी हुई प्रियतमा

जैसे परदेश गये हुए पतिसे मिलनेके लिये उत्सुक रहती है, उसी प्रकार मेरा मन भी बड़ी उत्कण्ठासे आपका दर्शन करना चाहता है।

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन वालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥
(६ । १५ । ३)

जैसे प्रवाहके वेगसे वालुका बह जाती तथा एकत्र हो जाती है, उसी प्रकार जीव कालके प्रभावसे संयुक्त और वियुक्त होते रहते हैं!

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु॥
(६ । १६ । ६)

जैसे बाजारमें विकनेके लिये रक्खी गयी सुवर्ण आदि वस्तुएँ इधर-उधर भिन्न-भिन्न मनुष्योंके हाथमें जाती रहती हैं, उसी प्रकार जीव भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है।

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः।
कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च॥
(६ । १७ । १९)

सुख-दुःखको देनेवाला न तो अपना आत्मा है और न कोई दूसरा ही है। जो अज्ञानी है वही अपने-को अथवा दूसरेको दुःख-सुखका कारण मानता है।

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति॥
(७ । २ । ४०)

भाग्य अनुकूल हो तो उससे सुरक्षित होकर रास्ते-में गिरी हुई वस्तु भी ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती है, परंतु भाग्यकी मारी हुई होनेपर घरमें तिजोरीके भीतर रक्खी हुई वस्तु भी खो जाती है। दैवकी अनुकूल दृष्टि पड़ने-पर वनमें अनाथ प्राणी भी जीवित रह सकता है; परंतु जो भाग्यका मारा हुआ है, वह घरमें सुरक्षित रहनेपर भी मर जाता है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(७ । ५ । २३-२४)

भक्त प्रह्लाद कहते हैं—भगवान् विष्णुके नामोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—यह नव प्रकारकी भक्ति है। यदि किसी पुरुषने भगवान् विष्णुके प्रति यह नवधा भक्ति सम्पादित कर ली तो मैं इसीको सबसे उत्तम अध्ययन मानता हूँ।

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥
(७ । ६ । १)

बुद्धिमान् पुरुष कुमारावस्थासे ही यहाँ भागवत धर्मोंका आचरण करे। क्योंकि मानवजन्म दुर्लभ है, यदि प्राप्त हो गया तो भी स्थिर रहनेवाला नहीं है; किंतु यदि इसका सदुपयोग हुआ तो यह परम पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥
(७ । ७ । ३२)

सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं, ऐसा अपने मनमें समझते हुए उन सबको इच्छा-नुसार वस्तुएँ देकर भलीभाँति सम्मानित करना चाहिये।

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥
(७ । ९ । ९-१०)

मेरा ऐसा विचार है कि धन, उत्तम कुल, रूप, तपस्या, वेदाध्ययन, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पुरुषार्थ, बुद्धि और योग—ये सभी परमपुरुष भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं, परंतु भक्तिके द्वारा भगवान् गजराजपर भी सन्तुष्ट हो गये । उपर्युक्त बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् पद्मनाभके चरणकमलसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल ही श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दिया है । क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलको पवित्र करता है; किंतु बड़प्पनका अधिक अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता ।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥
(७ । १४ । ८-९)

जितनेसे अपना पेट भर जाय उतने ही धनपर जीवोंका अधिकार है । जो इससे अधिक धनको अपना मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये । हरिन, ऊँट, गदहा, बंदर, चूहा, सर्प, पक्षी तथा मक्खीको भी अपने पुत्रकी ही भाँति देखे । भला इन जीवोंमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है ।

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम् ।
कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥
(७ । १५ । १६-१७)

जो सन्तुष्ट है, निष्काम है तथा अपने-आपमें ही रमण करनेवाला है, उसे जो सुख मिलता है, वैसा सुख कामलालसा तथा धनकी अभिलाषासे चारों दिशाओंमें दौड़नेवाले लोगोंको कैसे प्राप्त हो सकता है ।

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥
(७ । १५ । २२)

संकल्पके त्यागद्वारा कामको जीते, कामके त्यागसे क्रोधपर विजय प्राप्त करे, अर्थ—धनसे जो अनर्थ होते हैं, उन्हें दृष्टिमें रखकर लोभका त्याग करे तथा तत्त्वके विचारद्वारा भयको जीते ।

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥
नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति ।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥
(७ । १५ । ४५-४६)

यह मनुष्य-शरीररूपी रथ जबतक अपने वशमें है और इसके इन्द्रिय-मन आदि साधन अच्छी दशामें विद्यमान हैं, तभीतक श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी सेवा-पूजासे तेज की हुई ज्ञानकी तीखी तलवार लेकर भगवान्‌के आश्रयसे राग-द्वेषादि शत्रुओंका नाश करके अपने स्वाराज्य-सिंहासनपर विराजमान हो जाय और फिर अत्यन्त शान्तभावसे इस शरीरका भी परित्याग कर दे । नहीं तो, तनिक भी प्रमाद हो जानेपर ये इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़े और उनसे मित्रता रखनेवाला बुद्धिरूप सारथि रथके स्वामी जीवको उलटे रास्ते ले जाकर विषयरूपी लुटेरोंके हाथमें डाल देगा । वे डाकू सारथि और घोड़ोंके सहित इस जीवको मृत्युके अत्यन्त भयावने घोर अन्धकारमय संसारके कुएँमें गिरा देंगे ।

यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत्॥
(८। ९। २९)

मनुष्य अपने प्राण, धन, कर्म, मन और वाणी आदिसे शरीर एवं पुत्र आदिके लिये जो कुछ करता है, वह सब व्यर्थ ही होता है, क्योंकि उसके मूलमें भेदबुद्धि बनी रहती है। परंतु उन्हीं प्राण आदि वस्तुओंके द्वारा भगवान्‌के लिये जो कुछ किया जाता है, वह सब भेदभावरहित होनेके कारण अपने शरीर, पुत्र एवं समस्त संसारके लिये सार्थक होता है। जैसे वृक्षकी जड़में पानी देनेसे उसका तना, टहनियाँ और पत्ते सब सिंच जाते हैं, वैसे ही भगवान्‌के लिये किया हुआ कर्म सबके लिये श्रेयस्कर होता है।

गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि।
यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः॥
(८। १६। ७)

जिन घरोंमें आये हुए अतिथियोंका जलसे भी सत्कार नहीं किया जाता और वे वैसे ही लौट जाते हैं, वे घर निश्चय ही गीदड़ोंके निवासस्थानके सदृश हैं।

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्तते सुखम्।
नासन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः॥
पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः।
यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः॥
(८। १९। २४-२५)

जो कुछ प्रारब्धसे मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहनेवाला पुरुष सुखी होता है। परंतु जिसका मन अपने वशमें नहीं है, वह तीनों लोकोंका राज्य पानेसे भी सन्तुष्ट नहीं होता। अतएव वह सुखसे वञ्चित रहता है। धन और भोगोंसे सन्तोष न होना ही जीवके संसारबन्धनमें पड़नेका कारण है। तथा जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें सन्तोष कर लेना मुक्तिका कारण माना गया है।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
(९। १९। १३-१४)

इस पृथ्वीपर जितने भी धान, जौ आदि अन्न, सुवर्ण, (धन-सम्पत्ति) गौ आदि पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब प्राप्त हो जायँ तो भी भोगासक्तिके मारे हुए पुरुषके मनको संतुष्ट नहीं कर सकतीं। उसके मनमें और अधिक भोगोंकी चाह बढ़ती रहेगी। भोगोंकी कामना उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, अपितु घीसे, प्रज्वलित होनेवाली अग्निकी भाँति अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥
(१०। १। ४)

जिनकी समस्त अभिलाषाएँ निवृत्त हो गयी हैं, वे वीतराग मुनि भी जिसका सदा ही गान करते रहते हैं, जो इस भवरोगको दूर करनेवाली अमोघ ओषधि है, और जो कानों तथा मनको अत्यन्त प्रिय लगता है, भगवान् श्रीकृष्णके उस गुणानुवादसे पशुघाती हत्यारेके सिवा दूसरा कौन पुरुष मुँह मोड़ेगा।

साध्वी सुशीलाकी शिक्षाप्रद कहानी

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीतामें मनुष्यको आत्मकल्याणार्थ दैवी सम्पदा धारण करनेके लिये कहा गया है (गीता १६ । ५)। अतः कल्याणकामी मनुष्यको दैवी सम्पदामें बतलाये हुए सद्गुण-सदाचारोंको अमृतके समान समझकर उनका सेवन करना चाहिये । गीतामें सोलहवें अध्यायके आरम्भमें ही तीन श्लोकोंमें भगवान्ने सद्गुण-सदाचारोंके साररूप दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं--

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

'(१) भयका सर्वथा अभाव, (२) अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, (३) तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और (४) सात्त्विक दान, (५) इन्द्रियोंका दमन, (६) भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं (७) शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, (८) स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और (९) इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, (१०) मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, (११) प्रिय और यथार्थ भाषण, (१२) अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, (१३) कर्मोंमें स्वार्थका और कर्तापनके अभिमानका त्याग, (१४) अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, (१५) किसीकी भी निन्दादि न करना, (१६) सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, (१७) इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, (१८) कोमलता, (१९) लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और (२०) व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, (२१) तेज, (२२) क्षमा, (२३) धैर्य, (२४) बाहरकी शुद्धि एवं (२५) किसीमें भी शत्रुभावका न होना और (२६) अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव--ये सब हे अर्जुन ! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

प्रत्येक भाई-बहिन इन दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षणोंको अपनेमें भलीभाँति धारण करनेका कुछ तरीका जान सकें, इसके लिये यहाँ एक कहानी लिखी जाती है—

प्रयागमें एक ब्राह्मण रहते थे, उनका नाम था देवदत्त। वे बड़े ही विद्वान्, सरलस्वभाव, सदाचारी और ईश्वरभक्त थे । राज्यके अधिकारियोंमें भी उनका बड़ा सम्मान था। उनकी पत्नीका नाम था गौतमी । वह बड़ी ही सरल, सीधी, भोले स्वभावकी तथा अक्षरज्ञानरहित थी। उसको एकसे सौतककी गिनतीतक नहीं आती थी। उसके तीन पुत्र और एक कन्या थी । बड़े लड़केका नाम सोमदत्त, बिचलेका रामदत्त और सबसे छोटेका मोहनलाल था । तीनों ही सुशिक्षित और सदाचारी थे। लड़कीका नाम था रोहिणी। इन सभीके विवाह हो चुके थे । रोहिणीके पतिका देहान्त छोटी उम्रमें ही हो गया तथा उसके कोई सन्तान नहीं हुई, इसलिये वह नैहरमें ही रहती थी। लड़कोंकी पत्नियोंके नाम क्रमशः रामदेवी, भगवानदेवी और सुशीला थे। इनमेंसे पहली दो स्त्रियाँ तो अनपढ़ और मूर्ख थीं, किंतु सुशीला बड़ी विदुषी थी, वह अपने नामके अनुसार ही बड़ी शीलवती थी । वह अत्यन्त शान्तस्वभाव, सद्गुण-सदाचारसम्पन्न, ईश्वरभक्त और पतिव्रता थी । वह सभी कामोंमें चतुर और सुशिक्षिता थी । वह कटाई-सिलाई करने, कसीदे काढ़ने, कपड़ोंपर बेल-बूटे बनाने, गंजी-मोजे बनाने, सुन्दर लिपि लिखने तथा चित्रकारी आदि शिल्प-विद्यामें भी बड़ी निपुण थी। उसमें त्याग, सेवाभाव, धैर्य और कार्यकुशलता आदि गुण विशेषरूपसे थे। जबसे सुशीला घरमें आयी, तबसे घरमें मानो सुव्यवस्था आ गयी । उसने सभीको निःस्वार्थ सेवासे मुग्ध करके अपने अनुकूल बना लिया । वह सभीके साथ बड़े प्रेमसे यथायोग्य बर्ताव किया करती । बड़ोंका आदर करती, अपनेसे छोटोंपर दया और स्नेह रखती तथा समान वयकी स्त्रियोंसे मैत्री करती थी। घरवाले तो सब उसके काम-काज और शील-स्वभावसे सन्तुष्ट रहते ही थे, मुहल्लेके अन्य स्त्री-पुरुष भी उसके गुणोंसे प्रभावित होकर सदा उसकी प्रशंसा किया करते। सुशीला यद्यपि छोटी उम्रकी और नववधू थी, पर उसके गुणोंकी इतनी ख्याति हो गयी कि दूर-दूरकी स्त्रियाँ उससे सलाह और शिक्षा लेने आया करती थीं ।

पण्डित देवदत्तजी नित्य नियमितरूपसे सन्ध्या-गायत्री,

पूजा-पाठ और जप-ध्यान किया करते । वे उपदेश, व्याख्यान और पण्डिताईसे अपने घरकी जीविका चलाते थे । उनके दोनों बड़े लड़के नगरमें ही व्यापार-कार्य किया करते और जो कुछ उससे प्राप्त होता, पिताजीको सौंप देते थे । छोटा लड़का मोहनलाल कालेजमें पढ़ता था । घरमें जो कुछ भी भोजन-खर्च लगता, उसके लिये पण्डितजी प्रतिमास अपनी पत्नीको कुछ रुपये दे दिया करते, जिनसे वह अपने रसोइये या नौकरके द्वारा बाजारसे आवश्यक सामान मँगवा लिया करती । गौतमीको अत्यन्त भोली समझकर रसोइया और नौकर दोनों ही बेईमानी और चोरी करते थे । वे जिस चीजका जो दाम बतला देते, वह उतना ही उन्हें दे देती । फिर, रुपये-पैसे भी वे ही दोनों गिनते; क्योंकि गौतमीको तो गिनती आती नहीं थी । वे रुपये माँगकर ले जाते और थोड़ी-सी चीज लाकर ही कह देते कि रुपये सब पूरे हो गये । कभी मोटा-मोटी हिसाब बतला देते, कभी नहीं । बतलाते तो भी गौतमी तो कुछ समझती थी नहीं ।

बुद्धिमती सुशीलाको उनकी चोरी-चालाकी समझनेमें देर नहीं लगी । उसने सोचा, सासजीका स्वभाव सरल और भोला होनेके कारण ये हमारे घरका धन लूट रहे हैं । इसका कोई उपाय करना चाहिये । आखिर, उसने एक दिन रसोइयासे कहा—'महाराजजी ! आप बाजारसे जो गेहूँ, चावल, दाल, साग, घी, तैल और मसाला आदि सामान लाते हैं, उन सबका पूरा हिसाब रखना चाहिये ।' रसोइयाने कड़ककर कहा—'वाह ! तू बड़ी हिसाब लेनेवाली आयी ? हमारे यहाँ तो यों ही सारा काम विश्वासपर चलता है । तेरी सास इतनी बड़ी हो गयी पर बेचारीने कभी कोई हिसाब नहीं माँगा; और तू कलकी आयी हुई हम घरके लोगोंसे हिसाब माँगने लगी । मालूम होता है, अब तू ही घरकी मालिकन हो गयी है !' वधूके प्रति रसोइयाके तिरस्कारसूचक कड़े शब्द बगलके कमरेमें बैठे हुए पण्डित देवदत्तजीके कानोंमें पड़े । उन्होंने स्वाभाविक ही बड़ी धीरजके साथ रसोइयाको सम्बोधन करके कहा—'भैया ! बहू तो ठीक ही कहती है, उसकी सीधी बातपर यों कड़कना और डाँटना तो उचित नहीं है । तुम जो हिसाब नहीं देते, यह अच्छी बात थोड़े ही है । रुपयोंका हिसाब तो पाई-पाईका होना चाहिये । जो भी कुछ हो, अब तुम छोटी बहूको सब बतला दिया करो । यह लिखी-पढ़ी है, सब हिसाब लिख लिया करेगी ।' उन्होंने फिर बहूसे कहा—'बेटी ! तुम्हारी सास तो भोली है, अब तुम्हीं घरका हिसाब रक्खा करो ।' सुशीला तो यह चाहती ही थी । वह लेन-देनका पूरा-पूरा हिसाब रखने लगी । रसोइया तथा नौकर दोनोंसे ही जो भी बाजारसे सामान मँगाया जाता, वह उनसे पूछकर सारा हिसाब लिख लिया करती ।

उसकी सेवा, स्वभाव और गुणोंके कारण घरभरके सभी स्त्री-पुरुष बड़े मुग्ध थे, किंतु स्वार्थी रसोइया और नौकर उसे अपने पथका रोड़ा समझकर उससे द्वेष करने लगे । वे बात-बातमें उसमें छिद्रान्वेषण किया करते और घरकी अन्य स्त्रियोंके मनोंको भी खराब करते रहते । कभी-कभी तो वे ताना भी मार देते कि 'तुम सभीपर तो यह सुशीला मालिकन है । देखो न ! यह आयी तुम्हारे सामने और अब तुमपर हुकुम चलाने लगी है ।' परंतु वे कहतीं—'यह बेचारी तो हम सभीके हुकुमके अनुसार चलती है और बहुत ही सुशील है, तुम व्यर्थ ही ऐसा क्यों कहते रहते हो ?' पर वे तो उसके पीछे पड़े हुए थे, जब अवसर पाते, उसपर झूठा दोष आरोपकर घरवालोंको लगाया-बुझाया करते । ऐसा होनेपर भी सुशीलाके चित्तपर कभी विक्षेप या अशान्ति देखनेमें नहीं आयी, वह तो हर समय प्रसन्नचित्त रहा करती । किंतु अन्य स्त्रियाँ मूर्ख थीं, अतः बार-बार उनकी बातें सुननेसे उन स्त्रियोंपर उनका असर होने लगा । रसोइया और नौकरोंकी बातोंको सच्ची मानकर वे स्त्रियाँ घरके पुरुषोंको भी सुशीलाके विपरीत अनेक तरहकी बातें कहने लगीं; किंतु सुशीलाके गुणोंसे प्रभावित होनेके कारण पुरुषोंपर उनकी बातोंका कुछ भी असर नहीं हुआ ।

कुछ समयके बाद सुशीलाके एक कन्या हुई; उसका नाम रक्खा गया इन्द्रसेनी । इसके दो वर्ष बाद एक लड़का हुआ, जिसका नाम पण्डितजीने इन्द्रसेन रक्खा । लड़केके जन्मके कुछ दिनों बाद सोमदत्त आदिने अनेक बन्धु-बान्धव और मित्रोंको बुलाकर उनकी बाजारू मिठाई, बीड़ी, सिगरेट आदिसे खातिर की और वे सभी चौपड़-ताश खेलने, हँसी-मजाक करने और हो-हल्ला मचाने लगे । घरमें धूम मच गयी । यह सब देखकर सुशीलाने विनयपूर्वक प्रार्थना की—'यह सब किसलिये कराये जाते हैं ?' घरवालोंने कहा—'यह तो यहाँकी प्रथा है । लड़केकी रक्षाके लिये उत्सव मनाया जाता है ।' बहूने हाथ जोड़कर विनयसे कहा—'इससे तो बुरे संस्कार पड़ते हैं, पैसे भी व्यर्थ खर्च होते हैं और हो-हल्ला होनेसे मुझे नींद भी कम आती है । अतः मुझे तो इसमें सिवा हानिके कोई भी लाभ नहीं दीखता । मेरे नैहरमें तो

बहुत अच्छी प्रथा है। वहाँ तो नामकरण-संस्कार होनेके बाद वेद और गीताका पाठ, कथा-कीर्तन आदि हुआ करते हैं; धर्मात्मा, भक्त, दानी, परोपकारी और शूरवीर पुरुषोंकी कथाएँ सुनायी जाती हैं, जिससे बड़ी ही अच्छी शिक्षा मिलती है। इसलिये मेरी तो आपसे यही प्रार्थना है कि इन प्रमादके कार्योंको बंद करा दिया जाय।' सुशीलाके इन विनययुक्त वचनोंका उनपर अच्छा असर पड़ा। उन्होंने तुरंत वे सब बंद करके सुशीलाके कहे अनुसार सारी व्यवस्था कर दी।

घरमें और कोई लड़का न होनेके कारण गौतमी उस लड़केसे विशेष प्यार किया करती। उसने उसके हाथों और पैरोंमें काले डोरे बाँध दिये और गलेमें एक झालरा पहना दिया, जिसमें व्याघ्रनख, लाख और लोहेकी अँगूठी, ताबीज तथा जरखनख आदि पिरोये हुए थे। थोड़े समय बाद वे डोरे लड़केके हाथ-पैरोंकी कलाइयोंमें कुछ-कुछ धँसकर इस प्रकार बैठ गये कि उनमें निशान पड़ गये तथा उस झालरेसे छाती और पीठपर कई जगह निशान पड़ गये। यह देखकर सुशीलाने साससे कहा—'माताजी! बच्चेके हाथ-पैरोंमें ये डोरे क्यों बाँधे गये हैं? इससे तो इसके हाथ-पैर भी कमजोर रह जायँगे और उनमें निशान भी पड़ गये हैं; तथा यह झालरा रातको इसके बदनमें गड़ जाता है, इससे भी कई जगह निशान पड़ गये हैं। इनके बाँधनेसे क्या लाभ है?'

गौतमी बोली—'डाकिनी, पूतना आदिके नजरका दोष बचानेके लिये लड़केकी रक्षाके हेतु ये बाँधे जाते हैं।' तब सुशीलाने पूछा—'आपने इन्द्रसेनीको तो ये कभी नहीं पहनाये?' गौतमीने उत्तर दिया—'लड़कियोंकी रक्षा तो भगवान् करते हैं। इसलिये उनके यह सब बाँधनेकी आवश्यकता नहीं।' सुशीलाने हाथ जोड़कर बड़ी ही विनयसे कहा—'माताजी! भगवान् तो सबकी ही रक्षा करते हैं। जो भगवान् इन्द्रसेनीकी रक्षा करते हैं, वही इसकी भी रक्षा करेंगे। इसके लिये हमलोगोंको इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिये; इन सब कार्योंसे तो उलटा भगवान्पर अविश्वास ही प्रकट होता है तथा कोई लाभ भी नहीं दीखता।'

सुशीलाकी ये युक्तियुक्त बातें गौतमीको भी जँच गयीं और उसने बच्चेके गलेसे वह झालरा और हाथ-पैरोंके डोरे उसी दिन निकाल दिये।

(२)

कुछ दिनोंके पश्चात् हरद्वारमें कुम्भका मेला लगा। सब लड़कोंने मिलकर पण्डितजीके सामने प्रस्ताव रक्खा कि आपकी अनुमति हो तो सब लोग कुम्भ मेलेपर हरद्वार चलें। इसपर पण्डितजीने कहा—'बहुत ही अच्छा है, हम भी चलेंगे।' फिर क्या देर थी, तुरंत तैयारी हो गयी और घरका प्रबन्ध करके वे समस्त परिवारसहित चल पड़े। चलते समय सुशीलाने सबसे प्रार्थना की—'मेलेमें ठग, चोर, कुटनियाँ और लुटेरे भी आया करते हैं, उन सबसे बहुत सावधान रहना चाहिये। किसी भी अपरिचित स्त्री-पुरुषसे कभी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये, किसीकी दी हुई वस्तु स्वीकार नहीं करनी चाहिये और न किसी अपरिचितका विश्वास ही करना चाहिये। यात्रामें खान-पानमें संयम रखना, और सदा धैर्य तथा विवेकसे काम लेना उचित है। किसीके भी सामने कमजोर और डरपोक नहीं बनना, बल्कि धैर्यपूर्वक उत्साह और साहससे काम निकालना चाहिये।'

रास्तेमें सब लोगोंने अयोध्याजी उतरकर स्नान, दर्शन करनेका विचार किया और वे वहाँ जाकर एक धर्मशालामें ठहर गये। सब लोगोंने सरयूमें स्नान करके मन्दिरोंमें जाकर भगवान्के दर्शन किये और फिर धर्मशालामें आ गये। रसोइया धर्मशालाके बाहर चबूतरेपर बैठा था। वहाँ एक ठगने आकर उससे कहा—'मैं तुम्हें एक मसाला देता हूँ, इसे तुम दालमें डाल दोगे तो दाल बहुत बढ़िया बन जायगी और उसको खानेपर सब घरवाले तुम्हारे वशमें हो जायँगे।' रसोइया तो मूर्ख था ही, उसने उससे वह मसाला ले लिया और कुछ दालमें डाल दिया तथा बाकी बचा हुआ पुड़ियामें बाँधकर अलग रख दिया। भोजन तैयार होनेपर सोमदत्त और रामदत्त दोनों भाई, इन्द्रसेन, इन्द्रसेनी और बहिन रोहिणीने भोजन किया। भोजन करते ही वे सब बेहोश हो गये। यह देखकर सुशीलाने निश्चय किया कि अवश्य ही कुछ-न-कुछ गड़बड़ी है, नहीं तो, ये सभी बेहोश कैसे होते।

वह तत्काल रसोईघरमें गयी और देखा कि एक कागजकी पुड़ियामें धतूरेके बीज रक्खे हैं। उसने रसोइयासे पूछा—'आपने आज यह क्या खिला दिया, जिससे खानेवाले सब बेहोश हो गये?' रसोइयाने कहा—'कुछ नहीं।' सुशीला बोली—'कुछ नहीं तो ये बेहोश कैसे हुए? आप सच्ची बात बतला दीजिये; नहीं तो आपपर कानूनी कार्रवाई की जायगी।' यह कहकर सुशीलाने उसको धतूरेके बीज दिखलाये और कहा—'यह क्यों लाये गये हैं?' रसोइया बोला—'एक सज्जन आये थे, वे मुझको बीस रुपये तो दानस्वरूप

भेंट कर गये और यह मसाला दे गये कि इसे दालमें डाल देनेसे दाल बढ़िया हो जायगी और उसको खाकर सब प्रसन्न हो जायँगे। मैंने मसालेको देखा नहीं, कुछ तो दालमें डाल दिया था और कुछ पुड़ियामें रख दिया।'

सुशीलाने तुरंत सारी बातें अपने पतिसे कहीं और शीघ्र उपचार करनेके लिये निवेदन किया। मोहनलालने पण्डितजीसे कहा। सब सुनकर पण्डितजीको बड़ा खेद और आश्चर्य हुआ। उन्होंने चिकित्साके लिये उसी क्षण अच्छे वैद्योंको बुला भेजा और फिर रसोइयाको बुलाकर उसे डाँटा-धमकाया—'तुमने हम सबको मार डालनेका विचार किया था, तुमको पुलिसमें देना चाहिये।' इसपर उसने उनसे क्षमा-प्रार्थना की, तब पण्डितजीने उसको क्षमा करते हुए कहा—'भविष्यमें किसीके साथ ऐसा काम कभी नहीं करना।' इतनेमें वैद्य आ पहुँचे और तत्काल अनुकूल चिकित्सा हो जानेसे सभी लोग बच गये। सबने सुशीलाकी प्रशंसा की।

दूसरे दिन वे वहाँसे चल पड़े। गाड़ी ज्वालापुर पहुँची। बच्चे प्यासे थे, इसलिये सुशीला उन्हें लेकर पानी पिलाने नीचे उतरी। इतनेमें गाड़ी खुल गयी और वह स्टेशनपर रह गयी। घरके लोगोंने जंजीर खींची, पर वह बिगड़ी होनेसे गाड़ी नहीं रुकी। पण्डित देवदत्तजी एवं अन्य सब लोग हरद्वार पहुँचे। शहरमें सब जगह रुकी हुई थी, इसलिये वे गङ्गाजीके किनारे तंबू डालकर उन्हींमें टिक गये; किंतु बालकोंसहित सुशीलाके छूट जानेसे बड़ी चिन्तामें पड़ गये और उसकी खोज करने लगे।

इधर सुशीला घबरायी नहीं, वह बच्चोंको गोदमें लिये पैदल ही चलकर ज्वालापुरसे हरद्वार आ गयी और एक मन्दिरमें जाकर ठहर गयी। उसने विद्वान् पुजारीजीसे अपना सारा हाल संस्कृतमें ही कह सुनाया। पुजारीजीपर उसकी विद्वत्ताका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसको वहाँ ठहरनेके लिये स्थान दे दिया। तब उसने बहुतसे कागज मँगवाकर उनपर अपने ज्वालापुरसे यहाँ आकर मन्दिरमें ठहरनेकी बात लिखी और मन्दिरका पता आदि लिख दिया। पुजारी-जीकी सहायतासे परोपकारी स्वयंसेवकोंद्वारा वे विज्ञापन शहरके प्रधान-प्रधान स्थानोंपर चिपकवा दिये गये तथा पुलिसमें सूचना पहुँचा दी गयी। इससे यह समाचार तुरंत ही सब जगह फैल गया। घरवाले खोज कर ही रहे थे। पता लगते ही मन्दिरमें जाकर उसे ले आये। उसकी इस अद्भुत कार्य-कुशलता और धीरजको देखकर घरवालोंको बड़ी प्रसन्नता हुई।

वहाँ मेलेकी भीड़के कारण उन लोगोंको शुद्ध दूध नहीं मिला, और उनको वहाँ कुछ दिन ठहरना था; अतः दो सौ रुपयोंमें एक गाय खरीदी गयी और वे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। वे रातमें पारी-पारीसे जागकर पहरा दिया करते थे। एक दिनकी बात है, सुशीलाका पहरा था। रातके चार बजे थे। उस समय चोर आया और वह गायको खोलकर ले जाने लगा। सुशीला बड़ी दूरदर्शिका थी। उसने पहलेसे ही तंबूमें एक घण्टा मँगवाकर रख छोड़ा था और घरवालोंको बता रक्खा था कि 'कोई चोर आदि आयेगा या कोई विपत्ति आवेगी तो मैं जोरसे घण्टा बजाऊँगी।' जोरोंसे चिल्लानेपर लज्जा जाती है और सूचना न देनेपर विपत्ति नहीं हटती; चोर धन ले जाता है; इसीलिये सुशीलाने पहलेसे सोचकर यह व्यवस्था की थी। उसने चोरको देख लिया और तुरंत बड़े जोरोंसे घण्टा बजाने लगी। घण्टाकी ध्वनि सुनते ही सब घरवाले चौंक पड़े और सबने एक साथ ही हल्ला किया—'क्या है ? क्या है ?' इतनेमें चोर भाग गया। बहूकी इस बुद्धिमत्तापर सब बड़े प्रसन्न हुए।

जब कुम्भका पर्व आया, तब वे सब हरकी पैड़ीपर स्नान करनेके लिये चले। अत्यधिक भीड़ होनेके कारण कई यात्री रास्तेमें दबकर मर गये; किंतु बुद्धिमती सुशीला घरवालोंको बड़ी चतुराईके साथ भीड़से निकालती हुई सड़कके किनारे-किनारे चलकर घाटपर ले गयी। गङ्गास्नान करके सब लोग डेरेपर वापस आ गये। फिर एक-दो दिन बाद ही वे सब लोग प्रयाग लौट आये और अपने घरपर पहलेकी भाँति रहने लगे।

(३)

एक बार ग्रीष्मकालकी पूर्णिमाका दिन था, सुशीला अपने घरकी छतपर घूम रही थी। पड़ोसके घरकी मालिकन भी अपने घरकी छतपर आयी हुई थी। वह सम्पन्न घरकी विधवा ब्राह्मणी थी। उसके दो लड़के थे। एक १६ वर्षका और दूसरा ३ वर्षका। दोनों घरोंकी छतें बराबर होनेके कारण सुशीलाने सामने जाकर उसको नमस्कार किया। वह बड़ी ही कर्कशा थी। वह बोली—'क्यों री! तू चार अच्छर पढ़ी है, इसीके घमण्डमें मुझे चिढ़ा रही है ?' सुशीला बोली—'नहीं जी; मैं तो आपको अपनी माता और सासके समान समझकर नमस्कार करती हूँ।' वह बोली—'ठीक, तब तो तू मुझे चतुराईसे अपने बाप और ससुरकी औरत बनाना चाहती है ! तेरे उन निपूते बाप और ससुरकी दाढ़ी जलाऊँ, जो मुझे

अपनी औरत बनाना चाहते हैं।' वह इस प्रकार गालियाँ देने लगी और फिर नीचे उतरकर घरके बाहर निकलकर शोर मचाने लगी। जब राह चलते और अड़ोस-पड़ोसके बहुत लोग इकट्ठे हो गये, तब वह उनसे कहने लगी—'इस छोकरी सुशीलाकी ढिठाई तो देखो, यह मुझे अपने बाप और ससुरकी औरत बनाती है।'

जो लोग सुशीलाके हितैषी थे, वे उसकी नाना प्रकारकी गालियोंको सुनकर सुशीलाके पास गये और कहने लगे कि—'तुम अपने पतिको कहकर इसकी पुलिसमें रिपोर्ट करवा दो। अदालत इससे मुचलका ले लेगी। कोई भी किसीको अनुचित गालियाँ नहीं दे सकता।' इसपर सुशीलाने बड़े विनयके साथ हाथ जोड़कर प्रेमसे उन लोगोंको समझाया—'पुलिसमें जाना भले आदमियोंका काम नहीं है। आप देखिये, भगवान्ने चाहा तो थोड़े ही समयमें मैं इनको प्रेमसे अपना लेती हूँ।' उसके इस सरल द्रोहरहित हितैषितापूर्ण निर्वैरताके व्यवहारको देखकर वे सब बड़े प्रसन्न होकर चले गये।

एक दिनकी बात है कि उस कर्कशाका तीन सालका बच्चा घरके बाहर सड़कपर खेल रहा था, उसी समय दो साँड़ लड़ते-लड़ते बालकके समीप आ पहुँचे। सुशीलाने यह देख लिया। वह तुरंत दौड़कर उसको अपनी गोदमें उठा लायी और पड़ोसिनके पास जाकर कहा—'अकेले बालकको सड़कपर नहीं छोड़ना चाहिये। दो साँड़ लड़ते आ रहे थे, लड़केको चोट न पहुँचा दें, इसलिये मैं इसे उठा लायी हूँ।' इसपर कर्कशा बोली—'चल री चल। इसे तू क्यों उठा लायी? मैं आप ही ले आती।' सुशीलाने कहा—'मैं ले आयी तो इसमें मेरा क्या बिगड़ गया?' यों कहकर लड़केको उसके पास बिठाकर वह अपने घर लौट आयी।

सुशीलाके नैहरमें एक धनी ब्राह्मण था, उसकी सुशीला-पर बड़ी श्रद्धा थी। उसने अपनी बारह वर्षकी कन्याकी सगाईके लिये सुशीलाके पास आदमी भेजा। उस कन्याकी सगाईकी बातचीत इसी कर्कशाके बड़े लड़केके साथ चल रही थी। शहरके एक आदमीने कर्कशासे कहा—'तुम्हारे लड़केकी सगाईके विषयमें पूछ-ताछ करनेके लिये सुशीलाके नैहरका ब्राह्मण उसके पास आया है।' यह सुनकर कर्कशा चौंक उठी और बोली—'वह तो मुझसे लड़ी हुई है और सदा मुझसे दुश्मनी रखती है।' यह कहकर वह सुशीलाके घरके द्वारपर छिपकर खड़ी हो गयी और सुशीला तथा उस ब्राह्मणकी परस्परकी बातचीत गुप्तरूपसे सुनने लगी।

ब्राह्मणने सुशीलासे कहा—'तुम्हारे भाईके मित्रने तुमपर विश्वास करके मुझे यहाँ भेजा है। तुम्हारे पड़ोसमें विधवा ब्राह्मणीके एक सोलह वर्षका लड़का है, उसके साथ उनकी कन्याकी सगाई करनेमें तुम्हारी क्या राय है?' सुशीला सब हाल जानती थी। उसने सोचा, दोनों ही धनी हैं। दोनोंकी ही स्त्रियाँ कर्कशा और कलहप्रिय हैं। यह सोचकर उसने ब्राह्मणसे कहा—'उनके लिये यह सगाई सब प्रकारसे अच्छी है।' ब्राह्मणने पूछा—'लड़केकी माको तो लोग कर्कशा बतलाते हैं।' सुशीला बोली—'आजकलके समयमें स्त्रियोंमें बुद्धि कम होनेके कारण सभी घरोंमें राग-द्वेष और कलह रहता है, इसीसे एक दूसरेकी निन्दा करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। मेरी समझमें तो उनके लिये यह सगाई कर लेनी अच्छी है।' यह सन्देश लेकर ब्राह्मण वहाँसे चला गया।

कर्कशा सारी बात आद्योपान्त सुन रही थी। उसपर सुशीलाके इस बर्तावका बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। वह घरके भीतर सुशीलाके पास चली गयी और विनयसे कहने लगी—'सुशीला! तू धन्य है। मैंने तो तेरे साथ बुरा-ही-बुरा बर्ताव किया। इसपर भी तू तो मेरा हित ही करती रहती है। बहिन! मैं तेरे इस व्यवहारको देखकर मुग्ध हो गयी। यह विद्या तूने कहाँसे सीखी है? क्या मेरा स्वभाव भी तुझ-जैसा हो सकता है? मैं तेरा सङ्ग करना चाहती हूँ। क्या मैं समय-समयपर तेरे यहाँ आ सकती हूँ?' सुशीलाने उत्तर दिया—'क्यों नहीं। यह तो आपका ही घर है। आप यहाँ पधारें, यह तो मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपकी मुझपर बड़ी ही दया और प्रेम है।' वह बड़ी प्रसन्न हुई और समय-समयपर सुशीलाके घर जाने लगी। सुशीलाके सङ्गसे उसपर भी अच्छा असर होने लगा तथा थोड़े ही समय बाद वह भी सुशीलाके समान सुन्दर स्वभाववाली बन गयी।

कर्कशा पड़ोसिनमें ऐसा अद्भुत परिवर्तन देखकर सुशीलाके उन हितैषियोंपर बड़ा अच्छा असर पड़ा, जो पहले उसकी रिपोर्ट पुलिसमें करनेके लिये सुशीलासे अनुरोध करते थे; वे अब सुशीलाके पास आकर कहने लगे—'सुशीला! बड़े आश्चर्यकी बात है? तुमने तो इसको अपने समान ही बना लिया!' सुशीला बोली—'यह सब ईश्वरकी कृपा है।'

उन हितैषियोंने फिर कहा—'धन्य है तुमको। हम जो इस कर्कशाकी पुलिसमें रिपोर्ट करनेकी कहते थे, वह हमारी गलती थी।'

कुछ ही दिनों बाद कर्कशाके लड़केका विवाह निश्चित हुआ, तब वह सुशीलाके घरके सभी पुरुषोंको आग्रह करके विवाहमें ले गयी। घरके सभी पुरुष तीन दिनोंके लिये बारातमें चले गये। इसी बीचमें उस मुहल्लेमें एक बनिये-के यहाँ चोरी हो गयी। अतः उस बनियेको साथ लेकर कोतवाल पण्डितजीके घरमें आ घुसे और बोले कि हम आपके घरकी तलाशी लेने आये हैं। यह सुनकर घरकी सब स्त्रियाँ घबरा गयीं; तब गौतमी बोली—'बहू! पुलिसवाले आये हैं; इनका आना अच्छा नहीं। इन लोगोंको कुछ रुपये-पैसे देकर विदा कर दो।' सुशीलाने कहा—'आप चिन्ता न करें, मैं स्वयं ही सब ठीक कर लूँगी।' फिर सुशीला उस बनियेसे कहने लगी—'क्योंजी! क्या आप हमारे घरमें पुरुषोंकी अनुपस्थितिमें तलाशी करवाकर हमारी बेइज्जती कराना चाहते हैं? क्या आपको अपने चोरीके मालका हमारे घरपर सन्देह है?' बनियेने कहा—'नहीं देवीजी! मैं तो ऐसा नहीं चाहता। मुझे तो ये पुलिसवाले ही यहाँ ले आये।' फिर सुशीलाने निर्भीकतापूर्वक कोतवालसे कहा—'क्यों कोतवालजी! क्या आप हमारे घरकी तलाशी लेने आये हैं?' कोतवाल बोला—'कल रातको इस बनियेके यहाँ चोरी हो गयी; अतः हमलोग तलाशी लेनेके लिये यहाँ आये हैं।' सुशीलाने निर्भयतासे कहा—'बहुत अच्छा! आप मुझे लिखकर दे दीजिये कि मैं अपनी स्वतन्त्रतासे तुम्हारे घरकी तलाशी ले रहा हूँ और यह भी बताइये कि तलाशी लेनेपर कुछ नहीं पाया जायगा तो हमारी इस बेइज्जतीका दावा हम किसपर करें, उसके जिम्मेवार कौन होंगे?' यह सुनकर कोतवाल घबराया और बोला—'यह बनिया ही मुझे यहाँ ले आया है और यहाँ आकर अस्वीकार करता है।' यों बात बनाकर वे सब वहाँसे चल दिये। जब घरके पुरुष विवाहसे लौटे तो इस घटनाको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए तथा सुशीलाका और भी अधिक आदर-सत्कार करने लगे।

(४)

इस प्रकार घरके पुरुषोंके द्वारा सुशीलाका बड़ा आदर-सत्कार होने लगा। सुशीलाके इस बढ़ते हुए आदर-सम्मानने घरकी अन्य स्त्रियोंके मनोंमें ईर्ष्याकी आग जला दी। वे सब उससे मन-ही-मन कुढ़ने लगीं और उसे नीचा दिखानेके लिये उसमें छिद्रान्वेषण करने लगीं; किंतु सुशीलामें तो कोई दोष था ही नहीं; वह तो सबकी सेवा करती और सबके गुणोंका बखान किया करती; किसीके अवगुणोंकी ओर तो वह कभी देखती ही नहीं। इसलिये उन लोगोंको कोई साधन नहीं सूझता था। घरकी स्त्रियोंकी इस मनोवृत्तिको देखकर रसोइया और नौकरने इस परिस्थितिसे लाभ उठानेकी सोची।

एक दिन घरकी सब स्त्रियोंने रसोइया और नौकरके साथ मिलकर सुशीलाको गिरानेके लिये षड्यन्त्र रचा। एक योजना बनायी गयी और उसीके अनुसार देवी रामदेवीने यह झूठी बात फैलायी कि मेरा स्वर्णका कङ्कण चोरी हो गया और मेरा सन्देह सुशीलापर है। घरके पुरुषों-को इस बातपर विश्वास नहीं हुआ। कुछ ही दिन बीतनेपर बहिन रोहिणीने यह झूठा प्रचार किया कि मेरा लहँगा और एक साड़ी कलसे गायब है। तब पुरुषोंको कुछ आश्चर्य हुआ कि रोज-रोज घरमें यह चोरी कैसे होने लगी। जाँच-पड़ताल की गयी, पर कुछ पता नहीं चला। फिर दो-चार दिनों बाद ही भगवानदेवीने कहा कि मेरा सोनेका हार कल रातसे गायब है। घरवालोंने बहुत छानबीन की; किंतु कुछ भी पता नहीं चला। चलता भी कैसे? जिसकी चीज होती, वही उसे छिपाकर रख देती। घरकी सभी स्त्रियोंने अपनी-अपनी चीजोंका सुशीलापर ही सन्देह बतलाया।

वहाँ उसी मुहल्लेमें भक्तिदेवी नामकी एक बुढ़िया स्त्री रहती थी, जिसका नैहर सुशीलाके पिताके पड़ोसमें ही था और सुशीलाकी माके साथ उसका बड़ा प्रेम था।

नौकरसे यह सूचना मिली कि भक्तिदेवी कल अपने नैहर जानेवाली है। इसपर नौकर, रसोइया और सब स्त्रियोंने मिलकर एक जालसाजी रची। जिन चार चीजोंके खोनेकी बात फैलायी गयी थी, वे चारों चीजें रोहिणीने एक थैलीमें रखकर उसे सीकर उस बुढ़िया भक्तिदेवीके पास रसोइयाके हाथ भेजी और साथमें एक चिट्ठी लिखकर दी, जिसमें यह लिखा कि 'माताजीसे सुशीलाका नमस्कार। इस भक्तिदेवीके हाथ यह थैली भेजी जा रही है। इसका किसीको पता नहीं लगना चाहिये।' रसोइयाने भक्तिदेवीके पास जाकर कहा—'लो, सुशीलाने अपनी माके पास यह थैली भेजी है और कहा है कि मेरी माको ही देना, किसी दूसरेको नहीं।' यह कहकर रसोइया घर आ गया।

उसी रात्रिमें रोहिणीने सुशीलाको छोड़कर घरकी उन

सभी स्त्रियों और पुरुषोंको एकत्र करके यह बात कही कि कई दिनोंसे जो अपने घरकी चीजें चोरी हो रही हैं, उनके लिये हमलोगोंका सुशीलापर ही सन्देह है। अपने मुहल्लेमें रहनेवाली बुढ़िया भक्तिदेवी सुशीलाकी मासे विशेष प्रेम रखती है। कल वह अपने नैहर जानेवाली है। उसके साथ सुशीलाने अपनी माके पास शायद कुछ भेजा है। कल ही प्रातःकाल भक्तिदेवी जायगी और अपने घरके आगे होकर रास्ता है ही। तब उसे रोककर पूछना चाहिये और सब चीजें देखनी चाहिये कि सुशीलाने क्या-क्या चीजें भेजी हैं।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही सुशीलाका पति मोहनलाल अपने घरके द्वारपर बैठ गया और भक्तिदेवीकी प्रतीक्षा करता रहा। जब भक्तिदेवी थैली लिये जा रही थी, तब मोहनलालने उसे रोका और कहा—'बुढ़िया माई ! क्या लिये जा रही हो ?' भक्तिदेवीने कहा—'सुशीलाने अपनी माके पास एक चिट्ठी और एक थैली भेजी है।' मोहनलाल बोला—'उसे नहीं भेजना है, वापस दे दो।' यह कहकर उसने बुढ़ियासे वह थैली और चिट्ठी ले ली और कहा—'अब तुम जाओ।'

इसके बाद मोहनलालने, जहाँ घरके सब पुरुष थे, वहाँ वह थैली और चिट्ठी ले जाकर रख दी और बुढ़ियाने जो बात कही, वह सब भी कह दी। थैलीको खोलकर देखा गया तो जो चार चीजें चोरी हो गयी थीं, वे उसके अंदर मिलीं। फिर जब चिट्ठी खोलकर पढ़ी गयी, तब सब आगबबूले हो गये। मोहनलाल क्रोधमें भरकर घरमें गया और सुशीलाको बड़े बुरे शब्दोंमें डाँटने लगा—'बदमाश ! चली जा हमारे घरसे बाहर। तूने ही घरकी सब चीजें चुरायी हैं, तूने जो थैली और चिट्ठी भक्तिदेवीके हाथ अपनी माके पास भेजनेका प्रबन्ध किया था, वह सब पकड़ी गयी। हम किसी हालतमें तुझ-जैसी चोट्टीको घरमें रखना नहीं चाहते। जहाँ तेरी इच्छा हो वहीं चली जा।' सर्वथा मिथ्या और अप्रत्याशित आरोपको सुनकर सुशीला काँप उठी, उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे; उसने बड़े ही करुण शब्दोंमें कहा—'स्वामिन् ! आप विश्वास करें, मैंने यह काम नहीं किया है। भगवान् साक्षी हैं। आप शान्त होकर सारी बातें सोचिये। जरा उस बुढ़ियासे तो पूछिये कि उसको थैली और चिट्ठी कौन दे गया था। न मैंने कोई चिट्ठी लिखी और न मैंने कोई थैली ही भक्तिदेवीको दी है। आप उस चिट्ठीके अक्षरोंको तो देखिये कि वे किसके हैं। आपको इसकी पूरी-पूरी जाँच-पड़ताल करनी चाहिये।' पर मोहनलाल तो इस समय क्रोधान्ध था, मेरी पत्नी ऐसा कुकार्य करती है, इससे उसके मनमें बड़ा क्षोभ था। क्रोधमें विवेक नष्ट हो ही जाता है। जाँच-पड़ताल कौन करे—प्रमाण सामने हैं। उसने झुँझलाकर कहा—'तुझे सफाई देते शरम नहीं आती। तूने तो मुझपर अमिट कलङ्क लगा दिया। मेरे मुखपर वह कालिख पोत दी, जो कभी धुल नहीं सकती। मैं तेरा मुँह नहीं देखना चाहता। जा, तुरंत निकल जा यहाँसे।' सुशीलाने गिड़गिड़ाकर बहुत कुछ कहा, पर उसने एक भी नहीं सुनी और उसे घरके बाहर निकाल दिया। इन्द्रसेन उस समय चार वर्षका था और इन्द्रसेनी छः वर्षकी, उनको उनकी दादीने अपने पास रख लिया। षड्यन्त्रकारी रसोइया, नौकर और घरकी स्त्रियोंको अपनी सफलतापर बड़ा आनन्द था। वे हँस रहे थे और उछल-उछलकर कह रहे थे 'हम तो पहले ही जानते थे कि यह इतनी बड़ी-बड़ी बातें बनानेवाली निश्चय ही नीच है, पर इसने तो सबपर जादू ही डाल दिया था, आज सारी पोल खुल गयी !'

ऐसा अनुचित व्यवहार देखकर भी सुशीलाके हृदयमें कोई क्रोध[९] नहीं आया और न कोई [१०]प्रतिहिंसाका भाव ही उत्पन्न हुआ। वह किसीपर भी दोष न लगाकर अपने प्रारब्धको कोसने लगी। उसने सोचा—जब मुझ निरपराधिनीके ऊपर कलङ्क लगाकर मेरे पतिदेव ही मुझे त्याग रहे हैं, तब ऐसी हालतमें मेरे जीनेसे ही क्या प्रयोजन है ? किंतु शास्त्रोंमें बतलाया है कि स्त्रीके लिये पति ही तीर्थ, पति ही व्रत और पति ही सब कुछ है; ऐसा समझकर मुझे उनके विधानमें ही सन्तुष्ट रहना चाहिये और हर समय धैर्य रखना चाहिये। विपत्ति तो सभी मनुष्योंपर आया ही करती है। समझदार मनुष्यको अपने धीरज और धर्मका कभी किसी भी हालतमें त्याग नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
(२। ५६)

'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥

अतः दुःखके आवेशमें आकर जीवनका विनाश करना कोई बुद्धिमानी नहीं है। उससे न इस लोकमें और न परलोकमें ही सुख हो सकता है। बल्कि इस समय जो मुझे घरसे निकाले जानेका दुःख है, आत्महत्या करनेके समय तो इससे भी अधिक दुःख होगा। जो मनुष्य मरनेके लिये नदीमें प्रवेश करता है, उसे उस समय इतना अधिक दुःख होता है कि वह फिर जीनेके लिये बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है। इसी प्रकार मरनेके लिये विष खानेवाला भी पुनः जीनेके लिये विष उतारनेका प्रयास करता है और शरीरपर मिट्टीका तेल छिड़ककर मरनेवाला व्यक्ति तो चिल्ला-चिल्लाकर सिसक-सिसककर मरता है। उसे केवल इस लोकमें ही दुःख होता हो—इतना ही नहीं, मरनेके बाद वह अन्धकारमय नरकोंमें जाकर उससे भी घोर कष्ट और दुर्गतिको प्राप्त होता है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशावास्य० ३)

'अज्ञान और दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आवृत जो असुरोंके प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ और नरकरूप लोक हैं, आत्माकी हत्या करनेवाले जो कोई भी मनुष्य हों, वे मरकर उन्हीं लोकोंमें बारंबार जाते हैं।'

यही नहीं, उसके नैहर और ससुराल दोनों कुलोंको सदाके लिये घोर कलङ्क लग जाता है। यह मेरे लिये बहुत ही लज्जाकी बात है। उत्तम स्त्रियोंके लिये तो आत्महत्याका संकल्प होना ही कलङ्क है। अतः मैं अपने जीवनको कभी नष्ट नहीं करूँगी। ईश्वरके घरपर न्याय है और मैं सच्ची हूँ। मैं जीती रहूँगी तो एक दिन ऐसा आवेगा कि मेरा यह सब कलङ्क अपने-आप दूर हो जायगा। झूठी बात कहाँतक टिकेगी? मेरी तो बात ही क्या है, भगवान् श्रीकृष्णपर भी मणिकी चोरीका झूठा कलङ्क लग गया था, किंतु वह कायम नहीं रहा। ऐसा विचारकर उसने अपने हृदयमें धीरज धारण किया और वह स्वतः प्राप्त हुए कष्टको सहन करके स्वधर्मपालनरूप तपस्यामें संलग्न हो गयी एवं अपने शरीर-निर्वाहका न्याययुक्त उपाय सोचने लगी।

(५)

सायङ्काल होनेपर वह एक धर्मशालामें जाकर ठहर गयी। वह नित्य-निरन्तर नियमपूर्वक परमात्माका ध्यान करती, जिसके प्रभावसे उसका अन्तःकरण पवित्र होता गया। वह मन-इन्द्रियोंको संयम करके नित्य गीता-रामायणका स्वाध्याय और भगवान्‌के पवित्र नामोंका जप किया करती तथा बिना किसी द्रोह-द्वेषके वह मन-ही-मन अपने पतिदेवके विचार शुद्ध हों, इसके लिये कातर प्रार्थना करती।

उसकी जेबमें घरकी रोकड़के हिसाबके पाँच रुपये थे, उन्हींसे उसने अपने भावी जीवनका कार्यक्रम सोचा। दूसरे दिन, वह चार आनेमें सूआ, पौने दो रुपयोंमें रंगीन सूत, आठ आनेमें अपने लिये आटा, दाल और मसाला, चार पैसेमें दोने-पत्तल तथा दो रुपये सात आनेमें एक बाल्टी और तसला खरीदकर ले आयी। उसने तसलेमें आटा गोंदा और उसे पत्तलपर रख दिया। फिर तसलेको उलटकर उसीपर रोटी सेंक ली। रोटी पत्तलपर रखकर तसलेको धोकर उसीमें दाल पका ली। इस प्रकार अपना भोजन तैयार कर लिया। भोजन करनेके बाद दिनमें उसने सूतके गंजी और मोजे बना लिये, जिनको बाजारमें बेचकर साढ़े तीन रुपये कर लिये। रोज इसी प्रकार वह पौने दो रुपये कमाने लगी, जिसमें बारह आनेमें दोनों समयके भोजनका सामान ले आती और एक रुपया जमा रख लेती। पंद्रह दिनोंमें पंद्रह रुपये हो जानेपर उसने पाँच रुपये मासिक किरायेमें एक घर ले लिया, पाँच रुपयेके रसोईके बरतन और खरीद लायी तथा पाँच रुपयेका सूत ले आयी।

इसके बाद सुशीलाने शहरमें सूचना कर दी कि साड़ी, लहँगा, ओढ़ना, चद्दर, दुपट्टा आदिपर किसीको बेल-बूटे कढ़ाने, दोहे-चौपाई, श्लोक आदि लिखवाने हों तो मेरे घरपर भेज दें। लोग उसके पास भेजने लगे। उसके लिखे हुए बड़े ही सुन्दर और आकर्षक दोहे, चौपाई, श्लोक और बेल-बूटे आदिको देखकर लोग उसकी शिक्षा और कारीगरीपर मुग्ध होने लगे। सुशीलाके इस कार्यसे डेढ़ सौ दो-सौ रुपये महीनेकी आय होने लगी। सालभरके बाद उसने एक बड़ा मकान किरायेपर लेकर उसमें एक कन्या-पाठशाला खोल दी, जिसमें बहुत-सी लड़कियोंको बिना शुल्कके ही वह व्याकरण, गीता, रामायण आदि हिंदी-संस्कृतके ग्रन्थ पढ़ाने लगी। वह उनको विद्याके साथ कारीगरीका काम भी सिखाती थी। लड़कियाँ उसके पास जो चीजें तैयार करतीं, उनको वह बाजारमें बिक्री कर दिया करती, जिससे प्रतिमास उसके दो-सौ रुपयोंकी बचत होने लगी। इस प्रकार सालभरमें उसका सब खर्च लगाकर उसके पास दो हजार रुपयोंकी बचत हो गयी।

उसके बाद उसने थोड़ी जमीन खरीदकर एक कच्चा घर बना लिया और एक गाय खरीद ली तथा एक नौकर भी रख लिया, जो गायका तथा घरका सब काम-काज कर देता। इस प्रकार करते-करते दूसरे वर्ष उसके पास पाँच हजार रुपये बच गये।

तीसरे वर्ष वह निजका रेशम, सूत और कपड़ा खरीदकर उनपर गीता-रामायणके श्लोक, दोहे, चौपाई और सुन्दर-सुन्दर बेल-बूटे बनाकर सत्यता और न्यायपूर्वक क्रय-विक्रय भी करने लगी तथा दूसरे लोग जो अपने कपड़ोंपर बेल-बूटे, दोहा, चौपाई लिखवाने आते, उनका काम भी करने लगी। उसके सत्य, न्याय, विनय और प्रेमयुक्त व्यवहारका जनतापर बहुत अच्छा असर पड़ने लगा। इस प्रकार व्यापार करते-करते उसके पास पंद्रह हजार रुपये हो गये एवं उसके सब तरहका खर्च लगकर प्रतिमास करीब एक हजार रुपये बचने लगे। इस तरह रुपये बढ़ जानेसे शहरमें उसकी बहुत ही ख्याति हो गयी। फिर वह एक धनी व्यक्तिकी तरह बहुत ही इज्जतके साथ रहने लगी। उसने अपनी जमीनपर एक पक्का मकान भी बना लिया तथा कई आदमी रख लिये और उसका व्यापार खूब चलने लगा। उसके चरित्र और गुण तो सर्वथा शुद्ध, सात्त्विक और आदरणीय थे ही, उसके कार्य-व्यवहारसे भी ख्याति फैल गयी। उसके हृदयमें दीन, दुखी, अनाथ, गरीब, अपाहिज लोगोंके प्रति बड़ी ही दया थी, इस कारण वह उनको आवश्यकतानुसार अन्न-वस्त्र आदिका निष्कामभावसे दान करने लगी। वह नित्य रसोई बनाकर भगवान्‌के भोग लगानेके बाद बिना मन्त्रोंके बलिवैश्वदेव करती और फिर पहले अतिथियोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करती।

(६)

इधर साध्वी सुशीलाको घरसे निकाल देनेके कारण शहरमें उसके सास-ससुर और जेठ-जेठानी आदि सभी लोगोंकी निन्दा होने लगी तथा घरमें आपसकी अनबन और विवेककी कमीके कारण धीरे-धीरे घरकी सम्पत्ति नष्ट होने लगी।

एक दिनकी बात है कि बहिन रोहिणीके पास उसी मुहल्लेकी एक स्त्री आयी और बोली कि आज मुझे पचास रुपयोंकी बहुत ही आवश्यकता है। यदि तुम रुपये दे सको तो मैं तुम्हें उनका दो रुपये प्रतिशत व्याज दे दूँगी। उसे भले घरकी स्त्री समझकर रोहिणीने पचास रुपये दे दिये। वह रुपये लेकर घर चली गयी। कुछ देर बाद ही वह वापस आयी और एक रुपया देकर कहने लगी—'आपने पचास रुपयोंकी जगह इक्यावन रुपये गिन दिये हैं, इसलिये मैं वापस आयी हूँ। अपना एक रुपया ले लें।' इसका रोहिणीपर अच्छा असर पड़ा। उसने रुपया ले लिया और सोचा—यह बड़े घरानेकी अच्छी स्त्री है। पंद्रह दिन ही बीते थे कि उसने वे पचास रुपये और उनका एक महीनेका व्याज एक रुपया रोहिणीको दे दिया। तब रोहिणीने कहा—'आप ये रुपये कुछ दिन और रख सकती हैं।' वह बोली—'मुझे जरूरत होगी, तब ले लूँगी। अभी जरूरत नहीं है।' ऐसा कहकर वह चली गयी।

कुछ दिनोंके बाद वह फिर आयी और बोली—'आज मुझे दो सौ रुपयोंकी आवश्यकता है, उधार दे सकती हैं क्या?' रोहिणीने झट रुपये निकालकर दे दिये। दस दिन बाद ही उस स्त्रीने दो सौ रुपये और उनके एक महीनेके व्याजके चार रुपये, इस प्रकार दो-सौ चार रुपये लौटा दिये। इससे रोहिणीके दिलमें और भी विश्वास जम गया।

कुछ दिनोंके पश्चात् वह फिर एक दिन आयी और रोने लगी। रोहिणीके पूछनेपर उसने कहा—'हमारे कुटुम्बमें विवाह है। क्या करूँ? मेरा सारा गहना हमारे घरवालोंने बन्धक रख छोड़ा है और बिना गहने विवाहमें जानेसे बेइज्जती होती है, अतः आप तीन दिनको विवाहमें पहननेके लिये कृपापूर्वक मुझे अपना गहना दे दें तो हमारी इज्जतकी रक्षा हो जाय।' रोहिणीको उसपर विश्वास था ही, उसने अपना सब गहना निकालकर उसे दे दिया। वह स्त्री गहना लेकर अपने घर चली गयी। किंतु जब वह पाँच दिनोंतक लौटकर नहीं आयी तो रोहिणी उसके घरपर गयी और उसने पूछा—'बहिन! तुम्हारे विवाहका काम हो गया क्या?' उस स्त्रीने कहा—'हमारे यहाँ तो किसीका विवाह था ही नहीं।' रोहिणी बोली—'आपके कुटुम्बमें विवाह था, उसके लिये आप मेरे पास गहना लेने गयी थीं न।' उसने उत्तर दिया—'हमारे न तो कोई विवाह था, न कोई गहनेकी हमें आवश्यकता ही थी। हमारे अपने पास ही बहुतेरे गहने हैं, हम तुम्हारे पास गहनेके लिये क्यों जातीं?' रोहिणी बोली—'आप मेरे पास कई बार गयीं, रुपये-पैसोंका भी आपसमें कई बार लेन-देन हुआ, फिर आज आप इस तरह मेरे सामने झूठी बातें क्यों बोल रही हैं?' उसने कहा—'वाह री वाह! झूठी बातें मैं बोल रही हूँ कि तू। हम तो

स्वयं रुपयोंका व्याज उपजाते हैं; हमारे तो रुपयोंकी कोई कमी नहीं है, मैं क्यों जाती तुम्हारे पास रुपया लाने ? हमारे यहाँ तो रुपये-पैसोंका काम पड़ता है तो पुरुष ही सब किया करते हैं। हमारे घरके पुरुष यदि ये बातें सुन लेंगे तो तुम्हारी बेइज्जती करेंगे।'

उसकी बातें सुनकर रोहिणीको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने घर लौट आयी और दुःखित हृदयसे अपने पिता और भाइयोंके सामने रोने लगी। उसकी बातें सुनकर उसके पिता और भाईने पूछा—'उस स्त्रीको तुमने जो गहना दिया है उसकी कोई लिखा-पढ़ी है? क्या और उस समय कौन हाजिर था?' रोहिणी बोली—'मैंने तो उसके विश्वासपर गहना दे दिया; कोई लिखा-पढ़ी नहीं की और न उस समय वहाँ कोई दूसरा था ही।' पिता और भाइयोंने कहा—'जब उसकी कोई लिखा-पढ़ी और गवाही ही नहीं, तब इसका कोई उपाय नहीं। ऐसा काम तुमको हमसे बिना पूछे नहीं करना चाहिये था।' सब लोग सिर पीटकर रह गये!

एक दिनकी बात है, पण्डित देवदत्तजीके पास एक साधु-वेषधारी ठग आया। पण्डितजीने उसकी बहुत सेवा-शुश्रूषा की। साधुने पण्डितजीसे पूछा—'योग-क्षेम ठीक चलता है न?' पण्डितजी बोले—'जबसे छोटी बहू घरसे चली गयी; तबसे घरमें कलह-क्लेश रहते हैं। संसारमें हमारी निन्दा होनेसे जीविका भी प्रायः नष्ट हो गयी और सट्टे-फाटकेमें घाटा लग जानेके कारण लड़कोंका व्यापार भी बंद हो गया तथा मोहनलालके व्यापारका कोई संयोग लगा नहीं।' साधुने कहा—'मैं तुमको एक रसायन-विद्या बतला देता हूँ जिससे तुम रोज दो माशा सोना बना लिया करो; पर अधिक लोभ नहीं करना।' साधुवेषधारीने फिर कहा—'अच्छा! तुम बाजारसे चार आनेका संखिया; चार आनेका गन्धक; चार आनेका पारा; एक कुठाली और कुछ कोयला ले आओ।' वे तुरंत ले आये। उस ठगने अपनी झोलीसे चौलाईके पत्ते निकालकर उसके रससे संखिया; गन्धक और पाराके पुट देकर उसको पण्डितजीके हाथसे कुठालीमें डलवा दिया तथा कोयलोंसे कुठालीको भरकर गोइठोंसे आग जला दी; जिससे कोयले जलने लगे। ज्यों-ज्यों कोयले जलते गये; त्यों-त्यों पण्डितजी उसमें और कोयले डालते गये। जो कोयले डाले जा रहे थे, उनमेंसे उस ठगने पण्डितजीकी दृष्टिको बचाकर एक कोयलेके अंदर छेदकर उसमें दो माशा सोना पहलेसे ही भर दिया था। कोयला गिराते-गिराते जब स्वर्णवाला कोयला कुठालीमें पड़ गया; तब उसने और कोयला डालना बंद करवा दिया। संखिया; गन्धक और पारा तो उड़ गया और कोयले जल गये; केवल दो माशा सोना था, वह कुठालीमें रह गया।

स्वर्णको देखकर पण्डितजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। साधुवेषधारी ठग चला गया। उसके जानेके बाद पण्डितजीने संखिया, पारा और गन्धक आदिका काफी स्टाक कर लिया तथा रोज साधुरूपधारी असाधुके कहे अनुसार करने लगे, पर बनता-बनाता कुछ नहीं। एक दिन उसीको घरके सामनेसे जाते देखकर पण्डितजी उसके चरणोंमें गिर गये और उसको घरपर लाकर बड़ी सेवा की। साधुवेषधारीने पूछा—'योग-क्षेम ठीक चलता है न?' पण्डितजीने कहा—'नहीं। आपने तो मुझसे कोई छिपाव नहीं किया; परंतु मेरे भाग्यकी बात है कि रोज संखिया, पारा और गन्धक फूँकता हूँ; पर होता कुछ नहीं। साधुवेषधारी बोले—'अच्छा! आज हमारे सामने तुम अपने-आप सब विधि करो; कोई गड़बड़ होगी तो हम तुमको बतला देंगे।' जब पण्डितजी भीतरसे सब सामान लाने गये तो बाबाजीने एक कोयलेके अंदर छेदकर दो माशा स्वर्ण उसमें रख दिया। सामग्री तो सब पण्डितजीके पास थी ही; शीघ्र ही लेकर आ गये तथा गन्धक; पारा और संखियाको चौलाईके रसकी भावना देकर कुठालीमें डाला और कुछ कोयला डाल दिया। ज्यों-ज्यों कोयला जलता जाता; त्यों-त्यों पण्डितजी चिमटेसे और कोयलोंको उठा-उठाकर कुठालीमें डालते जाते। वह ठग अलग दूर बैठा देख रहा था। उसने जब देखा कि स्वर्णवाला कोयला भी कुठालीमें शामिल हो गया है तो उसने कहा—'पूरा एक घंटा हो गया है; अब सोना बन जाना चाहिये। तुम उठकर देखो, अब और कोयला मत डालो।' थोड़ी देरमें कोयले सब जल गये। संखिया, पारा; गन्धक सब उड़ गया। केवल दो माशा सोना कुठालीमें रह गया। पण्डितजी सोनेको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'महाराज! अब तो मैं बिल्कुल समझ गया।' तब वह ठग वहाँसे चला गया।

पण्डितजी रोज संखिया; पारा और गन्धक फूँकते रहे, पर बनता-बनाता कुछ नहीं। फिर पाँच-सात दिन बाद वही साधु दरवाजेके आगे सड़कपर आता दिखलायी दिया। पण्डितजी दौड़कर उसके चरणोंमें गिर गये। उसने पूछा—'अब तो गृहस्थीका काम ठीक चलता है न?' पण्डितजी-

ने कहा—'कुछ नहीं। आपने तो सब बातें बतला दीं, हमारे हाथसे भी कराकर दिखा दिया, परंतु होता कुछ नहीं। न मालूम क्या बात है ? आपके सम्मुख तो आपके प्रभावसे हो जाता है, आप नहीं रहते तब नहीं होता।' वह बोला—'हम रोज-रोज तो आ नहीं सकते। लो, हम एक साथ ही तुम्हारे लिये इतना सोना बना देते हैं कि तुम्हारे जन्मभर काम आवे। तुम्हारे घरमें जितना सोना है, सब ले आओ। सब सोना एक हँडियामें डालकर आगपर चढ़ा दो तथा उस हँडियाको जलसे भर दो और तुम्हारे पास जितना कुछ गन्धक, पारा, संखिया है, वह सब उसमें डाल दो और उसपर मिट्टीकी खाम लगा दो। फिर उस हँडियाके ऊपर एक दूसरी हँडिया जलसे भरकर रख दो। आठ पहर-तक उसके नीचे आग लगाते रहो। उसके बाद खोलकर देखोगे तो सोना दुगुना मिल जायगा।'

पण्डितजीने प्रसन्नचित्त हो अपनी स्त्रीका सारा-का-सारा गहना एक हँडियामें भरकर जैसे उसने बतलाया, वैसे ही सब क्रिया की। किंतु ऊपरकी हँडियामें जल कम रहा, अतः वे जल लानेके लिये भीतर गये। पीछेसे बाबाजीने झट हँडियासे सारा गहना निकालकर अपनी झोलीमें रख लिया और उसमें उतने ही वजनके कंकड़-पत्थर भर दिये तथा हँडियाके पहलेकी तरह ही मिट्टीकी खाम लगा दी। इतनेमें ही पण्डितजी जल लेकर आ गये और ऊपर रक्खी हुई हँडियामें जल भर दिया। हँडिया कुछ टेढ़ी हो गयी थी, अतः पण्डितजीने उसको उठाकर सीधी कर दी। उठाते समय उनको हँडिया पहलेकी तरह ही भारी मालूम दी।

बाबाजी दो-तीन घंटे तो बैठे रहे, फिर कहने लगे कि 'कल हम इसी समय आकर हँडियाकी खाम खोल देंगे, तब दुगुना सोना मिल जायगा।' यह कहकर वह चल दिये। दूसरे दिन समयपर पण्डितजी बाबाजीकी प्रतीक्षा करते रहे, किंतु बाबाजी दिनभर नहीं आये। आते कहाँसे, वे तो अपना काम बनाकर चम्पत हो गये थे। तब तीसरे दिन पण्डितजीने स्वयं ही खाम खोली तो उसमें सब कंकड़-पत्थर निकले। पण्डितजीको बड़ा सन्ताप हुआ, उन्होंने सारा हाल अपने घरवालोंसे कहा। सब लोग यह सुनकर दुखी हुए। साधुकी बहुत खोज-खाज की, किंतु उसका कुछ भी पता नहीं लगा। वह साधु थोड़े ही था, वह तो समाजमें सच्चे साधु-संन्यासियोंपर भी सन्देह उत्पन्न करा देनेवाला धूर्तशिरोमणि चोर था!

एक दिनकी बात है, उनके मुहल्लेमें एक लाल कपड़े-वाली एक ठगिनी आयी और उसने वहाँ एक मकान किराये लेकर अपना अड्डा जमा लिया। उसने अपनेको तन्त्र-मन्त्रोंमें सिद्धिप्राप्त योगिनी बतलाया। उसके पास स्त्रियाँ कोई रोग-निवारणके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई धनके लिये, कोई अपने लड़के-लड़कियोंकी विवाह-शादीके लिये—इस प्रकार अनेक कामनाओंको लेकर आने लगीं। वह योगिनी किसीके डोरा, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र बाँध देती और किसीसे टोना कराती। इस प्रकार कराकर वह उनकी कार्य-सिद्धिके लिये उनमेंसे किसीको सालभरकी, तो किसीको छः महीनेकी और किसीको दो महीनेकी अवधि दे दिया करती। इस प्रकारकी धूर्तताद्वारा वह भोली-भाली स्त्रियोंसे गहने, कपड़े और रुपये ठगने लगी।

एक दिन रामदत्तकी स्त्री भगवानदेवी भी उसकी प्रशंसा सुनकर उसके पास पहुँच गयी और कहने लगी—'माताजी! मेरे कोई लड़का नहीं है, इसलिये ऐसा कोई उपाय बतलाओ, जिससे मेरे सालभरमें लड़का हो जाय।' योगिनीने कहा—'एक महीनेके अंदर ही तुम्हारे गर्भ रह जायगा। आनेवाले शनिवारकी रातको मैं तुमसे एक टोना कराऊँगी। तुम उस रातको दस बजे यहाँ आना। टोनेकी सामग्री तो सब हमारे पास मिल जायगी, तुम केवल गहने-कपड़े पहनकर सोलह श्रृंगार करके शनिवारकी रातको मेरे पास चली आना।' भगवानदेवीने वैसा ही किया। वह शनिवारकी रातमें सज-धजकर उसके पास गयी। योगिनीने उसके सब गहने-कपड़े खुलवाकर एक कोठरीमें रखवा दिये और कोठरीको बंद करके ताला लगाकर चाभी भगवानदेवीको सौंप दी। जब रात्रिके ठीक बारह बजे, तब योगिनी सिंदूर, तेल, मिट्टीका बरवा और तिकटी लेकर भगवानदेवीके साथ चौराहेपर गयी। चौराहेपर जाकर उसने तिकटीपर बरवा टिकाकर उसमें तेल और सिंदूर डाल दिया तथा भगवानदेवीको एक मन्त्र बतलाकर कहा—'तुम इस मन्त्रका यहाँ एक घंटे जप करती रहो। रातका समय है, घर सूना है, मैं घरकी रखवालीके लिये जाती हूँ। एक घंटेके बाद इस बरवेको लेकर मेरे पास चली आना।'

योगिनी मकानपर पहुँची और कोठरीके तालेमें दूसरी चाभी लगाकर उसमें जो गहने-कपड़े रक्खे थे, सब लेकर वहाँसे चल दी। जब भगवानदेवी एक घंटेके बाद उसके घरपर आयी तो देखा कि वहाँ योगिनी नहीं है और

कोठरी खुली पड़ी है। कोठरीमें गहने-कपड़े कुछ भी नहीं हैं। यह देखकर वह रोने लगी। वह दुःखित हृदयसे लज्जित होकर अपने घरपर लौट आयी तथा घरवालोंको अपनी सारी दुःखकी कहानी कही। घरवालोंने उसको बहुत फटकारा। इसके बाद उन्होंने योगिनीकी बहुत खोज की, किंतु कुछ भी पता नहीं चला। तब मकान-मालिकसे उसका पता पूछा। मकान-मालिकने कहा—'हमको तो उसने एक महीनेका भाड़ा अग्रिम दे दिया था और हमारे यहाँ तो रोज ही ऐसे मुसाफिर आते-जाते रहते हैं। हमको क्या पता कि वह योगिनी कौन थी और कहाँ गयी?'

इन सब घटनाओंको देख-सुनकर सोमदत्तकी स्त्री रामदेवीने सोचा—'बहिन रोहिणीका, सासजीका, हमारी देवरानीका सब-का-सब गहना चला गया, केवल मेरा गहना ही शेष बचा है। छोटी बहूके जानेके बाद पैदा-रोजगार सब बंद हो गया है। अब घरवाले मेरे गहनोंको ही बेचकर काम चलायेंगे, और कोई रास्ता नहीं दीखता है।' यह सोचकर वह अपना सारा गहना अपने छोटे भाईके पास नैहरमें रख आयी। उसका नैहर उसी शहरमें दूसरे मुहल्लेमें था। उसका भाई बड़ा बदमाश और बेईमान था, उसकी नीयत पहलेसे ही खराब थी। उसने रामदेवीका सारा गहना बेचकर रुपये अपने कारबारमें लगा लिये। थोड़े दिनों बाद उसने यह झूठा हल्ला फैला दिया कि रातमें चोर आकर ताला तोड़कर सारा माल ले गये। प्रातःकाल होते ही वह रोने लगा। लोग इकट्ठे हो गये। पुलिस भी आ गयी। सारे शहरमें बात फैल गयी, तब रामदेवीको भी अपने भाईके यहाँ चोरी होनेका पता लगा। वह तुरंत दौड़कर भाईके पास गयी और बोली—'भैया! मेरा गहना तो बच गया है न?' भाईने झुँझलाकर कहा—'तेरे गहनेके कारण ही तो हमारे घर यह काण्ड हुआ। हमारे पास तो धरा ही क्या था, जो चोर लगते? हमारे तो जो कुछ था, वह भी तुम्हारे गहनेके साथ चोर ले गये।' रामदेवी फिर बोली—'भैया! मेरा गहना तो मिलना ही चाहिये।' भाई कुपित होकर कहने लगा—'चल यहाँसे। फिर कभी मुँह मत दिखाना। तेरे कारणसे ही हम बरबाद हो गये।' वह बेचारी दुःखित होकर लौट आयी और सारा हाल अपने ससुरालवालोंको कहा। उन्होंने डाँट-फटकार भी की; पर फिर क्या हो सकता था!

तदनन्तर सब लोगोंने मिलकर यह निश्चय किया कि अपना-अपना खर्च सब अपनी-अपनी कमाईसे चलावें। इसपर सोमदत्त और रामदत्त तो अपनी स्त्रियोंको लेकर अलग रहने लगे और शेष सब एक साथ रहने लगे।

(७)

एक दिन जब सब घरवाले घरमें इकट्ठे बैठे हुए थे, पण्डित देवदत्तजीने सरल हृदयसे कहा—'हमने थोड़ेसे अपराधके कारण छोटी बहूको घरसे निकाल दिया, यह बड़ा भारी अपराध किया। इसी कारण हमारी यह दुर्दशा हुई। वह बड़ी भाग्यशालिनी, बुद्धिमती और उच्च विचारकी स्त्री थी। यदि वह अपने घरमें रहती तो हमलोगोंपर यह सब विपत्तियाँ कभी नहीं आतीं।' अन्तमें सबने यह विचार किया कि हमलोगोंको उसके पास चलना चाहिये। पर लज्जाके कारण किसीकी भी जानेकी हिम्मत नहीं होती थी। किसी प्रकार घरकी यह भीतरी खबर सुशीलाके पास पहुँच गयी। सुशीलाने सोचा—'मेरे घरवाले मेरे पास आना चाहते हैं, पर इसमें मेरा बड़प्पन नहीं है। इसलिये मुझे ही उनके पास चलना चाहिये।' यों सोचकर दूसरे दिन वह स्वयं ही ससुरालमें चली आयी और श्रद्धा, प्रेम, विनय तथा सरलताके साथ सबके चरणोंमें नमस्कार किया। उसको देखकर सब प्रसन्न हुए और साथ ही अपने कृत्यको देखकर दुःखित और लज्जित हुए। सुशीलाने कहा—'मैंने सुना कि आपलोग मेरे पास आनेका विचार कर रहे हैं, यह सुनकर मैं ही आपके पास आ गयी, क्योंकि मैं सबसे छोटी हूँ। इसलिये मेरा ही आपके पास आना उचित है। कभी-कभी मेरे मनमें आपकी सेवाके भाव आते, किंतु आपलोगोंके द्वारा निकाली जानेके कारण यहाँ आनेकी मेरी हिम्मत नहीं हुई; इसलिये आप मेरे अपराधको क्षमा करें।'

पण्डितजीने कहा—'बेटी! तुम्हारा तो एक मामूली अपराध था, हमलोगोंने बहुत बड़ा अपराध कर डाला।' पण्डितजीको क्या पता कि बहूका कोई अपराध था ही नहीं, वह तो षड्यन्त्र था। घरकी हालत बिगड़ जाने तथा सबपर विपत्ति आ जानेसे षड्यन्त्रकारी स्त्रियोंका पाप काँप गया। उनके मनमें ईर्ष्याके बदले पश्चात्तापकी आग जल उठी। वे सभी सन्तप्त हो गयीं और उन्हें निश्चय हो गया कि हमारी दुर्दशाका सच्चा कारण हमारे द्वारा निर्दोष सुशीलापर किया जानेवाला अत्याचार ही है। उनके सन्तप्त हृदयके तप्ताश्रु उनकी आँखोंसे बहने लगे। तब सोमदत्त और रामदत्तकी स्त्रियोंने हाथ जोड़कर काँपते हुए कण्ठसे अपनी साससे कहा—'छोटी बहूका कुछ भी अपराध नहीं था। हमीं लोगोंने डाहके

कारण इसपर झूठा कलङ्क लगाया था; उसीका हमें यह फल मिला।' तब रोहिणी दुःखित हृदयसे कहने लगी—'छोटी भाभीका तो कुछ भी अपराध है ही नहीं और न बड़ी भाभियों-का ही कोई विशेष अपराध है। सारे षड्यन्त्रको रचनेवाली, घोर अपराध करनेवाली दुष्टा तो मैं हूँ। मैंने ही भाभियोंके कङ्कण, हार, मेरी साड़ी और लहँगा एक थैलीमें भरकर उसे सीकर रसोइयाके हाथ उस बुढ़ियाके पास भिजवाया था, वह चिट्ठी भी मैंने ही लिखी थी और पिताजीके पास झूठी शिकायत भी मैंने ही की थी। इस सारे पापकी जड़ मैं हूँ। आज मैं पश्चात्तापकी आगसे जली जा रही हूँ। पृथ्वी फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊँ। इस निरपराध शुद्ध हृदयकी भाभीसे मैं क्षमा भी किस मुँहसे माँगूँ?'

यह सारी सच्ची बातें सुनकर सुशीलाका मन पिघल गया और वह हाथ जोड़कर विनयपूर्वक सबसे बोली—'जो कुछ भी हुआ, अब आप उन बातोंको हृदयसे भुला दें। मैं तो आपलोगोंके कृत्यको कोई अपराध ही नहीं मानती। फिर क्षमा कैसी?' यह सुनकर उसका पति मोहनलाल फूट-फूटकर रोने लगा और अपने किये हुएपर बार-बार पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—'मैं धोखेसे मारा गया। अब मुझे इसका क्या प्रायश्चित्त करना चाहिये?' सुशीलाने कहा—'पतिदेव! आप किसी बातका विचार न करें। आपलोगोंका किसीका भी कोई दोष नहीं है—यह तो मेरे पूर्वकृत पापोंका फल है। अब आपलोग इन सब बातोंको भुला दें और मुझे पहलेकी तरह ही अपनी दासी समझें। मेरे पास जो कुछ सम्पत्ति है, वह आपकी ही है। आप उस सम्पत्तिको यहाँ मँगवा लें।'

यह सुनकर सब लज्जित हो गये और कहने लगे—'तुम्हारी सब चीजें हम कैसे मँगवायें?' सुशीला बोली—'वह सब तो आपकी ही है, मैं भी आपकी ही हूँ। यह सब तो ईश्वरने हमारे भलेके लिये ही किया था; क्योंकि यदि भगवान् ऐसा नहीं करते तो आज यह सम्पत्ति और हजार रुपये मासिक आयका स्थायी संयोग कैसे बैठता?' यह कहकर सुशीलाने अपनी सारी चल सम्पत्ति अपने आदमियोंद्वारा वहीं मँगवाकर निःस्वार्थ-भावसे ससुरके चरणोंमें अर्पित कर दी। उसके अन्य सब काम भी ससुरालवालोंकी देख-रेखमें वैसे ही चलते रहे और वह अब ससुरालमें ही रहने लगी। सुशीलाके इस पवित्र व्यवहारको देखकर सब लोग मुग्ध हो गये।

जब खेलकर आते हुए इन्द्रसेन और इन्द्रसेनीने माको बहुत दिनोंके बाद देखा तो वे झट उसके चरणोंमें गिर पड़े। माने उनको उठाकर अपनी छातीसे लगा लिया। रसोइया और नौकर तो अपने भीषण अपराधपर काँप रहे थे और जमीनमें गड़े-से जा रहे थे। उनके शरीरसे पसीना बह रहा था और आँखोंसे पश्चात्तापके गरम-गरम आँसू। उनका मूक पश्चात्ताप देखकर सुशीलाने उन्हें आश्वासन दिया और शान्त किया। आज उन दोनोंका भी जीवन बदल गया!

फिर सुशीलाने कहा—'मैंने सुना है, हमारे दोनों जेठ-जेठानियाँ अलग होकर रहते हैं, किंतु उनका अलग रहना मैं सहन नहीं कर सकती। वे पहलेकी ज्यों ही शामिल होकर रहनेकी कृपा करें।' वे सुशीलाके इस बर्तावको देखकर मुग्ध हो गये, वे 'ना' नहीं कर सके। तदनन्तर सभी शामिल होकर रहने लगे। सुशीलाके प्रभावसे सब सदाचारी और सच्चरित्र बन गये। उनके सम्बन्धमें जो कुछ अपवाद फैला हुआ था, वह सब शान्त हो गया और उनका घर अन्य सब लोगोंके लिये एक आदर्श घर हो गया।

(८)

सुशीला सबके साथ समव्यवहार किया करती। जो कुछ आप खाती-पहनती, वह घरमें सबको समान भावसे देकर खाती-पहनती। उसका खाने, पीने, पहननेमें कोई भेद नहीं था। जो चीज वह अपने पति और बालकोंको खिलाती-पहनाती, वही अपने जेठ-जेठानियों और सास-ससुरको भी दिया करती।

एक दिनकी बात है, वह अपने बच्चे-बच्चीको दाख, छुहारा, बादाम, नौजा, पिस्ता आदि मेवा दे रही थी, इतनेमें ही उन बालकोंके साथ खेलनेवाले बाहरके कुछ बालक आ गये। सुशीलाने अपने बालकोंको न देकर पहले उनको दिया और जो कुछ अपने बालकोंको दिया, उतना ही उनको दिया; किंतु उनमें जो चीज कुछ बढ़िया थी, वह तो बाहरके बालकोंको दी और जो कुछ घटिया थी; वह अपने बालकोंको दी। सुशीलाके इस बर्तावका उसके बच्चोंपर भी बड़ा अच्छा असर पड़ा। उन्होंने अपने हिस्सेका भी आधा भाग उन बाहरके बालकोंको दे दिया। उसके लड़के-लड़की बड़े सुशील थे। सच्ची सुशीला माताके लड़के ऐसे क्यों न होते?

सुशीला अपने पतिकी विशेष सेवा किया करती थी और कभी-कभी अपने पतिके साथ कथा या व्याख्यान सुनने जाया करती तो साथमें उसका लड़का और लड़की भी जाया करते थे।

बालकोंमें स्वाभाविक ही चञ्चलता होती है, किंतु इसके बालक शान्त प्रकृतिके थे। क्योंकि सुशीलाका स्वभाव स्वाभाविक ही चञ्चलतारहित था। वे वहाँ शान्तिपूर्वक चुपचाप बैठकर बड़े ध्यानसे व्याख्यान सुना करते। सुशीला बालकोंको नित्य-नियमपूर्वक अच्छी शिक्षा दिया करती थी। वह कहा करती—'सूर्योदयसे पूर्व उठना, नित्य बड़ोंको प्रणाम करना; झूठ, कपट, छिपाव, हिंसा, चोरी आदि कभी नहीं करना; हमेशा सत्य बोलना; किसीको अपशब्द न कहना; आपसमें लड़ाई, मार-पीट, गाली-गलौज नहीं करना; सूर्यनारायणको नित्य अर्घ्य देना; कोई भी चीज भगवान्‌के अर्पण किये बिना न खाना; सबकी सेवा करना; बाजारकी बनायी हुई चीजें न खाना; बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा आदि मादक वस्तुओंका सेवन न करना; नाटक, सिनेमा, क्लब आदिमें कभी नहीं जाना; कथा-कीर्तन, सत्सङ्गमें शान्तिपूर्वक सुनना; कोई भी चीज मिले, उसे उपस्थित मित्रोंको देकर खाना, बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना और सदा कर्तव्यपरायण रहना चाहिये। कहीं दूसरेके घरपर जायँ तो वहाँ कोई चीज माँगनेकी तो बात ही क्या, उनके देनेपर भी नहीं लेनी चाहिये। बस, अपनेसे जो कुछ बने, दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये, कभी दूसरोंकी सेवाका पात्र नहीं बनना चाहिये।' बच्चोंके लिये कितनी सुन्दर शिक्षा है।

इस प्रकार घरमें नित्य-नियमसे उपदेशकी बातें और कथा-कीर्तन हुआ करता था। इसका बालकों तथा घरवालोंपर बड़ा अच्छा असर पड़ने लगा, और वे सब सुशिक्षित हो गये।

(९)

एक दिन सुशीलाके पिता पण्डित गोविन्दरामने उसको बुलानेके लिये उसके ससुरके पास आदमी भेजकर कहलाया—'हमारी एक प्रार्थना है—सुशीलाको आये बहुत दिन हो गये, अतः एक बार बच्चोंसहित उसको हमारे घरपर भेजें।' बुलावा आनेपर सुशीलाने भी सरलताके साथ निवेदन किया कि—'मुझे माता-पितासे मिले बहुत दिन हो गये, इसलिये आपकी आज्ञा हो तो मैं घर जाकर उनके दर्शन कर आऊँ और आपकी अनुमति हो तो मैं वहाँ कुछ दिन ठहर जाऊँ।' सास और ससुरने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'जा सकती हो; किंतु बहुत अधिक विलम्ब न करना; क्योंकि हमारे दिन तुम्हारे बिना कैसे कटेंगे?' इस प्रकार कहकर विश्वासी पुरुषको साथ देकर उसको नैहर पहुँचा दिया।

सुशीलाने बालकोंसहित वहाँ जाकर माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। माता-पिताने पूछा—'घरपर सब प्रसन्न तो हैं?' सुशीला बोली—'ईश्वरकी कृपासे सब कुशल है; किंतु मैं यहाँ अपने भाई रामलाल और भौजाईको नहीं देखती हूँ, सो क्या बात है?' पण्डित गोविन्दरामजीने कहा—'वह कई दिनोंसे मकान किराये लेकर हमसे अलग ही रहता है; जो कुछ कमाता है, अपने खाने-पीने और मित्रोंकी खातिरमें लगा देता है। हमलोग तो अब बूढ़े हो गये, कमानेकी शक्ति नहीं रही, पहलेकी जायदादको बेचकर ही अपना काम चलाते हैं।' सुशीला बोली—'क्या भाभीके कहनेसे ही भैया अलग हो गये अथवा और कोई कारण है?' माताने कहा—'ना बेटी! वह तो बहुत ही भले घरकी लड़की है। मैं उसको कभी कुछ कह देती तो भी वह नाराज नहीं होती और न कभी रूठती। उसका स्वभाव बड़ा सुशील है, लड़ना तो वह जानती ही नहीं। कोई उसे खोटी-खरी सुना देता तो भी वह उसे हँसकर टाल देती। अब भी वह मेरा पक्ष लेकर समय-समयपर रामलालको समझाया करती है। उसके स्वभाव, सेवा और विछोहको याद कर-करके मैं रोया करती हूँ। रामलाल भी बहुत ही भला था; किंतु आजकलके उद्दण्ड लड़कोंके सङ्गके प्रभावसे वह हमलोगोंसे अलग हो गया।'

सुशीला बोली—'मा! मैं भाई-भौजाईको समझाकर यहाँ ले आऊँ तो इसमें तुम्हारी क्या राय है?' माताने कहा—'ऐसा हो जाय तो बेटी! हमारा बड़ा सौभाग्य है।'

भाई रामलाल प्रयागमें ही कुछ दूर दूसरे मुहल्लेमें रहते थे। सुशीला अपने कुटुम्बके एक आदमीको लेकर बालकोंसहित भाईके यहाँ गयी। घरमें रामलाल तो थे नहीं, भाभी बैठी थी। सुशीलाको आते देखकर वह उठी और उसने बड़े ही आदर और प्रेमका बर्ताव किया। सुशीलाने भी बालकोंसहित उसके चरणोंमें प्रणाम किया। जब भाभी कुछ संकोच करने लगी, तब सुशीलाने कहा—'आप बड़ी होनेके कारण मेरे तो माके समान हैं, इसमें संकोचकी कौन-सी बात है। बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना बालकोंका कर्तव्य ही है।' भाभी लज्जित होकर बोली—'बहिनजी! आप माताजीके पास आयी हैं, यह मुझे मालूम हो गया था, किंतु दुःखकी बात है कि मैं आपके भाईके डरसे नहीं जा सकी।'

सुशीलाने कहा—'इसके लिये आपको चित्तमें कोई विचार नहीं करना चाहिये । मा तो आपके स्वभाव और सेवाको याद कर-करके भूरि-भूरि प्रशंसा करती हुई आपके वियोगमें रोया करती हैं ।'

इतनेमें ही भाई रामलाल आ गये । सुशीलाने झट उठकर बालकोंसहित भाईके चरणोंमें नमस्कार किया। रामलालने भी सुशीलाके साथ बड़े आदरका बर्ताव किया। कुशल-संवादके बाद सुशीला बोली—'भैया ! आज तुमको माता-पितासे अलग देखकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है ।' रामलालने कहा—'बहिन ! तुम्हारे आनेकी खबर मुझे मिल गयी थी । तुमसे मिलनेकी मेरी बहुत ही इच्छा थी, परंतु मेरे मनमें यह भाव आया कि मैं यदि घर जाऊँ तो कहीं माता-पिता मेरा अपमान न कर दें और तुमको यहाँ घर-पर भी इसीलिये नहीं बुलाया कि शायद वे तुमको यहाँ नहीं भेजेंगे ।' सुशीला बोली—'भैया ! इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है, यह तो मेरा ही दोष है कि मैं कल ही तुम्हारा दर्शन नहीं कर सकी । पर भैया ! जब मैं ससुराल गयी थी, तब तो तुम दोनों ही माता-पिताकी सेवा और आज्ञा-पालन खूब किया करते थे । तुम्हारे उन गुणोंको याद करके मुझे विस्मय होता है कि तुम उनसे अलग होकर कैसे रहने लगे ? मेरे व्यवहारकी त्रुटियाँ देखकर तुम तो मुझे शिक्षा दिया करते थे, वे बातें मुझे याद आती हैं ।'

रामलालने कहा—"बहिन ! तुम्हारी बातें सुनकर मुझे लज्जा होती है । मेरे अलग होनेका कारण यह हुआ कि मेरे मित्रगण, जो मेरे पास आया करते, वह माताजी और पिताजीको बुरा मालूम देता । इसे देखकर मेरे मित्रोंको अत्यन्त कष्ट होने लगा और उन्होंने मुझको यह राय दी कि 'तुम सब कुछ माता-पिताके पास छोड़कर उनसे अलग हो जाओ । इसमें तुम्हारी कोई निन्दा नहीं होगी । तुम विद्वान् हो, योग्य हो; तुमको अपनी कमाईसे पेट भरना चाहिये, माता-पिताके धनका आश्रय क्यों लेना चाहिये ।' उनकी इन बातोंमें आकर मैं माता-पितासे अलग हो गया । बहिन ! तुम समझदार हो, जैसा तुम्हारा नाम है, वैसी ही तुम गुणवती हो, अतः मुझे राय दो कि अब मुझे क्या करना चाहिये ?"

इसपर सुशीला बहुत ही कोमल और मृदुर्लताभरे शब्दोंमें बोली—'भैया ! तुम्हें मैं राय दूँ ? मुझमें जो कुछ अच्छापन दीखता है, वह तो तुम्हारी ही शिक्षाका प्रभाव है । मैं कुछ कहूँगी तो तुमसे सीखी हुई बात ही कहूँगी । मैं जब छोटी थी तभी तुम मुझे यही शिक्षा दिया करते कि सैकड़ों वर्ष भी माता-पिताकी सेवा करके मनुष्य उनका बदला नहीं चुका सकता । माता-पिताकी सेवा ही परम धर्म है और सब उपधर्म हैं ।* आज तुम्हें माता-पितासे अलग देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है । तथा तुम्हारे मित्रोंके सम्बन्धमें तो माता-पिताने जो कुछ भी कहा—वह तुम्हारे हितके लिये ही कहा होगा । जो मित्र माता-पितासे दूर कर दें, उनका सङ्ग किस कामका ? यदि तुम्हारे वे मित्र समझदार होते तो सहज ही मुक्तिके उपायरूप परम कल्याणकारी माता-पिताके सेवाकार्यसे तुम्हें वञ्चित क्यों करते ? इससे तुमको सोचना चाहिये था कि वे ऐसा करके अपना मतलब गाँठना चाहते थे कि तुम्हारा हित । भैया ! माता-पिता तो तुम्हारे वियोगमें तुम्हारे गुण और सेवाको याद करके रोया करते हैं । संसारमें तुम्हारे गुण और आचरणोंकी ख्याति है और अच्छे-अच्छे पुरुषोंके हृदयोंपर तुम्हारा अच्छा प्रभाव अङ्कित है । तुम माता-पितासे अलग होकर रहते हो, इससे उन सज्जनोंपर कैसा बुरा असर होगा और वे जब तुम्हारी निन्दा-अपमान करेंगे, तब उसे तुम कैसे सहन करोगे ? माता-पिताकी सम्पत्तिसे तुम्हें संकोच और घृणा क्यों होनी चाहिये ? माता-पितासे हमलोग कैसे छूट सकते हैं ? हमलोगोंके शरीरमें भी तो जो कुछ है, सब माता-पिताका ही है । मेरी तो राय यह है कि उनके चरणोंमें जाकर उनसे क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये, इसमें विलम्ब

---

* मनुजीने कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥
(२ । २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता ।'

अतएव—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥
(२ । २३७)

'माता-पिता और आचार्य—इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता । यही साक्षात् परम धर्म है । इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं ।'

करना उचित नहीं । माता-पिताकी कोई गलती भी हो तो बड़ोंकी गलती कभी माननी ही नहीं चाहिये ।'

इतनेमें भाभी बोल उठी—'बहिनजी ! मुझे तो सास-ससुरसे अलग रहनेमें न तो कोई सुख है और न मेरा मन ही लगता है। समय-समयपर मैं इनसे प्रार्थना भी करती रहती हूँ । पर पता नहीं, विधाताने मुझे उनकी सेवासे क्यों वञ्चित रख छोड़ा है ?' रामलाल बोले—'बहिन ! माता-पिताके बिना बुलाये और बिना उनकी सम्मति लिये जानेमें लज्जा होती है । कहीं वे मेरा अपमान तो नहीं कर देंगे ?' सुशीलाने कहा—'भैया ! उनकी तो सम्मति ही है । वे तो तुम्हारे वियोगमें रोते हैं, उनके पास जानेमें लज्जा किस बातकी ? मेरी समझमें वे तो तुम्हारे जानेसे बहुत प्रसन्न होंगे । और माता-पिताके पास जानेमें अपमानकी कौन-सी बात है ? उनके द्वारा किया हुआ अपमान तो मानसे भी बढ़कर है ।'*

सुशीलाकी उपर्युक्त हितभरी बातें सुनकर रामलाल और उसकी पत्नी दोनों सुशीलाके साथ माता-पिताके पास घर आ गये तथा दोनों अपने कृत्यका अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए उनके चरणोंपर गिरकर रोने लगे ।

माता-पिताने कहा—'बेटा ! आज बड़े सौभाग्यकी बात है, आज हमारा दिन बहुत ही अच्छा है ।' फिर उन्होंने सुशीलासे कहा—'बेटी सुशीला ! तुमने जो आज महत्कार्य किया है, इसको हम आजीवन कभी नहीं भूलेंगे ।' सुशीला बोली—'मा ! तुम क्या कह रही हो ? इसका जो कुछ श्रेय है, वह तो तुमको, पिताजीको और भाईजी-भौजाईजीको ही है। मैं तो निमित्तमात्र ही हूँ । मुझमें भी जो कुछ अच्छापन तुम देखती हो, वह सब भी आपलोगोंकी ही कृपा है ।'

सुशीलाके इस प्रकारके अभिमानरहित व्यवहारको देखकर सब मुग्ध हो गये । सुशीलाके पास दो मोहन मन्त्र थे; उनसे वह कोई भी क्यों न हो, उसको अपने अनुकूल बना लेती थी । वे मन्त्र ये थे—(१) अपने स्वार्थका त्याग करके निष्काम भावपूर्वक सब प्रकारसे उसके हितकी चेष्टा करना और (२) उसके अवगुणोंको भुलाकर उसके गुणोंका वर्णन करना । इन्हींसे उसने अपने भाईके हृदयको भी पलट दिया ।

इसके अनन्तर रामलालने अपने मित्रोंसे प्रेम और विनयपूर्वक प्रार्थना कर दी कि 'मुझको ही कभी अवकाश होगा तो मैं आपके घरपर आकर मिल सकता हूँ, क्योंकि माता-पिताके पास मैं आपका यथोचित सत्कार करनेमें लाचार हूँ ।'

सुशीला पिताके घरपर कुछ दिनोंतक रही; परंतु ससुरालमें अपने प्रति होनेवाले अत्याचारको लेकर किसीकी भी कभी किञ्चित् भी निन्दा-चुगली नहीं की । माता-पिता और भाई-भौजाई उसे खाने-पीने, पहननेके लिये अनेक पदार्थ देते, पर उनके आग्रह करनेपर भी वह नहीं लेती । यदि कभी उनके संतोषके लिये यत्किञ्चित् ले भी लेती तो अनासक्तभावसे ही लेती; उसकी उन पदार्थोंके प्रति किञ्चित् भी आसक्ति या लोलुपता नहीं थी । उसका व्यवहार बड़ा ही त्यागमय और प्रशंसनीय था ।

तदनन्तर ससुरालसे आग्रहपूर्वक बुलावा आनेपर माताको विनय और प्रेमसे समझाकर वियोगके दुःखको प्रकट करती हुई सुशीला विश्वासी पुरुषके साथ अपने ससुराल चली आयी । सुशीलाको घरमें आये देखकर ससुरालके सभी लोग बड़े आनन्दित हुए ।

(१०)

इधर सुशीलाकी लड़की इन्द्रसेनीको द्वादश वर्षकी विवाहके योग्य देखकर उसके सास-ससुरको बड़ी चिन्ता रहा करती थी । अतः एक दिन उन्होंने छोटी बहूसे कहा—'इन्द्रसेनी विवाहके योग्य हो गयी है । तेरे प्रभावके कारण कई लोग अपने साथ सम्बन्ध करना चाहते हैं । तेरी राय किसके साथ सम्बन्ध करनेमें है ?' सुशीलाने अपनी साससे कहा—'इसमें मेरी राय क्या लेनी है ? आप जिसके साथ सम्बन्ध करना उचित समझें, उसीमें हम सबको प्रसन्न रहना चाहिये । मैंने तो आपलोगोंके मुखसे ही यह सुना है कि बालक चाहे गरीब घरका हो, किंतु उसके बल, विद्या, बुद्धि, योग्यता, आचरण, स्वभाव और चरित्र आदि देखने चाहिये । उसके कुटुम्बवालोंके तथा विशेषकर माता-पिताके

* किसी कविने कहा है—

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणान्नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥

'जब मनुष्य गुरुजनोंकी कठोर शब्दोंसे युक्त वाणीद्वारा अपमानित किये जाते हैं, तभी महत्त्वको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं । जैसे कि अच्छी श्रेणीके रत्न भी जबतक शाणपर घिसकर उज्ज्वल नहीं किये जाते, तबतक राजाओंके मुकुटोंमें नहीं मढ़े जाते ।'

स्वभाव और आचरण अच्छे होने चाहिये ।' यह सुनकर सब बड़े प्रसन्न हुए ।

इन्द्रसेनीके प्रारब्ध और माता सुशीलाके प्रभावके कारण सुशीलाके इच्छानुकूल ही घर और बालकका स्वतः संयोग लग गया । पण्डित दामोदर शास्त्रीके सुपुत्र शिवकुमारके साथ इन्द्रसेनीका वाग्दान कर दिया गया । पण्डित दामोदरजीकी सुशीलापर बहुत ही श्रद्धा थी, इसलिये उन्होंने अपनी पत्नीको विवाहके विषयमें सलाह करने सुशीलाके पास भेजा । घरपर आते ही सुशीलाने उनका यथावत् सत्कार किया । तदनन्तर दामोदरजीकी पत्नीने कहा—'आपके साथ सम्बन्ध होकर विवाह आदर्श होना चाहिये । आपके घरमें तो कुरीतियाँ और फिजूलखर्च होगा ही नहीं, हमलोग भी अपने सुधारके लिये आपकी रायके अनुसार ही करना चाहते हैं ।' इस प्रकार विशेष आग्रह और श्रद्धापूर्वक पूछनेपर सुशीलाने कहा—'बारूद, खेल-तमाशे, सिनेमा-थियेटर, उछाल, अधिक रोशनी आदिमें व्यर्थ खर्च नहीं करना चाहिये । विवाहमें गाली-गलौज, बुरे गीत गाना, चौपड़-ताश खेलना, बहुत-से बाजे बजाना आदि भी नहीं करना चाहिये । विवाह तो अच्छे-अच्छे विद्वानोंको बुलाकर विधि-विधानसे भलीभाँति होना चाहिये, इसमें अधिक भीड़-भाड़ नहीं होनी चाहिये । हमारी ओरसे क्या करना चाहिये सो कृपया आप बतलाइये ।'

पण्डित दामोदरजीकी पत्नी बोली—'हमलोग आपको क्या आदेश दें । हमलोग तो आपकी ही शिक्षाके अनुसार चलना चाहते हैं । आपने इस विषयमें कैसा विचार किया है, यह सुननेके लिये हमलोग उत्सुक हैं । यदि उचित समझें तो आप बतलानेकी कृपा करें ।'

इसपर सुशीलाने कहा—'हँसी-मजाक, नाच तथा बुरे गीत तो हमारे यहाँ पहलेसे ही बंद हैं । भाँग, तम्बाकू, सुल्फा, गाँजा आदि मादक वस्तु, सोडा-बर्फ, लेमोनेड देना, होटलमें भोजन कराना, पार्टी देना और सेंट आदिसे सत्कार करना शास्त्रविरुद्ध तो है ही; बल्कि सत्कारके नामपर उनका अपमान करना है । शास्त्रके अनुसार हलद्दात आदि करनेके बाद देवताओंकी विधिवत् पूजा कराकर अच्छे-अच्छे विद्वानोंकी सम्मतिके अनुसार कन्यादान करनेका विचार है । आप लोगोंका असली सत्कार तो श्रद्धा और प्रेमके व्यवहारसे होता है; उसकी तो हमलोगोंमें कमी है, भोजन तथा पान-सुपारी, लौंग-इलायचीका प्रबन्ध साधारण तौरपर किया गया है । दहेज-धन देनेके लिये तो हमारे पास है ही क्या, हम तो एक अबोध बालिकाको आपकी सेवामें अर्पण करके अपनेको पवित्र करना चाहते हैं । आप-जैसे सरल और त्यागी मनुष्योंके साथ सम्बन्ध हमारे बड़े ही भाग्यसे हुआ है । आपके व्यवहारको देखकर हमलोग सब मुग्ध हो रहे हैं ।'

इसके अनन्तर समयपर दोनों ओरसे श्रद्धा, विनय और प्रेमका व्यवहार होते हुए उपर्युक्त पद्धतिके अनुसार बहुत ही प्रशंसनीय, सात्त्विक और आदर्श विवाह सम्पन्न हुआ तथा परस्पर नमस्कार करनेके बाद बरातको बिदा किया गया ।

सोमदत्त, रामदत्त और मोहनलाल—तीनों भाई सुशीलाके चलाये हुए व्यापार-कार्यको निजमें ही देखा करते और परस्पर सबका बहुत ही अच्छा प्रेममय व्यवहार था । घरमें स्त्रियोंका भी व्यवहार सुशीलाके सम्पर्कसे बहुत ही सुन्दर हो गया था । इस प्रकार कुछ काल बीतनेके बाद सुशीलाका लड़का इन्द्रसेन जब सोलह वर्षका हो गया, तब उसका विवाह भी पण्डित रघुनाथ आचार्यकी पुत्री गायत्रीसे कर दिया गया । वह विवाह भी पूर्वकी भाँति ही बहुत सात्त्विक, आदर्श और प्रशंसनीय हुआ । उसमें भी नाच-गीत, कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची बिल्कुल नहीं की गयी तथा इनकी ओरसे त्यागका व्यवहार रहा । पर श्रीरघुनाथ आचार्यका विशेष आग्रह होनेके कारण उनके सन्तोषके लिये नाममात्रका दहेज लेना पड़ा ।

इस प्रकार लड़की और लड़केका विवाह होनेपर सब घरवाले निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक अपने घरमें निवास करने लगे तथा परस्पर बड़े ही त्याग और प्रेमका व्यवहार करने लगे ।

(११)

कुछ दिनों बाद पण्डित देवदत्तजीके श्वास-रोगके कारण शरीर दुर्बल हो जानेसे ज्वर हो गया । अनेक आयुर्वैदिक दवा की, किंतु कोई भी लागू न पड़ी । सुशीलाकी रात-दिन विनय और प्रेमपूर्वक की हुई सेवासे देवदत्तजी मुग्ध हो गये और बोले—'बेटी ! तुम सर्वदा निर्दोष थी और मैंने तुमको घरसे निकलवा दिया था, वह दुःख मेरे हृदयमें शूलकी तरह चुभता रहता है ।' सुशीलाने ननद रोहिणीके द्वारा कहा—'ससुरजी ! आपकी तो कोई गलती है ही नहीं । वह सब घटना तो धोखेसे हो गयी । उसका आपको कुछ भी विचार नहीं करना चाहिये । मैं जो आपसे बहुत दिनोंतक अलग रही, इसे मैं अपना ही दुर्भाग्य मानती हूँ । अब इस

विषयमें आप अपनेको हेतु मानकर दुःख करेंगे तो उससे उल्टा मेरे चित्तपर विचार होगा।' यह सुनकर पण्डितजीने कहा—'बेटी! तू विचार मत कर। तेरी बात सुनकर अब मेरे चित्तमें कोई विचार नहीं रहा।'

इसके बाद पण्डितजीकी अवस्था और भी दब गयी। यह देखकर घरवालोंने स्थानको बुहार-झाड़कर साफ किया और फिर पवित्र जलसे धोकर उसपर गोबर तथा गङ्गाजलका चौका लगाया एवं उसपर तिल और सरसों बिखेरकर भगवान्का नाम लिखा। फिर उसपर पवित्र बालूकी शय्या बनाकर गङ्गाजीकी रेणुका छिड़क दी और उसपर रामनाम लिखकर मन्त्रोंद्वारा गङ्गाजलसे उसका मार्जन किया। उस बालूपर दर्भ डालकर हाथसे बना हुआ शुद्ध सफेद वस्त्र बिछा दिया। तदनन्तर पण्डितजीका संकेत पाकर सोमदत्तने उनको पवित्र जलसे स्नान कराया और नवीन शुद्ध उत्तरीय तथा अधोवस्त्र पहनाकर उनका यज्ञोपवीत बदल दिया। इसके बाद उनको उस बालुकामयी शय्यापर सुला दिया और हाथसे बनी हुई एक नवीन, शुद्ध, सफेद चद्दर ओढ़ा दी। उनके पास एक नूतन तुलसीवृक्षका गमला रख दिया। गलेमें तुलसीकी माला पहना दी, मस्तकपर चन्दनसे तिलक कर दिया। मस्तकके नीचे बहुत कोमल और हल्की-सी एक गीताकी पुस्तक रख दी। पण्डितजी श्रीविष्णुरूपके उपासक थे, अतः एक छोटी-सी शालग्रामजीकी मूर्ति उनके वक्षःस्थलपर रख दी। फिर पत्र-पुष्प, धूप-दीप आदिसे भगवान्की पूजा की गयी और आरती उतारी गयी। इसके बाद सोमदत्तने पण्डितजीको तुलसी और गङ्गाजल पिलाकर गीताके आठवें अध्यायका अर्थसहित पाठ सुनाया। तत्पश्चात् सब मिलकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मुग्ध होकर एक ताल और एक स्वरसे भगवान्के नामोंका कीर्तन करने लगे। पण्डितजीके सामने भगवान् श्रीविष्णुका सुन्दर चित्र दीवालपर टँगा हुआ था ही, उसे देखते हुए भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए तथा भगवान्के नामोंका कीर्तन सुनते हुए पण्डितजी भगवान्के परमधाम सिधार गये।

इस कहानीसे, विशेषकर माता-बहिनोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि वे सुशीलाको आदर्श मानकर उसका अनुकरण करें अर्थात् अपने साथ बुराई करनेवालेके साथ भी भलाई करें; बालकोंके साथ वात्सल्यभाव, समानवालोंके साथ मैत्री-भाव और बड़ोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति और विनयभावसे उनकी सेवा करें; निःस्वार्थभावसे उत्तम कार्य करके मान-बड़ाईसे रहित होकर उसका श्रेय दूसरोंको ही देनेके लिये सत्यकी रक्षा करते हुए चेष्टा करें; घोर आपत्ति पड़नेपर भी काम, क्रोध, लोभ, लज्जा, भय आदिके वशमें होकर धैर्य, धर्म, ईश्वरभक्ति तथा जान-बूझकर प्राणोंके त्यागका कभी विचार ही न करें; सास-ससुर, माता-पिता, पति आदि बड़ोंकी तन, मन, धनके द्वारा कर्तव्य समझकर निःस्वार्थभावसे विनय-प्रेमपूर्वक सेवा करें; बालकोंको अपने आचरण और वाणीद्वारा अच्छी शिक्षा दें; बालकोंके विवाहमें कुरीतियाँ और फिजूल-खर्चीका सर्वथा त्याग करें; चोर, बदमाश, ठग, नीच और धूर्तोंसे बचनेके लिये बुद्धि-विवेकपूर्वक कुशलतासे काम लें; बीमारी, मृत्यु और आपत्तिसे ग्रस्त मनुष्योंके हितके लिये उनकी निःस्वार्थ भावसे सेवा करें; विद्या, बुद्धि, बल, तेज और शिल्पज्ञानकी वृद्धिके लिये तत्परतासे यथोचित चेष्टा करें; सबको अपने अनुकूल बनानेके लिये उनके अवगुणोंकी ओर खयाल न करके उनके सच्चे गुणोंका वर्णन करते हुए उनके परमहितकी चेष्टा करें एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, श्रद्धा, प्रेम आदि गुणोंको तथा सत्सङ्ग, स्वाध्याय, कथा, कीर्तन, तीर्थ, सेवा, तप, दान आदि सदाचारोंको अमृतके समान समझकर कर्तव्य और निष्कामभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक धारण करें।

अमृत-कण

'जीवनका कोई भरोसा नहीं, कमलदलपर जैसे जल स्थिर नहीं रह सकता, वैसे ही यह जीवन है। इसमें अल्पकालके लिये जो सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होता है, वही संसाररूपी समुद्रको तरनेके लिये नौकाका काम देता है।'

'धैर्य जिसका पिता है, क्षमा माता है, शान्ति सदा पत्नी है, सत्य पुत्र है, दया बहिन है, मन-संयम भ्राता है, पृथ्वी शय्या है, दिशा वस्त्र हैं, ज्ञानामृत भोजन है; इतने जिसके कुटुम्बी हैं, बताइये, ऐसे योगीको किसका भय है।'

(संकलित)

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४५)

यह तो उषा आयी है, अंशुमाली अभी भी क्षितिज-के उस पार ही हैं। किंतु कमलनयन श्रीकृष्णचन्द्र आज इसी समय अपने-आप जग उठे हैं, जगकर जननीसे अपने मनकी एक बात बता रहे हैं—'री मैया ! देख, आज यहाँ नहीं, आज तो एक परम सुन्दर वनमें जाकर वहाँ ही भोजन करनेकी मेरी रुचि हुई है ।'—

कस्मिन्नप्यहनि अनुदित एवाहस्करे पुष्करेक्षणो जननीमुवाच । मातरद्य निरवद्यविपिनभोजने भो जनेश्वरि ! विहितलालसोऽस्मि ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अपने नीलमणिका ऐसा प्रस्ताव जननी सहजमें स्वीकार कर लें, यह भी कभी सम्भव है ? जननीको तो अपने पुत्रकी यह अभिलाषा नितान्त अनीतिपूर्ण प्रतीत हुई और वे बड़े वेगसे सिर हिलाकर तथा 'नहीं-नहीं, यह तो होनेकी ही नहीं ।'—मुखसे भी स्पष्ट कहकर अपना निर्णय सुना देती हैं—

इति तनयोदितमनयोदितमवगम्य व्रजराजवधूर्जवधूयमानवदनं न न न नेति यदा निजगाद ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रने भी हठ पकड़ लेनेके अनन्तर उसे फिर छोड़ देना सीखा जो नहीं है । अनुनय-विनय करते हुए अपने करपल्लवोंसे बार-बार जननीका मुख आच्छादन करते हुए उनकी सम्मति ले लेनेके लिये वे तुले बैठे हैं । और जब मैया अपने निश्चयपर अडिग बनी रहती हैं, तब श्रीकृष्णचन्द्र आज एक नयी युक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं; वे मैयाको अपनी शपथ दे देते हैं। बस, जननीको मौन कर देनेके लिये यह अमोघ उपाय है । अनुत्साहपूरित चित्तसे ही हो, पर अब तो जननी-को नीलमणिका अनुमोदन करना ही पड़ता है—

शपथेन मुहुरनुनाथ्य तदनुमोदनं कारयामास ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

वन-भोजनकी यह योजना कल वत्सचारण कर लौटते समय ही बन चुकी थी; सखामण्डलमें यह स्थिर हो चुका था कि कल प्रत्येक शिशु अपने घरसे भोज्य-द्रव्य साथ ले आये और सब मिलकर, साथ बैठकर, परस्पर बाँटकर प्रातः कलेवा भी किसी सुरम्यवनमें ही करें । प्रस्ताव श्रीकृष्णचन्द्रका ही था और फिर अविरोध समर्थन सखावर्गका हो, इसमें तो कहना ही क्या है । इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्र आज जननीके शत-शत अवरोध-अनुरोधपर भी अविचल रहे और जननीको ही अपना निश्चय बदलना पड़ा । जो हो, व्रजरानी सर्वप्रथम अतिशय शीघ्रतासे अपने चञ्चल पुत्रको शृङ्गार धारण कराने लगती हैं और उधर रोहिणी मैया सुस्वादु सुमिष्ट विविध खाद्यसामग्रीसे छींकोंको पूर्ण करनेमें जुट पड़ती हैं।

वेशविन्यास पूर्ण हुआ और श्रीकृष्णचन्द्र प्राङ्गणमें आकर खड़े हो गये । मैया दौड़कर कुछ मोदक-खण्ड एवं किञ्चित् नवनीत ले आयीं तथा अपने नीलसुन्दरके मुखमें डालने लग गयीं । नीलसुन्दर भी जानते हैं—यदि उन्होंने जननीके इस उपहारको अस्वीकार किया तो फिर वन-भोजनकी सारी योजना धरी रह जायगी । अतः वे खड़े-खड़े ही जननीकी यह भेंट लेने लगे । अवश्य ही अल्प-से-अल्प समयमें ही यह कार्य सम्पन्न हुआ और तब गूँज उठा श्रीकृष्णचन्द्रका शृङ्गनाद । आज उनके सखाओंकी तो अभी नींद भी नहीं टूटी है । यह पूर्ण परिचित शृङ्गध्वनि ही कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट होकर उनको—व्रजपुरके समस्त शिशुओंको जगाती है । वे हड़बड़ाकर उठ बैठे—'अरे ! आज तो कन्नू भैयाकी ही विजय हुई, ऐसा तो कभी नहीं हुआ था,

हम सभी जाते थे तब कन्हैया जागता था; जननीके शत-शत प्रयाससे, हमारे तुमुल कोलाहलसे उसके नेत्र खुलते थे और आज तो वह वनकी ओर चल पड़ा !' शिशु अपने गोवत्सोंको हाँक देनेके लिये दौड़े गोष्ठकी ओर । श्रीकृष्णचन्द्रके गोवत्स तो आज अपने पालकसे भी बहुत पूर्व मानो जाग उठे हैं, वे मूक गोशावक जैसे आजकी व्यवस्थासे पूर्ण परिचित हों, इस शृङ्गनादकी ही प्रतीक्षा कर रहे हों—इस प्रकार ध्वनि होते ही नन्दभवनके तोरणद्वारपर कूदते हुए वे एकत्र हो जाते हैं । वनपथकी ओर अग्रसर होनेका चिरपरिचित सङ्केत उन्हें प्राप्त हो जाता है और वे उधर ही चल पड़ते हैं । आगे-आगे अपार गोवत्सश्रेणी और पीछे उनके पालक व्रजेन्द्रनन्दन गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र वनकी ओर चले जा रहे हैं—

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १२ । १)

श्रीकृष्णचन्द्रका त्रिभुवनमोहन आजका वह वत्सपाल-वेश देखते ही बनता है—

वेणुं वामे करकिशलये दक्षिणे चारुयष्टिं
कक्षे वेत्रं दलविरचितं शृङ्गमत्यद्भुतं च ।
बर्होत्तंसं चिकुरनिकरे वल्गुकण्ठोपकण्ठे
गुञ्जाहारं कुवलययुगं कर्णयोश्चारु बिभ्रत् ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'वाम करकिशलय वेणुसे सुशोभित है, दक्षिण करमें सुन्दर यष्टि (छड़ी) है । कक्षमें बेंत एवं पत्रमण्डित अद्भुत शृङ्ग दबाये हुए हैं । अलकावली मोरमुकुटसे मण्डित है । सुन्दर कण्ठदेश गुञ्जाहारसे राजित हो रहा है । कर्णयुगल युग्मकुवलयसे विभूषित हैं ।'

जननीके अगणित रत्नहार, रत्नाभूषणोंमेंसे आज किसीको श्रीअङ्गपर स्थान नहीं मिला । आज तो श्रीकृष्णचन्द्र वनमें ही रहेंगे । जननीने भी अचिन्त्य प्रेरणावश तदनुरूप ही शृङ्गार धराये हैं । फिर अवकाश ही कहाँ था कि जननी अपने नीलसुन्दरको समस्त शृङ्गार धारण करा सकें । एक क्षणका विलम्ब भी श्रीकृष्णचन्द्रको असह्य जो हो गया था । मैयाका मन भी रह-रहकर इस ओर आकर्षित हो रहा था कि अधिक-से-अधिक छींकोंमें अधिक-से-अधिक भोजनद्रव्य श्रीरोहिणी एवं परिचारिकाएँ भर पायीं कि नहीं । कहीं वनमें सखाओंको वितरण करते-करते स्वयं नीलमणिके लिये भोज्य-वस्तुओंकी त्रुटि न पड़ जाय—मैयाको तो यह चिन्ता लगी थी । शृङ्गारके बिना ही उनके परम सुन्दर साँवरे पुत्रसे सौन्दर्यकी किरणें झरती रहती हैं, रत्नाभरण आज न सही ! बस, अधिक-से-अधिक खाद्य सामग्री वनमें भेजी जा सके, मैयाके लिये यही प्रमुख प्रश्न था । और इसीलिये आज श्रीकृष्णचन्द्रका छींका वहन करनेवाले गोपसेवकोंकी संख्या भी मैयाने बढ़ायी है, बहुत अधिक बढ़ायी है—शृङ्गार-सामग्रीकी नहीं ।

अस्तु, राजसदनकी सीमा पार करते-न-करते सखाओंका समुदाय भी एकत्र होने लगता है । देखते-देखते सहस्र-सहस्र गोपशिशु अपने असंख्य गोवत्सोंको साथ लिये, उन्हें आगे हाँकते हुए आ पहुँचते हैं; श्रीकृष्णचन्द्रके मण्डलमें सम्मिलित हो जाते हैं । प्रत्येकने अपने घरसे छींकोंमें भोजनद्रव्य ले लिये हैं । सभी सुन्दर वेत्र, शृङ्ग एवं वेणुसे विभूषित होकर ही आये हैं । इन शिशुओंके पारस्परिक प्रेमकी, श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति असीम अनुरागकी तुलना ही कहाँ सम्भव है । फिर आजकी मनोवाञ्छित योजना सफल होते देखकर तो इनके सुखका पार नहीं रहा है । आनन्दसिन्धुकी चञ्चल लहरियोंसे स्नात हुए, उनपर नाचते-से हुए ये चले जा रहे हैं अपने प्राणाराम सखा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ !

तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः
स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्
वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । २)

अपने बछड़े उन सबोंने श्रीकृष्णचन्द्रके असंख्य गोवत्सोंमें मिला दिये—

कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् ।
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३)

अपने बछरन लै लै आये । कान्ह के बछरन आनि मिलाये ॥

और फिर स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलकर ऐसे चले जा रहे हैं, जैसे असंख्य मन्मथकी मण्डली श्रीकृष्णचन्द्रको आवृत किये जा रही हो—

नंद-सुवन सौं मिलि कै चले । लागत सबै मैन से भले ॥

उनके मध्यमें श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा !—उसका तो क्या कहना है !—

तिन मधि मोहन अति सुखदाइक ।
नग जराइ मधि ज्यौं मधिनाइक ॥

किंतु सबको ही आज एक बात अतिशय खल रही है । आज दाऊ भैया साथ जो नहीं चल रहे हैं । उनके अभावमें तो वन-भोजनका रस ही आधा हो जायगा । किसी कारणसे वे तो घरपर ही रह गये—

केनापि हेतुना गृहस्थितिः कुतूहलिनि हलिनि······।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

अरे नहीं, उनका आज जन्मनक्षत्र है, उसकी शान्ति, अभिषेक आदिके लिये रोहिणी मैयाने उन्हें बलपूर्वक रोक लिया—

बलदेवस्तु मात्रा जन्मर्क्षशान्तिकस्नानाद्यर्थं गृह एव बलाद्रक्षितः । (सारार्थदर्शिनी)

इतना अवश्य है, चलते समय दाऊ भैयाने श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चुपचाप यह संवाद भेज दिया है—

हन्त भोः ! कृष्ण ! त्वया सह क्रीडातृष्णगप्यहं विरुद्धविधिना निरुद्ध एवास्मि । ××× भवता या लीला भावयितुं भाविता सावश्यं भावयितव्या ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

'भैया रे श्रीकृष्ण ! तुम्हारे साथ क्रीड़ाकी लालसा रहनेपर भी दैव मेरे विरुद्ध है और मैं रोक ही लिया गया । किंतु जो लीला तुमने करनेकी सोच रक्खी है, उसे अवश्य सम्पादित करना ।'

बलरामकी यह सम्मति ही उनके अभावको किसी अंशमें पूर्ण कर दे रही है । और फिर तो अचिन्त्य-लीला महाशक्तिने डोरी खींच ली । दाऊ भैया सबके स्मृतिपथसे बाहर चले आये । दूसरे ही क्षण नवीन उत्साहका द्वार खुला । अरविन्दनयन श्रीकृष्णचन्द्रके दृगञ्चल चञ्चल हो उठे । उल्लासकी स्रोतस्विनी लहरा उठी और गोपशिशु उसीमें बह चले । आगे मनोरम वनश्रेणी है । कलिन्दनन्दिनीका मञ्जुल प्रवाह है । श्रीकृष्णचन्द्रका नेतृत्व है । इससे अधिक उद्दीपन और क्या होगा ? गोपशिशु वत्सचारण करते हुए ही बाल्यकौतुकमें संलग्न हो जाते हैं । चलते-चलते जहाँ कहीं भी रुक जाते हैं और वहीं एक-से-एक सुन्दर बाल्यविहार होने लगता है—

चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजहुस्तत्र तत्र ह ।
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३)

पहली क्रीड़ा हुई नीलसुन्दरके श्यामल श्रीअङ्गोंको वन्यसामग्रीसे अलङ्कृत करनेकी, स्वयं भी आभूषित होनेकी । सबकी माताओंने यथासाध्य पर्याप्त सजाकर ही पुत्रोंको वनमें भेजा है । श्रीकृष्णचन्द्रने रत्नहार, मणि-भूषण नहीं धारण किये तो क्या ? शिशुओंकी माताओंने तो आज भी उन्हें—बालकोंकी रुचि ऐसे श्रृङ्गारमें न रहनेपर भी—वैसे ही सजाया है । सदाकी भाँति गोपशिशु अङ्गद, वलय, किङ्किणीजाल, कर्णकुण्डल, मञ्जीर और विविध मणिमय भूषणोंसे सुसज्जित हैं—

केयूरे वलयानि किङ्किणिघटा हारावली कुण्डले
मञ्जीरौ मणिवृन्दबन्धलतिका यद्यप्यमीषां बभुः ।
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

गुञ्जा, काच, मुक्ता, स्वर्णमणिनिर्मित आभरणोंसे पुत्रोंकी वेशरचनामें आभीर-सुन्दरियोंने कलाकी इति कर दी है; इतने अल्प समयमें व्रजेश्वरीने भी पुष्पोंसे ही अपने नीलमणिका परम मनोहर शृङ्गार करके ही भेजा है। पर इससे क्या हुआ, शिशुओंके मनके अनुरूप न तो श्रीकृष्णचन्द्र ही सजे और न वे सब ही। व्रजरानी, उनकी माताएँ कहाँ पायेंगी वनस्थलीकी शृङ्गारसामग्री ? भूषणोपयोगी ये छोटे-बड़े वनफल, द्रुमवल्लरियोंके रङ्ग-बिरङ्गे नवपल्लव, मनोहारी पुष्पगुच्छ, विविधवर्ण, चित्र-विचित्र कुसुमोंकी राशि, अभी-अभी झड़े हुए झलमलाते मयूरपुच्छ एवं गैरिक आदि भाँति-भाँतिके वन्यधातु—ये वस्तुएँ व्रजराजमहिषीको, गोप-सुन्दरियोंको कहाँ मिलेंगी ! और मिलें भी तो इनसे विभूषित करनेकी कल्पना ही उनमें कहाँ सम्भव है ? किंतु शिशुओंके मनभावते शृङ्गारद्रव्य तो ये ही हैं। उन्हें तो अपने प्राणप्रतिम सखा कन्हैयाको; स्वयं अपने-आपको इन्हींसे अलङ्कृत करना है। तभी तो समुचित वेशविन्यास होगा ! अन्यथा तो इन आभूषणोंका भार वहन करना मात्र है ! अतः सबसे पहले आज वेशरचनाका ही कार्य हुआ। फलसे, नव-किशलयसे, कुसुम-स्तबकसे, सुमनसे, शिखिपिच्छ एवं वन्यधातुओंसे प्रथम उन सबने मिलकर नीलसुन्दरके अङ्गोंको अलङ्कृत किया और फिर पारस्परिक सहयोग-द्वारा तथा श्रीकृष्णचन्द्रके करपद्मोंसे आहृत वन्य-उपहारों-को ले-लेकर वे सब-के-सब स्वयं भी विभूषित हुए—

फलप्रवालस्तवकसुमनःपिच्छधातुभिः ।
काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ४)

इसके अनन्तर उनकी यथेच्छ क्रीड़ा आरम्भ हुई। एकने चुपचाप किसीका छींका कंधेसे उतार लिया, अथवा बगलसे बेंत खींच ली और छिपा दिया। किसी सहगामी दर्शकका सङ्केत पानेपर उसे अपनी वस्तुके अपहृत होनेका भान हुआ और वह ढूँढ़ने चला। वस्तु जाती कहाँ ? अपहरण करनेवालेका ठीक-ठीक अनुमान उसे हो गया और वह दौड़ा उससे अपनी वस्तु छीनने। किंतु समीप पहुँचनेसे पूर्व उसने तो अपहृत वस्तु दूर फेंक दी। शिशु अपनी वस्तु उठा लेनेके लिये लपका पर ले नहीं सका। दूसरे शिशुने उसे उठाकर और भी आगे निक्षिप्त कर दिया। वहाँ पहुँचनेपर तीसरेने और आगे फेंक दिया। वस्तु न पाकर, अपनी हारका अनुभव कर श्रान्त शिशुके नेत्र भरने लगे। फिर तो किसी वयस्क शिशुने अथवा स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने ही हँसते हुए उसकी वस्तु लाकर उसके हाथोंमें दे दी और उसे अङ्कमें भर लिया। उसके तप्त अश्रु एक अनिर्वचनीय सुखके परमशीतल बिन्दुमें परिणत हो गये !

कदाचित् वृन्दाकाननकी सुन्दर शोभा निहारने श्रीकृष्णचन्द्र किञ्चित् दूर चले गये, फिर तो होड़ मची—दौड़कर कौन सबसे पहले श्रीकृष्णचन्द्रको स्पर्श करता है ? 'यह लो मैं पहुँचा' कहते हुए असंख्य शिशु एक साथ दौड़े श्रीकृष्णचन्द्रको स्पर्श करनेके लिये; और उन्हें छूकर, अपने भुजपाशमें बाँधकर सुखसिन्धुमें निमग्न हो गये।

एक समुदायकी लालसा हुई—श्रीकृष्णचन्द्रकी भाँति ही वह वंशी बजाये। उसने अपनी वंशीमें स्वर भरना आरम्भ किया। फिर तो उसका अनुकरण दूसरे-ने भी किया ही। विभिन्न स्वरनादसे कानन गूँज उठा। और तब श्रीकृष्णचन्द्रने अपने अधरोंपर वंशीको धारण किया। करकिशलय चञ्चल हुए, छिद्रोंपर अङ्गुलियाँ नाचने लगीं। फिर तो अगणित शिशुओंका सम्मिलित वेणुनाद श्रीकृष्णचन्द्रके वंशीरवमें ही सहसा

समा-सा गया। साथ ही शिशुओंको अनुभव हुआ—'कन्नू भैयाकी स्वरलहरीसे जिस मधुकी वर्षा होती है, वह तो अप्रतिम है, हम सबोंके वंशीनादमें सचमुच वह मिला नहीं, वह तो उससे सर्वथा पृथक् रह रहा है, उस मधुप्रवाहमें हमारा नाद प्रस्तर-कण-सा खर-खर कर रहा है। उसमें एकरस होकर मिल सकना तो दूर रहा, हमारा वंशीरव तो उलटे उसकी मधुरिमा-को रुद्ध कर दे रहा है।' एक साथ ही शिशुओंने बजाना स्थगित कर दिया और फिर सबने निश्चय कर लिया—'देखो, जब कन्नूकी वंशी बजे, तब हममेंसे कोई भी उस समय उसका अनुकरण न करे। अन्यथा हम सभी इस परम सुखके पूर्ण उपभोगसे वञ्चित रह जायँगे। और बातोंमें कन्नूको हरायें, वह तो हारेगा ही, पर वंशीवादनमें उसकी होड़ करने न जायँ!'

यही परिणाम शृङ्गध्वनिका भी निकला। श्रीकृष्णचन्द्रके शृङ्गसे निर्गत अत्यन्त गम्भीर नादकी समता गोपशिशु न कर सके। तथा पूर्ववत् निर्णय इस सम्बन्धमें भी हुआ। और वेणु, शृङ्ग तो प्रतिदिन ही बजते हैं, बजेंगे ही। आज तो और ही क्रीड़ा हो!

अस्तु, एक दलको अन्य क्रीड़ा सूझी। मधुमत्त भ्रमर गुन-गुन करते उड़ रहे हैं। शिशुओंके इस दलने उनकी ओर देखा, उनकी ध्वनि सुनी और फिर उस 'गुन-गुन'में ही अपना कण्ठ-स्वर मिलाना आरम्भ किया। इतनेमें कोकिलका 'कुहू-कुहू' रव सुन पड़ा और कुछ शिशु कोकिलकण्ठका ही अनुकरण करने लगे।

कतिपय शिशु अतिशय वेगसे दौड़ने लगे। आकाश-में उड़ते हुए पक्षियोंकी सचल छाया देखकर उन्हें नया ही कौतुक हाथ लगा। वे उस छायाका ही अनुसरण करते हुए छायापर अपने चरण रखते हुए चलनेके प्रयासमें प्रबल वेगसे दौड़ चले। आगे सरोवर आ जानेसे उनका मार्ग रुद्ध हो गया। अन्यथा वे न जाने कितनी दूरतक चले जाते। जो हो, सरोवरपर जानेसे एक और सुन्दर क्रीड़ासामग्री मिली। वहाँ हंसोंकी मृदुगति देखकर उनके आनन्दका पार नहीं। वहीं इस मरालकुलकी शोभा निहारनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र भी दौड़े आये। उन्हें अपने समीप आये देखकर उन हंसोंकी विचित्र दशा हुई। वे ग्रीवा उठाकर मृदु मन्दगतिसे अतिशय सुमधुर कूजन करते हुए उनकी ओर ही चल पड़े। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रके उन गोपसखाओंकी चेष्टा भी देखने ही योग्य हुई। पङ्क्तिबद्ध होकर वे बालक ठीक हंसोंकी भाँति ही चलने लगे। श्रीकृष्णचन्द्रका उन्मुक्त हास्य उन्हें उत्तरोत्तर प्रोत्साहित करता गया और हंसकी गतिसे मृदुपादविन्यासकी क्रीड़ा न जाने कितनी देर चलती रही।

किञ्चित् अल्पवयस्क शिशुओंका ध्यान शान्त स्थिर बैठे बक-समूहोंकी ओर गया। वे उनकी मुद्राका ही अनुकरण करने लगे। उनसे कुछ दूर वहीं सरोवर-तटपर वे शिशु भी वैसे ही ध्यानस्थित-से शान्त बैठ गये। उनका यह सुन्दर अभिनय देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासकी सीमा नहीं रही।

वहीं देखते-देखते दल-के-दल मयूर एकत्र होने लगे। उन्हें भी श्रीकृष्णचन्द्रकी अङ्गगन्ध मिली और वे अपनी घ्राणशक्तिसे इस दिव्यातिदिव्य सौरभका सन्धान पाकर सघन वनसे वहाँ चले आये जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र विराजित हैं। वे सचमुच आये ही हैं श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने; क्योंकि उन सबोंने पुच्छका विस्तार किया और लगे नृत्य करने। उनके इस नृत्यसे श्रीकृष्णचन्द्रका मन भी नाच उठता है। केवल मन ही नहीं, शरीर भी। वास्तवमें वे उन नृत्यपरायण मयूरोंके पाद-विन्यासपर, उनके तालबन्धपर उनकी-सी भाव-भङ्गिमाका प्रकाश करते हुए नृत्य करने लग जाते हैं। गोपशिशुओंकी तो क्या चर्चा, श्रीकृष्णचन्द्रका यह नृत्य अतिशय चञ्चल कपिदलको भी मुग्ध कर देता है। द्रुम-

शाखाओंपर अवस्थित, अतिशय शान्ति धारण किये इस कपिसमाजकी भावसमाधि देखने ही योग्य है !

किंतु आखिर तो वह कपिकी जाति ठहरी। एकने भूल कर दी। दर्शनलोभसे ही वह कूदकर निम्नतम शाखापर आ बैठा। और एकके नीचे उतर आनेपर दूसरेके द्वारा अनुकरण अनिवार्य है ही। कपिस्वभावकी शोभा भी इसीमें है। अस्तु, देखते-ही-देखते शत-शत कपिसमूह वृक्षसे नीचे आकर नृत्यपरायण श्रीकृष्णचन्द्रको, मयूर-कुलको आवृत कर लेते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान इस ओर नहीं जाता, वे तो नृत्यमें तन्मय हो रहे हैं। किंतु मयूर भयभीत हो उठे। अपने पुच्छका सङ्कोचकर नृत्यका विरामकर, सब-के-सब तरुशाखाओंपर जा चढ़े। अब तो गोपशिशुओंके रोषका पार नहीं। इस दुष्ट कपिदलने श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य जो बिगाड़ दिया। शिशुओंमें प्रतिशोध लेनेकी भावना जाग्रत् हुई। वे उनकी लम्बी नीचे लटकती पूँछोंको पकड़-पकड़कर खींचने लगे। और जब वे कपि ऊपरकी शाखाओंपर जा चढ़े तो शिशु भी उनके साथ ही वृक्षोंपर चढ़ गये। वे सब वानर-स्वभाववश मुख विकृत करके जब इनकी ओर घुड़कने लगे, तब ये सब भी ठीक वैसे ही अपना मुँह फाड़कर, दाँत निकालकर, उलटा उन्हें ही धमकाकर उन्हें पुनः पकड़ लेनेका प्रयास करने लगे। भयभीत कपिसमाज जब इस वृक्षसे उस वृक्षपर कूदकर भागने लगा, तब ये निर्भीक गोपशिशु भी एकसे दूसरे वृक्षपर कूदने लगे। उन्हें बहुत दूर हटाकर ही इन सबोंने विश्राम लिया।

एक ओर कतिपय शिशुओंका अभिनय और भी मनोरम है। आयु छोटी होनेके कारण यह मण्डल न तो वृक्षपर ही चढ़ सका और न अन्य क्रीड़ाओंमें ही इसे सफलता मिली। किंतु इस बार इन्होंने भी बाजी मार ली। सरोवरके समीप उछलते हुए भेकों (मेढकों) की ओर इनकी दृष्टि गयी और ये भी पृथ्वीपर हाथ टेककर वैसे ही फुदकने लगे। ठीक उनकी भाँति ही फुदककर क्षुद्र जल-धाराओंको पार करने लगे। इनकी यह चेष्टा देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके सहित अन्य समस्त गोपशिशु हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

कुछ गोपबालकोंका ध्यान अपने प्रतिबिम्बकी ओर गया। प्रातःकालकी इतनी लम्बी छाया देखकर वे उस प्रतिच्छायासे ही खेलने लगे। बालकोंने अपने हाथ उठाये, प्रतिबिम्बके हाथ भी उठ गये। भला, इतना सुन्दर खेल और क्या होगा ! फिर तो अपने अङ्गोंको विविध भाँतिसे प्रकम्पितकर उसकी प्रतिक्रिया वे छायामें देखने लगे, देख-देखकर आनन्द-मग्न होने लगे। और जब अपनी ही प्रतिध्वनिसे खेलनेका क्रम आरम्भ हुआ तब तो कहना ही क्या है ! तुमुल आनन्द-कोलाहलसे समस्त वनप्रान्तर मुखरित हो रहा है। सहसा इसीकी ओर कुछका ध्यान गया तथा प्रश्नोत्तर आरम्भ हुआ। शिशुने उच्च कण्ठसे पुकारा—'अरे ! तुम कौन हो ?' प्रतिध्वनिने इसीकी आवृत्ति कर दी। 'हम तो श्रीकृष्णचन्द्रके सखा हैं।' प्रतिनादने भी यही उत्तर दिया। 'क्या तुम्हारे साथ भी श्रीकृष्णचन्द्र हैं ?' प्रतिशब्द भी ज्यों-का-त्यों लौट आया। 'हाँ हैं।' इसका उत्तर भी यही मिला। किंतु इस उत्तरसे कुछ शिशु रुष्ट हो गये—'मिथ्यावादी कहींके ! श्रीकृष्णचन्द्र तो एक हैं, हमारे साथ हैं, तेरे साथ कहाँ हैं ?' प्रत्युत्तर भी यही प्राप्त हुआ। अब तो शिशुओंके रोषका पार नहीं—'रे ! तू भी कोई असुर प्रतीत होता है, पर स्मरण रख, तेरी भी दशा बक-जैसी होगी !' इसके उत्तरमें भी यही शाप उधरसे भी, वनप्रान्तरके अञ्चलसे भी लौट आया। न जाने कितनी देर यह शापानुग्रहकी क्रीड़ा हुई ! इस प्रकार वनमें वत्सचारण करने आकर श्रीकृष्णचन्द्र आज भी सखाओंके साथ बाल्यलीला-विहारका रसपान करने लगे, स्वयं पानकर, वितरण-कर रसमत्त हो उठे—

मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः।
तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः॥
यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥
केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन।
केचिद् भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे॥
विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधुहंसकैः।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः॥
विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान्।
विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु॥
साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान्॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ५-१०)

चलि गये जमुन तट सबहिन के घट, उमगि अनंदित केलि करैं,
ले बछनि चरावत मिलि सब गावत, कुसुम अनेकनि माल धरैं।
इक छीके छोरत इक इक चोरत, पाक बिबिध बिधि खात यहाँ,
इक मोरनि-बोलनि, हंस-कलोलनि, बोलत बोलनि बोल तहाँ॥
इक कोकिल कूकनि मर्कट हूकनि हूकत जहँ तहँ हास करैं,
इक भौंरनि गुंजनि पहिरत गुंजनि बहिरत कुंजनि स्वाँग धरैं।
इक प्रभुहिं रिझावत, प्रभु सुख पावत, अति प्रवीन गति नृत्त सचैं,
लखि सुर सब तरसत सो सुख बरसत सिसु उर आनद खेल रचैं॥

ज्ञानी एवं योगीगण जिन्हें निर्विशेष ब्रह्मानन्दस्वरूप मानते हैं, दास आदि भक्तोंके लिये जो परमपुरुष परमेश्वर हैं, मायाश्रित विषयविदूषित नेत्रवाले पुरुषोंके लिये जो नरबालकमात्र हैं, उन्हीं स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ गोपशिशुओंका यह अद्भुत विहार हो रहा है ! पता नहीं, कैसे, किस जातिके राशि-राशि पुण्योंका यह परिणाम गोपशिशुओंको प्राप्त हुआ है !

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ११)

जिन्होंने यम-नियमका सतत साधनकर अपने चित्तको एकाग्र कर लिया है, जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो चुके हैं—इस प्रकारके समाहितचित्त योगी भी अनेक जन्मोंमें अपार साधनक्लेश वरण करनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रकी चरणधूलिकणिकाका स्पर्श नहीं प्राप्त करते। किंतु वे ही श्रीकृष्णचन्द्र आज इस वृन्दाकाननमें, व्रजवासियोंके दृष्टिपथमें सतत अवस्थित हैं। इन व्रजवासियोंके अपरिसीम सौभाग्यकी बात कौन बताये, कैसे बताये !

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । १२)

जाके पद-रज-हित तप करि कै, बहुत काल जोगी दुख भरि कै।
प्रेरित चपल चित्त कहुँ भूरि, सो वह धूरि तदपि हू दूरि।
सो साच्छात दृगन-पथ चहियै, कवन भाग्य व्रजजनकौं कहियै॥

गणपति-वन्दन

दीनबन्धु हे नाथ ! दोष दूषण दुखहारण।
नमो निखिल-खल-दलन सकल-मल-मूल निवारण॥
जय गजेन्द्र-सम-वदन, मदन-दाहक-हर-नन्दन।
जय जग-वन्दित-नन्दिकेश-सुत दुःखनिकन्दन॥
जय षटमुख, गणपति, करिवदन, सुत भवानि हे जयति जय।
मम भक्ति बढ़ै तव चरणमें, भक्त होंहि निर्भय सदय॥

—श्रीरूपनारायण चतुर्वेदी

सत्सङ्ग-माला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्कसे आगे]

६४) रोज सबेरे, रात्रिको सोनेके पहले, मध्य रात्रिमें जगनेपर और सबेरे उषाकालमें उठकर नीचे लिखी क्रिया करे। हो सके तो इस प्रकार आसन जमावे। एकान्तमें पहले कुशासन, उसपर मृगचर्म और उसके ऊपर ऊनका आसन, और उसके ऊपर सूती कपड़ेका आसन लगावे। ऐसा न हो सके तो जहाँ जैसा साधन हो उसीके ऊपर एकान्तमें बैठे। और पद्मासन या वैसा ही सुलभ आसन लगावे, सीधा होकर बैठे, आँखें बंद कर ले, और मनसे कहे कि किसी प्रकारका विचार किये बिना भगवान्‌का दर्शन करनेकी बाट जोहते हुए एक चित्तसे बैठना है। तुझे कोई खास जरूरी काम हो तो उसे पहले ही कर ले। इस प्रकार मनको सावधान करके आँखें मीचे। यदि अन्धकार दिखलायी दे तो आँखें बंद किये बैठा हुआ अन्धकारको देखता रहे। यदि मन किसी विचारमें लगना चाहे तो उसे रोके। जिस प्रकार किसीकी बाट जोहता हुआ मनुष्य एक चित्तसे टकटकी लगाकर देखता है उसी प्रकार आँखें बंद किये भगवान् अभी ही प्रकट होंगे, इसी एक उत्सुकतासे अन्धकारको देखा करे। इस प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे वह अन्धकार दीखना बंद हो जायगा और अनेकों प्रकारके दृश्य दिखलायी देने लगेंगे—जैसे विपुल तेज, चन्द्र, तारा, आकाश, विजली, वर्षा, सूर्य आदि ज्योति इत्यादि। परंतु यह न समझे कि यह जो कुछ दिखलायी देता है, सो परमात्मा है। यह बिल्कुल पक्की बात है कि जो कुछ दिखलायी देता है वह परमात्मा नहीं। ऐसा करते-करते यदि साधक सगुण साकार परमात्माका उपासक होगा तो जिस रूपमें उसकी श्रद्धा होगी, वही रूप धारण करके भगवान् उसे दर्शन देंगे। और यदि वह निराकार निर्गुणका उपासक होगा तो उसे आत्मदर्शन होगा और उसकी समाधिमें स्थिति हो जायगी। उपासकको साकार परमात्माके आकारका दर्शन होता है, उसमें आकार भगवान् नहीं है; बल्कि आकार धारण करनेवाला भगवान् है। जिस प्रकार कपड़ा पहननेवाला राजा होता है, परंतु कपड़ा राजा नहीं होता। उसी प्रकार रूप परमात्मा नहीं है। बल्कि रूपधारी परमात्मा है।* इसलिये रूपका अनादर न करके रूपके साथ रूपमें रहनेवाले अरूप परमात्मामें लीन होना चाहिये। यह अभ्यास जीवके अनेक जन्मका अन्त करनेवाला अन्तिम अभ्यास है, अतः इसमें जल्दीबाजी नहीं करनी चाहिये। धीरज रखकर प्रतिदिन शान्तिसे करते जाना चाहिये। प्रयत्न करते रहनेसे भगवान्‌की कृपासे समय आनेपर फल मिलेगा।

इस क्रियाके करते समय किसी भी अङ्गको दबावे नहीं नाक या कानको न दबावे। स्वाभाविक रीतिसे शान्त चित्तसे मुँह और आँखें बंद करके बैठे। बैठनेका समय धीरे-धीरे बढ़ावे। जल्दबाजी न करे। आज पाँच मिनट तो महीनेभर बाद दस मिनट—इस प्रकार बढ़ावे। एक ही ध्यान रक्खे कि मनमें तरङ्गें न उठने पावें। उठें तो तुरंत रोक दे। इस क्रियाको करनेवाला गृहस्थ हो तो विषयभोगको कम करे। खाने-पीनेमें गरम मसाला, मिर्चा, भारी भोजन न करे। सात्त्विक आहार करे और वह भी अधिक परिमाणमें नहीं। इस क्रियामें बैठनेके पहले, यदि पाखाना-पेशाबकी हाजत हो तो हो आवे। इस क्रियाके करनेकी जिसे इच्छा हो उसे बहुत श्रमवाला व्यावहारिक काम नहीं करना चाहिये। मन चिन्तारहित और प्रसन्न होना चाहिये। मन कामनारहित भगवान्‌के प्रति भक्तियुक्त होना चाहिये। दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे बैठनेका समय बढ़ता जायगा वैसे-वैसे ही मनकी शक्तियाँ भी धीरे-धीरे बढ़ेंगी। दूरकी बात सुन पड़ेगी, दूरकी वस्तु दीख सकेगी, मनकी इच्छाएँ पूर्ण होंगी। दूसरे अपने अधीन रहेंगे। वाक्-सिद्धि प्राप्त होगी। सङ्कल्प-सिद्धि होगी। पर इन सबोंमें यदि मन ललचाया तो जान लो कि पतन हो गया। ये सब भगवान्‌के मार्गमें विघ्न हैं, इसलिये इनका आदर न करे। अहङ्कार न करे। तमाशा करके लोकमें नाम कमानेकी इच्छा न करे। इनको अलग छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये और मनको शान्त रखना चाहिये। बाहर तो लोक तथा जगत्‌से मन सदा शान्त रहे, और भीतर कामनाएँ न रहनेसे मन शान्त रहे। इस प्रकार सदा शान्त मन रहे। इस बातको सदा लक्ष्यमें रखकर अभ्यास करते जाना चाहिये।

* वस्तुतः साकार भगवान्‌के रूपमें और भगवान्‌में कोई अंतर नहीं है। दोनों ही सच्चिदानन्द तथा एक हैं।

इससे समयानुसार जगत् सिनेमाके दृश्यों-जैसा जान पड़ेगा और परमात्माका दर्शन होगा।

इस अभ्यासके करते समय सदा सीधा होकर बैठना चाहिये, नहीं तो नींद आयेगी। इस अभ्याससे क्रोध कम होगा। इन्द्रियोंके भोग नीरस लगेंगे। व्यवहारकी बातें कम रुचिकर होंगी। शान्ति अधिक रहेगी। इस अवस्थामें जब साधक बैठे, तब यदि मन दूसरी कोई बात न सुने, दूसरा कुछ न दीखे, दूसरी बात न जाने और दूसरा कुछ न विचारे तो समझना चाहिये कि साधन परिपक्व होता जा रहा है। अभ्यास करनेके बाद उठनेपर पता लगेगा कि मन दूसरी बात सुनता, देखता, जानता या विचारता था या नहीं। धैर्य धारण करके इस अभ्यासमें लगे रहना चाहिये।

(६५) अब जाग्रत् अवस्थाके दूसरे मनके लिये अभ्यास बतलाता हूँ। इस प्रकार रहो कि मनमें सदा प्रसन्नता बनी रहे। शरीरमें चित्त रहता है। वह शरीरसे बाहर चला जाय तो कहा जाता है कि मनुष्य मर गया। शरीरमें चित्त रहते समय यदि कोई अंट-संट बोलता या बर्तता हो तो लोग कहते हैं कि उसका चित्त खिसक गया है, वह पागल जान पड़ता है। अब तीसरे प्रकारके ऐसे लोग हैं कि जिनका चित्त किसीके कुछ कहनेपर या विपत्तिमें या कामनामें एक बार अपनी जगह छोड़कर खिसक जाता है, और फिर पीछे ठिकाने आ जाता है। ऐसे लोग संसारी कहलाते हैं। जब चित्त अपनी जगह छोड़कर खिसक जाता है उस अवस्थामें मनुष्य जो कुछ बोलता है वह दुःखदायी होता है। खिसके हुए चित्तकी स्थितिमें ही क्रोध, शोक, हर्ष, विषाद, चिन्ता, तिरस्कार, अपमान और दुःख होता है। इन सारे द्वन्द्वोंका अनुभव करते हुए चित्तमें जब शान्ति और समझ आती है, तब वह अपने स्थानपर आता है और इन सबके लिये उसे परिताप होता है। अब रही चौथी अवस्था, जिसमें चित्त चाहे जो कुछ भी हो परंतु अपने स्थानको नहीं छोड़ता, और सदा स्थिर रहता है, शान्त रहता है, दृढ़ रहता है। यह चित्तकी स्थितप्रज्ञ अवस्था है, यह उसकी समाहित अवस्था है। गीतामें कहा है कि जिसके चित्तकी अवस्था सुख-दुःखमें, मान-अपमानमें, शीत और उष्णमें तथा दूसरे द्वन्द्वोंमें सदा शान्त रहती है उसको परमात्मा नित्य समीप भासते हैं। इसलिये यही एक लक्ष्य रखना चाहिये कि मन शान्त रहे। जगत्में चाहे जो हो; जिनको अपने आत्मीय समझते हैं उनको चाहे जो हो, परंतु मनको सदा प्रसन्न रखना चाहिये। इसका नाम है 'जाग्रत्-समाधि'। सारे जगत्का नाश हो जाय, तो चित्त ऐसा है कि उसे नया बना सकता है। क्योंकि जगत् तो किसीके चित्तकी ही सृष्टि है। चित्त कर्ता है, जगत् कार्य है। कार्यकी अपेक्षा कर्ताकी कीमत अधिक है। कार्यका नाश हो जाय तो कर्ता दूसरा कार्य खड़ा कर देगा। परंतु कर्ताका नाश हो जाय तो कार्य किस प्रकारसे हो सकेगा? इसलिये जगत्में सम्पत्ति, शान्ति और आनन्दकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि प्रत्येक उपायसे चित्तको नित्य शान्त तथा क्रोध, उद्वेग और शोकसे रहित बनाये रहे।

जगत्में बड़े-से-बड़ा वह है कि जिसका मन चलायमान नहीं होता। क्रिया जो कुछ भी करो, पर करो स्वस्थ मनसे, स्वस्थ मनसे शुभ ही क्रिया होती है। जगत् रणक्षेत्र है। उसमें चित्त योद्धा है। जो चित्त जगत्के आघात और प्रलोभनोंसे अपनी जगहको छोड़कर भाग जाता है वह हारा हुआ और मारा हुआ है, और इसलिये सदा दुखी रहता है। और जो सदा अडिग, अचल और जाग्रत् रहता है वह सदा अपने समीप रहनेवाले परमात्माकी कृपासे नित्य आनन्दित रहता है। जो चित्त जगत्के आन्दोलनसे हार मानकर जड बन जाता है वह नगण्य है। इसलिये वह तो नाशको प्राप्त होता है। अतएव प्रतिदिन यह अभ्यास करो, जिससे चित्त स्वस्थ, शान्त तथा सदा प्रसन्न रहे। कायर होकर दूर न भागे और योद्धाके समान बीचमें खड़े रहकर आघातको सहता हुआ जो अडिग डटा रहे, वह शूरवीर है। जो घरमें बैठा रहता है, जो रणक्षेत्रसे डरकर भाग जाता है, वह शूरवीर नहीं। तुम युद्धका प्रसङ्ग खड़ा मत करो, युद्धका प्रसङ्ग तैयार मत करो। शूरवीर बिना कारणके युद्ध खड़ा नहीं करते, परंतु युद्ध आ पड़नेपर उसका स्वागत करते हैं। उसी प्रकार तुम भी जगत्में रहते हुए जो प्रसङ्ग आ पड़ें, उनमें धीर, शान्त और प्रसन्न चित्तसे खड़े रहकर कर्तव्य-कर्म करनेके अभ्यासी बनो। इस प्रकारका अभ्यासी काञ्चन-कामिनीके कारण स्वधर्मसे चलायमान नहीं होता, परुष वचन सुनकर क्रोध नहीं करता, अपमानसे अस्वस्थ नहीं होता, लोभसे धर्मका त्याग नहीं करता। दुःखमें उसका धैर्य और उद्यम कम नहीं होता। वह सदा उद्यमी, सदा स्वस्थ और सदा भगवान्में लीनचित्तवाला होता है।

(६६) शरीरमें अन्तःकरण ही शरीरको क्रिया करनेके लिये प्रेरित करता है और शक्ति प्रदान करता है। अन्तःकरणमें यह शक्ति निजी नहीं होती, बल्कि उसे यह शक्ति परमात्मासे मिलती है। परमात्मा कहें या आत्मा—वह सबके शरीरमें है। अन्तःकरणमें

दो शक्तियाँ है—इच्छाशक्ति और प्राणशक्ति। अन्तःकरणमें इच्छा ज्ञानके अधीन होती है। सबको सुखकी इच्छा होती है। वह सुख किस वस्तुमें है, क्या करनेसे मिलेगा, यह निश्चय करना उसके ज्ञानके अधीन है। पहले चित्त यह जानता है कि अमुक वस्तुमें सुख है। यह जानकारी उसे देखने, सुनने, बाँचने आदिसे होती है। अमुक विषयमें सुख मिलेगा यह जानकर ही वह मनसे उसका चिन्तन करता है। चिन्तन करनेसे उस वस्तुके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति उत्पन्न होनेसे उसके लिये इच्छा होती है। इच्छा होनेपर प्रयत्न होता है। प्रयत्न करते समय यदि विघ्न आते हैं तो उनका प्रयत्नके द्वारा ही नाश करता है। और जिसका नाश नहीं हो सकता उसके प्रति क्रोध होता है। क्रोध होनेपर मोह होता है। मोह होनेपर बुद्धिमें भ्रम पैदा होता है। इस कारण बुद्धि सारासार, लाभ-हानि आदिका निश्चय नहीं कर सकती। मतलब यह है कि बुद्धि अपनी जगहसे खिसक जाती है, और उस खिसकी हुई बुद्धिवालेका नाश हो जाता है। इस सारे क्रमको देखते हुए जीव जिसके संसर्गमें आकर जैसा संस्कारवाला होता है वैसा करनेकी उसकी बुद्धि होती है। इसीलिये जिसके-जिसके सम्पर्कमें इन्द्रियोंके द्वारा मन आता है वैसे-वैसे संस्कार चित्तमें जमा होते जाते हैं। अतएव जिसको जैसा होना हो, वैसा संस्कार जिससे मिले, उसके संसर्गमें आना चाहिये। मनुष्य व्यसनी होनेके पहले व्यसनीके संगमें, व्यसनसे आनन्द होता है—ऐसी बातें करनेवालोंके संगमें आता है। इन सब बातोंसे उस व्यसनके प्रति उसके मनमें प्रीति उत्पन्न होती है और उसके बाद क्रिया होती है। सारी क्रियाओंके लिये यह मिसाल है। विषयोंमें जीव रचा-पचा रहता है, इसका कारण यह है कि विषयोंमें सुख है, इस बातको बतानेवाला साहित्य वह देखता है, बाँचता है, सुनता है और जानता है। इस प्रकारके संस्कार अनन्त जन्मोंके अन्तःकरणमें भरे हैं। भोगोंमें दुःख है, जन्म-मरण हैं—आदि जानकर उनसे मनको मोड़ना, उन सारे संस्कारोंका नाश करना, उनसे विरुद्ध संस्कार जहाँसे मिलें उन्हें लेना चाहिये।

एक ओर भोग हैं, जिनसे जन्म-मरण, सुख-दुःख आदिका चक्र चालू रहता है। दूसरी ओर भोगका त्याग है, जिससे मोक्ष मिलता है। यह मोक्ष भोगके त्याग, सच्चे ज्ञानके बिना नहीं मिलता। मनुष्य जो उपवास करता है या व्रत-नियम लेकर भोग-त्याग करता है, यह थोड़े समयके लिये होता है। अन्तःकरणमें—मनके भीतर तो भोगके सुखका रसास्वाद बना ही रहता है। समय आनेपर विशेष बलपूर्वक वह भभक उठता है। जबतक भोगोंके लिये मनके अंदरसे रस नहीं चला जाता, तबतक भोगोंका त्याग नहीं होता। वह रस कब जाता है? जब कि आत्मा या परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। बालक लकड़ीके घोड़ेके उपयोगका आनन्द तभीतक मानता है जबतक वह सच्चे घोड़ेकी सवारी नहीं जान लेता। सच्चे घोड़ेका सवार होनेपर तो वह लकड़ीके घोड़ेको याद भी नहीं करता। उसी प्रकार आत्मसुखका स्वाद प्राप्त होनेपर मन भोग-सुखका त्याग कर देता है। यह आत्म-सुख सत्सङ्ग, विचार, वैराग्य और भगवान्की भक्तिके बिना कभी नहीं मिलता। इसलिये नित्य ही इनका सेवन करना चाहिये।

(६७) अन्तःकरणमें प्राण और इच्छा दोनों रहते हैं। प्राणसे क्रिया करनेमें बल मिलता है, और इच्छासे यह मालूम होता है कि वह क्रिया कैसे करनी चाहिये। यह अन्तःकरणका खोखला, जिसमें प्राण और इच्छा दोनों रहते हैं, तीन गुणोंवाला होता है—सत्त्व, रज और तम। किसी भी जीवका अन्तःकरण—चींटीसे ब्रह्मापर्यन्त सभीका इन तीनों गुणोंसे युक्त होता है। किसीमें सत्त्व अधिक होता है, रज और तम थोड़ा। किसीमें रज अधिक होता है, सत्त्व और तम थोड़ा। और किसीमें तम अधिक होता है, और रज-सत्त्व थोड़ा। परंतु प्रत्येकमें होते ये अवश्य हैं। आहार, सङ्ग और संसर्गसे ये गुण प्रवेश करते हैं। ये तीनों गुण क्या-क्या क्रिया करते हैं, और इन तीनों गुणवालेको क्या-क्या रुचता है, यह बात गीतामें कही गयी है। गुण तो ये तीनों सभीमें होते हैं परंतु जिसमें जो विशेष गुण होता है वह अपने अनुकूल क्रिया करता है। फिर इन गुणोंकी विशेषता नित्य, सब समय एक-सी नहीं होती। एक ही व्यक्तिमें कभी सत्त्व गुण विशेष झलकता है, कभी रजोगुण और कभी तमोगुण। इस चित्तको वश करनेका कोई दूसरा साधन जगत्‌में नहीं है, यह स्वतन्त्र है। यह चित्त स्वयं अपने-आप ही अपने प्रयत्नसे ही शान्त होता है। चित्तमें तीन गुण होते हैं। उनमें तमोगुणको रजोगुणसे शान्त करना चाहिये। यानी रजोगुणसे युक्त सत्कर्मों और धार्मिक क्रियाओंसे दबाना चाहिये। रजोगुणको सत्त्वगुणसे शान्त करे, और सत्त्वगुणको निर्गुणसे शान्त करे। ये सारी क्रियाएँ अपने-आपमें शान्त होती हैं—(१) सदाचारका पालन करना, (२) सत्सङ्ग करना, (३) धर्म-कर्म और भगवान्के निमित्त कर्म करना, (४) सात्त्विक आहार, सद्ग्रन्थोंका वाचन, सात्त्विक स्थानका

सेवन; एकान्तवास और सत्पुरुषोंके सहवासमें रहना, (५) भगवान्‌की भक्ति करना और भगवान्‌के अनन्यशरण होना।

विवेक, विचार, भोग-त्याग, कर्मफल-त्याग और सत्य तथा प्रिय वाणीका सेवन—इन सबको करते-करते यह चित्त भगवान्‌में लीन होता है।

(६८) दो अभ्यास बतलाता हूँ, इन दोनोंको सिद्ध करनेके लिये प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये—

१—सत्य बोलना और मीठा बोलना।

२—कभी क्रोध नहीं करना। घबराना नहीं। क्रिया जो कुछ भी करो, पर करो शान्तचित्तसे, प्रसन्न मनसे। मतलब यह कि इस प्रकार बर्तना चाहिये कि मन सदा प्रसन्न रहे, सदा शान्त रहे। प्रतिदिन ध्यान रक्खो कि मन प्रसन्न और शान्त तो है? बोलनेके पहले यह देख लो कि जो कुछ बोलते हो वह सत्य और प्रिय तो है? यह अभ्यास सहज ही नहीं सिद्ध होता है। अनेक वर्षोंके प्रयत्नसे सिद्ध होगा। परंतु इसके सिद्ध किये बिना छुटकारा नहीं। इसलिये खूब धीरज और लगनके साथ इस अभ्यासको सिद्ध करनेका यत्न करना चाहिये।

(६९) जैसा सङ्ग वैसा मन। इसलिये शान्त, सदाचारी और ज्ञानी भक्तका सङ्ग करना चाहिये। वैसा व्यक्ति न मिले तो भगवान्‌के अवतारकी कथाओंके ग्रन्थोंको बाँचना चाहिये। ज्ञान और भक्तिके ग्रन्थोंको बाँचना चाहिये। विषयवासनाको निर्मूल करनेवाली पुस्तकोंको बाँचना चाहिये। जैसा बाँचोगे वैसा ही आचरण करनेकी बुद्धि होगी। जगत्‌की अनित्यता और आत्मा—परमात्माकी नित्यताको प्रयत्न करके बुद्धिमें उतारना है। मन सुखकी इच्छामें दुःखसे भरपूर जगत्‌के भोगोंकी ओर फँसा है। उसमेंसे उसे पीछे लौटाकर परमात्मा, जो आनन्दका भण्डार है, उसमें लगाना है। इस कार्यमें समर्थन प्रदान करनेवाले पुरुषोंका सङ्ग तथा पुस्तकोंका वाचन करना चाहिये। इसके विरुद्ध दूसरे सङ्गोंका त्याग करना चाहिये।

(७०) इच्छासे जन्म-मरण है। इच्छासे देहकी प्राप्ति है। चित्त भोगकी इच्छा करता है। शरीरके बिना भोग भोगा नहीं जा सकता। इसलिये जैसे भोगकी इच्छा की जायगी उसीके अनुकूल भोग भोगनेवाले शरीरकी प्राप्ति होगी। इसलिये जीवनमें इच्छाओंको शान्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके तीन अभ्यास हैं—पहला, मनको निर्विचार, निःसङ्कल्प अवस्थामें बैठानेका अभ्यास—प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदिके द्वारा करना। यह अभ्यास स्वतन्त्र नहीं है। इस अभ्याससे उठनेके बाद मन इच्छाएँ करने लगता है। और इस अभ्यासकी विलक्षणता यह है कि इससे इच्छाको झट सिद्ध करनेकी शक्ति आ जाती है। इसलिये यह मार्ग देखनेमें तो रोचक है, पर भयङ्कर है। और स्वतन्त्ररूपसे इच्छात्याग या मोक्षकी प्राप्तिके लिये सीधा मार्ग नहीं है। दूसरा मार्ग है निष्कामभक्तिका। भगवान् जो अखिल विश्वके कर्ता, नियन्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् आदि गुणोंसे युक्त हैं, उनके निराकार या साकाररूपकी उपासना करके, उनके सिवा अन्य सारी इच्छाओंका त्याग करके, उन्हींको ही प्राप्त करनेकी इच्छासे, मनसे इसके सिवा अन्य सारी इच्छाओंके त्यागकी धीरे-धीरे चेष्टा करनी चाहिये। यह मार्ग विशेष सहज है। इसमें आनेवाले विघ्नोंको उसके उपास्यदेव नष्ट कर देते हैं। इस मार्गमें एक बार पड़ जानेवाले चित्तको उसका इष्ट अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस मार्गद्वारा चित्त इच्छारहित होकर परमपदमें प्रवेश करता है। तीसरा मार्ग है—विचारमार्ग, जिसको ज्ञानमार्ग कहते हैं। इसमें वैराग्यकी, तीव्रबुद्धिकी तथा तपकी विशेष आवश्यकता होती है। मैं वही सत्य और अविनाशीपदस्वरूप परब्रह्म हूँ, और जो कुछ है या होगा, वह सब नाशवान्, मिथ्या और मायामय है और इस कारण दुःखरूप है, इसलिये उसकी इच्छाका त्याग करके इच्छारहित मनसे निःसङ्कल्प हो रहना चाहिये। यह अभ्यास उपर्युक्त दोनोंसे भी सहज जान पड़ता है, पर है बहुत कठिन। और इस मार्गमें चलनेवाले कब लुट जायँ, कब बेहाल हो जायँ, यह बात समझमें नहीं आती। इस कालमें उत्तम-से-उत्तम यह है कि पहले और अन्तिम मार्गको गौणरूपसे यानी साधनके रूपमें उपयोग करके मध्यमार्गको मुख्यरूपमें माने, और भक्ति, ईश्वरका ध्यान और ईश्वरका ज्ञान—इन तीनोंके साथ भक्तिमार्गका साधन करे।

तुमको जो मार्ग अच्छा लगे, उसमें चलनेकी चेष्टा करो। पर करोड़ों उपाय करनेपर भी भोगकी इच्छाका त्याग किये बिना—सुखकी इच्छाको त्यागे बिना—अखण्ड शान्ति, अखण्ड आनन्द, मोक्षकी प्राप्ति होगी ही नहीं। सारे शास्त्रोंका लक्ष्य इच्छात्यागके रहस्यमें है। इच्छात्याग और मनकी शान्ति—दोनों परस्पर सम्बन्धवाले हैं, अतः साथ ही सिद्ध होते हैं। इच्छा और व्याकुलता दोनोंका त्याग किये बिना करोड़ों खर्च करनेपर भी मनको

सच्ची शान्ति या सच्चा सुख अथवा आनन्द नहीं मिलेगा।

(७१) ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं, इसे पक्का समझो। ज्ञान यानी यथार्थज्ञान। यह यथार्थज्ञान तभी होता है जब चित्त निर्मल होता है। निर्मल चित्तमें जो ज्ञान स्फुरित होता है वह यथार्थ-ज्ञान कहलाता है। फलकी इच्छाके बिना दान, तप, पुण्य, कर्म और उपासना—ये सब चित्तको निर्मल करनेके साधन हैं। चित्तको मलिन बनानेवाली तो इच्छा है। और चित्तको निर्मल बनानेवाला इच्छाका त्याग है। इच्छाके त्यागके बिना लाखों अन्य उपायोंसे चित्त निर्मल नहीं होता, और चित्तके निर्मल हुए बिना करोड़ों अन्य उपायोंसे सच्चा ज्ञान नहीं होता। सच्चा ज्ञान निर्मल चित्तमें काहे सो होता है, यह जानना चाहिये। कोई कहेंगे ज्ञान पुस्तकमें लिखा है। दुनियामें जो पुस्तकें लिखी गयी हैं, वे बुद्धिसे लिखी गयी हैं। बोलनेवाली और लिखनेवाली तो बुद्धि ही न है? और वह बुद्धि जड है न? परंतु वह बुद्धि भगवत्स्वरूप आत्माके पास रहकर उसके द्वारा ही सब कुछ जानती है। आत्मा ज्ञानका खजाना है, ज्ञानस्वरूप है। आत्मासे अखिल जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता । इस आत्मासे ही ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रकार निर्मल शीशा वस्तुको यथार्थरूपमें दिखला देता है उसी प्रकार निर्मल चित्तमें आत्मा यथार्थतः प्रकाशित होता है। आत्मा कल्पवृक्ष है, आत्मा चिन्तामणि है, आत्मा कामधेनु है। निर्मल चित्तमें जो-जो कल्पनाएँ होती हैं उन्हें आत्मा सिद्ध कर देता है। परंतु उसी निर्मल चित्तसे कामनाओंको सिद्ध करने जाते ही, इच्छाओंके खड़े होते ही चित्तकी निर्मलता मिट जाती है, वह मलिन हो जाता है, और उसकी शक्ति नाश हो जाती है। इसलिये शुद्ध चित्तमें इच्छाओंको उठने न देना और शुद्ध चित्तको आत्माके समीप रखना बन पड़े तो यथार्थज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है, और उस ज्ञानके उद्भवके साथ ही मुक्ति प्राप्त होती है।

ज्ञान दो प्रकारका है। एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। निर्मल चित्तवालेको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वह जगत्को और अपनेको यथार्थरूपमें समझता है। समस्त कामनाओंका त्याग करके या तो भगवान्की उपासना करनेसे या ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी सेवासे ज्ञान प्राप्त होता है। सद्गुरुकी सेवा करनेसे गुरु महाराज प्रत्यक्ष बोध प्रदान करते हैं। इन दोनों उपासनाओंके सिवा तीसरा मार्ग नहीं है। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। गुरुकी उपासना भी परमात्माके ही रूपमें करनी पड़ती है। गुरुके हाड़-मांसके शरीरमें रहनेवाले चैतन्यदेवकी ही उपासना करनी पड़ती है। भगवान्में भी मूर्ति रहनेवाले चैतन्यदेवकी ही उपासना करनी पड़ती है। आपाततः रीति कुछ जुदी है। इन दोनोंमें निष्काम सेवा करनेवालेको, अथवा मोक्षकी इच्छासे सेवा करनेवालेको अपने आत्मामें ही काल-क्रमसे ज्ञान स्फुरित होता है। उसे ऐसा मालूम होता है कि कोई भीतरसे कह रहा है। इस प्रकारसे उपासना करनेवालोंको उपास्यदेव बलात् शुद्ध ज्ञान प्रदान कर मुक्ति देता है। इसलिये जो कुछ कर्म या उपासना, दान-पुण्य, भजन-कीर्तन या तप आदि करे, वह फलकी इच्छासे रहित भगवान्की प्राप्ति या मुक्तिकी प्राप्तिके निमित्त करे। ऐसा करते रहनेपर काल-क्रमसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी। किया हुआ कार्य असफल नहीं होता। निष्काम उपासना अवश्य ही मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये करनेमें लग जाओ और धीरज धरकर प्रयत्न तथा लगनसे उसीमें लगे रहो।

(७२) अप्रसन्न चित्त होते ही बुद्धि अपनी जगहसे खिसक जाती है। भ्रमित हो जाती है। बुद्धि अपने सन्तुलनको खो देती है। सारासारका विचार नहीं रह जाता। न बोलने योग्य बातें बोल बैठता है, न करने योग्य काम कर बैठता है। यह सब अप्रसन्न चित्तसे होता है, तो फिर चित्तको सदा प्रसन्न कैसे रक्खा जाय? चित्तको अप्रसन्न करनेवाले मनुष्य मिलेंगे ही, ऐसे प्रसङ्ग आवेंगे ही, चित्त अप्रसन्न हो ऐसी बातें होंगी ही। चित्तको अप्रसन्न करनेवाले संयोग किसीको न प्राप्त हुए हों, क्या ऐसा कहीं हुआ है! शीत-घाम, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मरण, जरा और व्याधि, सबका आना-जाना होगा ही। इन द्वन्द्वोंके बीच चित्त किस प्रकार प्रसन्न रह सकता है? इसीके लिये शास्त्रोंका अभ्यास और सत्सङ्ग है। इतना ही जाननेके लिये है। शास्त्र और संत कहते हैं कि अनुकूल और प्रतिकूल तो होते ही रहेंगे। पर उन सबसे तुम असङ्ग हो। तुम आत्मा हो। उनका तुमपर कोई असर नहीं है, उनका असर तो शरीरपर है। तुम तो नित्य-मुक्त, शुद्ध-बुद्ध, निर्मल आत्मा हो, अविनाशी हो, निर्विकार हो। चित्तमें यह ज्ञान जिस परिमाणमें बसेगा उसी परिमाणमें चित्तमें प्रसन्नता रहेगी। आत्मज्ञानके बिना चित्तमें नित्य प्रसन्नता रहती ही नहीं। गीता और सांख्यदर्शन तथा दूसरे शास्त्र बतलाते हैं कि 'मैं असङ्ग हूँ, आत्मा हूँ'—यह दृढ़ निश्चय किये बिना सच्ची प्रसन्नता, शान्ति और आनन्दकी आशा करना व्यर्थ है।

(७३) विचारसागर या पञ्चीकरण घोखकर बोलनेसे कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। अथवा वेदान्तकी पुस्तकोंको बाचकर कण्ठाग्र करके बोलनेसे कोई ज्ञानी नहीं बन सकता। इस लोक या परलोककी कोई भी कामना जिसके चित्तको आकर्षित नहीं कर सकती, वही ज्ञानी है। जिसका चित्त कामनारहित होनेके कारण निर्मल और शान्त है, जिसकी सारी आशा-तृष्णा शान्त हो गयी है; वह ज्ञानी है। ज्ञानीमें मान नहीं होता, दम्भ नहीं होता, उसमें अहिंसा, क्षमा, सरलता सदा रहती है, गुरुजनकी उपासना होती है, पवित्रता होती है, स्थिरचित्त होता है, मनोनिग्रह होता है, इन्द्रियोंके भोगोंके प्रति वैराग्य होता है, अहङ्कारका अभाव होता है, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिके कारण शरीरमें और संसारमें जो दुःख और दोषोंको बारंबार देखता है, पुत्र-स्त्री और घर आदिमें जिसकी आसक्ति नहीं है, अच्छे और बुरे संयोगोंमें जिसका चित्त स्थिर और शान्त रहता है, भगवान्‌में निष्काम भक्ति होती है, एकान्त सेवन होता है, जनसमुदायमें जिसे प्रीति नहीं होती है, जिसमें आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान वास करता है, ऐसे ज्ञानीके लक्षण गीताके तेरहवें अध्यायमें कहे गये हैं। इनको साधक अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करे। चित्तके भोगमें आकर्षणका ही नाम जन्म-मरण है, और चित्तको परमात्मामें लीन करनेका नाम मोक्ष है। इसलिये प्रत्येक उपायसे चित्तको भोगसे खींचकर परमात्मामें लगाओ। इस अभ्याससे सच्ची शान्ति, सुख, आनन्द और मुक्तिकी प्राप्ति होगी।

(७४) अब चित्तके शान्त होनेका उपाय बतलाता हूँ। जहाँ प्राकृतिक वातावरण हो, जहाँ बैठकर महापुरुषोंने तप किया हो, ऐसे नदी, तालाब, सरोवर, समुद्र, पर्वत आदिके समीप तीर्थस्थानोंमें जाना चाहिये। वहाँ जानेपर वहाँके उपद्रवरहित वातावरणसे चित्तमें शान्ति आयेगी। वहाँ जाकर भी खाने-पीने और भोग-विलासमें समय नहीं लगाना चाहिये। वहाँ जाकर दान-पुण्य, सत्सङ्ग, भगवन्नामका जप आदि करे। भोगका त्याग करे। ब्रह्मचर्यका पालन करे। भारी भोजन न करे। हो सके तो फलाहार या एक वक्त भोजन करे। इस प्रकारका किया हुआ तीर्थसेवन मनको शान्त करके मोक्षके मार्गमें ले जाता है।

दूसरे, किसी-न-किसी इष्टदेवकी उपासना करे। बेकार समयमें, घूमते-फिरते और काम करते सदा इष्टदेवके नामका जप करे और प्रतिदिन नियमित बैठकर भी करे। भगवत्कथाका श्रवण करे, कीर्तन करे। भगवान्‌की मूर्तिका प्रेमसे दर्शन करे। प्राणिमात्रके प्रति प्रीति और दया रक्खे। भगवान्‌के मन्दिरको झाड़ना-बुहारना, साफ-सुथरा रखना, हो सके और शक्ति हो तो नया मन्दिर बनवाना, पुरानेकी मरम्मत कराना। यदि यह न हो सके तो दूसरे जो ऐसा काम करते हों उसमें सहायता करना। ऐसा काम करना कि जिससे प्राणिमात्रको सुख पहुँचे। दूसरे करते हों उसमें मदद करना। जिसका सम्पर्क हो प्रसन्न चित्तसे उसके साथ काम करे, हँसकर अलग हो, किसीको धोखा न दे। किसीका कुछ ले नहीं। मीठी और सत्यवाणी बोले। सबको या तो भगवत्स्वरूप जाने या आत्मस्वरूप। किसीका तिरस्कार न करे, किसीका अपमान न करे। जो बन पड़े, सो दे डाले। जितनी बन पड़े, भलाई करे। काम-धंधा अपने धर्मानुसार करता रहे और भगवान्‌का भजन करता रहे। देव, ब्राह्मण, गाय, गुरु, पूज्यजन, रोगी, बालक और आश्रित लोगोंका सम्मान करे और उनको सन्तोष दे। गुणोंको अपनेमें उतारे। सद्गुणसे सुख होता है और दुर्गुणसे दुःख होता है। चित्तकी शान्ति ही सुख है। चित्तकी अशान्ति ही दुःख है। इसलिये प्रत्येक उपायसे अपने दुर्गुणको निकालकर सद्गुणको धारण करे। इसीसे सच्ची शान्ति होगी।

(७५) शास्त्र, पुराण तथा वैसे ही दूसरे धार्मिक ग्रन्थ या इतिहास बाँचे। उनमें लिखी बातें सच्ची हैं या झूठी, इसका विचार और चर्चा करने न बैठे। केवल उनका सार ग्रहण करे। उनमें जो लम्बा वर्णन लिखा है सो सार समझानेके लिये ही। कुछ बातें तो ऐसी होती हैं जो सच्ची नहीं जान पड़तीं। कितनी ही बातें ऐसी होती हैं जिनसे देवताओंमें अश्रद्धा उत्पन्न होती है। तुमको तो इन सबमें इतना ही जानना है कि ऐसे-ऐसे सामर्थ्यवाले और तपके भण्डार देवता तथा देवता-जैसे दूसरे लोग भी चले गये तो मेरी क्या गिनती है? जिसने जन्म लिया है वह तो मरेगा ही। जो माया है वह अदृश्य होगी ही। जिसका संयोग है उसका वियोग होना ही है। यह सब तो होता ही रहेगा। सब ही निर्मित है। सिनेमाका फिल्म जिस प्रकार निश्चित है और पर्देके ऊपर कुछ नहीं होनेपर भी उसमें नदी, जंगल, पहाड़, शहर और प्राणिमात्र दिखलायी पड़ते हैं, बोलते, चलते-फिरते और काम करते दीख पड़ते हैं, वे सब जिस प्रकार असत्य हैं और वहाँ सफेद पर्देके सिवा सच्चा कुछ भी नहीं है; उसी प्रकार यह जगत् परमात्मारूपी पर्देके ऊपर चेष्टा

करता दीख पड़ता है, पर वह मिथ्या है। नाशवान् है। वास्तविक तो परमात्मा है। जगत् जो दीख पड़ता है वह तो दीखता ही रहेगा। वह रुकेगा नहीं; सदा चलता ही रहेगा। सब निश्चित है। जो कुछ होनेवाला है सब निश्चित है। इसलिये मनको शान्त कर, भटकना छोड़कर देखा करो कि 'मैं आत्मा हूँ; जगत्से असङ्ग हूँ; परमात्माका अंश या तद्रूप हूँ।' इसका अभ्यास करते हुए सदा आनन्दमें रहनेका अभ्यास करो।

वेदोंके चार तत्त्व

(लेखक—श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी डाँगी)

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसके निर्माणद्वारा मानव-समाजपर अनुपम उपकार किये हैं। यों तो उनका कहना है कि 'मैंने यह रघुनाथ-गाथा 'स्वान्तः-सुखाय' प्रकट की है। परंतु उनके 'स्वान्तः' को सम्पूर्ण भारतवर्षका हृदय ही समझना चाहिये। जब हमारे देशके निवासी वेदके तत्त्वोंको भूल गये थे और घोर कलिकालके वशमें होकर दुराचारपरायण हो रहे थे, तब उन्होंने हमको राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नका मूर्तिमान् स्वरूप बतलाकर वेदोंके चारों तत्त्वोंका संरक्षण किया।

बालकाण्डमें ज्ञानी मुनियोंके द्वारा दशरथजीके प्रति जो वचन कहे गये हैं वे हमारे कथनको प्रमाणित करते हैं।

धरे नाम गुरु हृदय बिचारी। बेद-तत्त्व नृप तव सुत चारी॥

अर्थात् गुरु महाराज वशिष्ठजीने मनमें अच्छी तरहसे विचार करके ही चारों नाम रक्खे हैं। हे राजन्! तुम्हारे चारों ही पुत्र वेदोंके चार तत्त्व मूर्तिमान् स्वरूप धारण करके आये हैं। अब हमें विचार करना है कि ज्ञानी मुनियोंके इन वचनोंमें किस प्रकार परम सत्य भरा हुआ है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और कर्म—ये चारों ही वेदतत्त्व हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र ज्ञानस्वरूप हैं, जिनके दिव्य प्रकाशमें सब तत्त्व अपना-अपना कार्य ठीक तरहसे कर सकते हैं। क्योंकि वे परमकुशला कौसल्याके सुपुत्र हैं। परम श्रेष्ठ मैत्रीकी आदर्शरूपिणी नारी महारानी सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्नके रूपमें भक्तितत्त्व और कर्मतत्त्वको उत्पन्न किया है। भरतजी वैराग्यके जाज्वल्यमान प्रतीक हैं। आलस्य ही हमारा शत्रु है। जिसका नाश करनेवाले कर्मतत्त्वरूप शत्रुघ्न इन वैराग्य-स्वरूप भरतजीके अनुशासनमें ही रहते हैं, तथा हमारा भरण-पोषण और संरक्षण होता है। अगर हमारा कर्म वैराग्यके साथ न रहे तो वह शैतानका कर्म है। और वैराग्यमें कर्मको अपने साथ नहीं रक्खा तो वह हैवानोंका वैराग्य है। परंतु भरत-शत्रुघ्न निरन्तर साथ हैं। इसलिये वे मानवताकी स्थापनामें सफल हो सके।

लक्ष्मणजी उपासना-भक्तिके आदर्श प्रतीक हैं। वह उपासना-भक्ति ज्ञानस्वरूप भगवान्का क्षणभर भी साथ नहीं छोड़ती। इसीलिये मानवताका संरक्षण हो सका। ज्ञानहीन भक्ति हैवानियत है और भक्तिहीन ज्ञान शैतानियत है। हमारे राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न इस विश्वके विचित्र चित्रकूटपर जब एक साथ मिलते हैं, तब मानवता अपने सम्पूर्णरूपमें प्रस्फुटित होती है। और वहींपर ज्ञान भक्तिरूप राम-लक्ष्मणको अपने हृदयमें बसाकर जब भरतजी वैराग्यपूर्ण कर्मकी घोषणा करते हैं तभी अयोध्याके राज्य चलानेमें समर्थ होते हैं। उसी प्रकार ज्ञान-भक्तिस्वरूप राम-लक्ष्मण वैराग्य-कर्मरूप भरत-शत्रुघ्नको अपने दिलमें मजबूत कर लेते हैं। तभी वे सफलतापूर्वक राक्षसोंका संहार कर सकते हैं। अगर ज्ञान और भक्तिमें वैराग्यपूर्ण कर्मका मिश्रण नहीं हो तो मङ्गलकार्य अधूरा ही रहेगा।

यों तो इन चारों तत्त्वोंको हम अलग-अलग कह सकते हैं, पर सचमुच इन्हें हम अलग-अलग कर नहीं सकते। क्योंकि वे अलग-अलग रह नहीं सकते। मिठाई खायी तो उसके रंगरूप, उसके वजन, उसकी लम्बाई-चौड़ाई और उसकी सुगन्ध-मधुरता ये सब अलग-अलग कहे जानेपर भी पेटमें एक साथ पहुँच जाते हैं। यह कैसे हो सकता है कि मिठाईका रंगरूप तो खा लिया जाय और उसका वज़न रहने दें। उसके सुगन्ध-माधुर्यका तो उपभोग ले लिया जाय और उसकी लम्बाई-चौड़ाई छोड़ दें। इसीलिये भगवान्ने कहा है कि मैं सूर्यवंशमें अपने सम्पूर्ण अंशोंके साथ मनुष्यावतार धारण करूँगा। हमने देखा कि ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और कर्म ये वेदोंके चारों तत्त्व ही भारतवर्षको सगुण साकाररूपमें प्राप्त हो गये। जहाँ

निर्मल ज्ञान होगा, शुद्ध भक्ति वहाँ अवश्यम्भावी है। और उसी प्रकार जहाँ शुद्ध वैराग्य होगा वहाँ शुद्ध कर्म जरूर ही होगा। वैराग्यमें कर्म नहीं छूटता। कर्मका राग छूटता है। उसी प्रकार ज्ञानमें भक्ति नहीं छूटती, भक्तिका दम्भ छूटता है।

आइये, हम सब वेदोंके इन चारों तत्त्वोंको एक साथ जीवनमें उतारकर दशरथजीके चारों पुत्रोंकी सच्ची आराधना-साधना करें जिससे कि हमारे देशमें सच्चा रामराज्य आ जाय। हम आज नाम तो रामका लेते हैं और काम हरामका करते हैं। आज हमारा शत्रुघ्न भरतके अनुशासनमें नहीं चलता। आज हमारा लक्ष्मण रामको भूल गया है। इसीलिये कहींपर भी सीताके दर्शन नहीं होते। सीताके समान शान्ति हमें तभी मिलेगी जब हमारी भक्ति और कर्म ज्ञान-वैराग्यके अनुशासनमें रहेंगे। और हमारे ज्ञान-वैराग्य भक्ति-कर्मको अपने साथ बनाये रक्खेंगे। ईश्वर करे! हम अपने अन्तःकरणचतुष्टयको वेदोंके इन चारों तत्त्वोंसे परिपूर्ण बना लें जिससे कि हमारा मन रामकी ओर लक्ष्य करके सच्चा लक्ष्मण बने और हमारी बुद्धि तरह-तरहके विकृत प्रलोभनोंमें न फँसकर भरतके समान वैराग्यकी ओर बढ़े। हमारा चित्त रामके प्रकाशसे प्रकाशित होकर सच्चा ज्ञान प्राप्त करे और हमारा अहङ्कार शत्रुघ्न बनकर अपनी सेवाओंको सबके लिये समर्पित करे। तभी हम सब तरहसे स्वस्थ, सुखी और शान्त बन सकेंगे। दुनियामें शान्तिस्थापनाका सामर्थ्य वेदोंके इन चार तत्त्वोंकी प्रतिष्ठामें ही सन्निहित है जिसको हमें प्रयत्नपूर्वक जाग्रत् करना पड़ेगा।

रासलीलाका रहस्य

(लेखक—श्रीहबुबुर रहमान साहब)

कितने आश्चर्यकी बात है कि जो भारत-भूमि ब्रह्मविद्याका स्रोत और वेदान्तादि शास्त्रोंकी आदिप्रकाशिका है, जहाँ व्यास और पतञ्जलि-जैसे अध्यात्मवादी महात्मा सूर्य बनकर ऐसे चमके कि उनकी किरणोंकी दीप्तिसे अन्धकार-युक्त हृदयपटल भी जगमगा उठे, जहाँकी गीता कर्म करते हुए भी फलबद्ध न होनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रही है, वहींके कुछ 'भारतीय नामधारी' लोग आज विदेशी वातावरणसे प्रभावित होकर महाराज श्रीकृष्णकी रासलीलाको भी विवादग्रस्त समझने लगे हैं! मुझे इस लीलाके किसी विशिष्टरूपमें मानने या न माननेसे कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। मेरा ध्यान तो इस ओर केवल इस कारण आकृष्ट हुआ कि यदि इस प्रकारके आध्यात्मिक महत्त्वपूर्ण चमत्कारोंको केवल बाह्यदृष्टिके आधारपर 'प्राचीन रूढिवाद' या असम्भव कहकर ठुकरा दिया जाय, तो सारा अध्यात्मवाद (Spiritualism) और अनासक्तियोग ही समाप्त हो जाता है और यह प्रत्यक्षकृत निश्चित सिद्धान्त है कि बिना आध्यात्मिक आश्रय या अद्वैतानुसारिणी समताके समाजमें पारस्परिक, पूर्ण और अखण्डित सहानुभूति नहीं पैदा हो सकती और बिना इस 'अकृत्रिम सहानुभूति'के किसी भी नैतिक शैलीका अवलम्बन संसारयात्राके लिये कल्याणप्रद नहीं हो सकता, अतः न केवल अध्यात्मवादकी 'रक्षा', अपितु संसार-यात्राको 'सुखप्रद' बनानेके लिये, नैतिक दृष्टिसे भी इस विषयपर ध्यान देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है और केवल मेरा ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्रेम और भक्ति-मार्गी तत्त्वान्वेषीका कर्तव्य है कि वह उक्त लीलाकी आध्यात्मिकता स्फुट करनेका प्रयत्न करे। अतः हिंदुस्तानके प्रसिद्ध अध्यात्मवाद या सूफ़ीमतके प्रेमी और नीति-धुरन्धरोंकी सेवामें भी निम्नस्थ विचारावलीका अर्पण करना अयोग्य न होगा।

संस्कृत भाषामें उपमा और रूपकादि अलङ्कारोंकी अधिकता होनेके कारण किसी हदतक यह कहनेका अवसर अवश्य हो सकता है कि 'रासलीलाके श्रीकृष्ण और गोपियोंका अर्थ मनुष्य और उसकी वासनाएँ हैं, जो उसे तरह-तरहके नाच नचाया करती हैं इत्यादि...........।' इस प्रकारकी भाव-परिवृत्ति या खींचातानीसे जिन लोगोंको शान्ति हो जाती है, वे शान्त रहें; मुझे उनसे कोई सम्बन्ध नहीं; परंतु मेरे विचारमें यह प्रकरण-विरोधी व्याख्या उस जन-समुदायके लिये पर्याप्त नहीं है, जो अन्तर्निलीन भावान्वेषी और मार्मिक वस्तुका अभिलाषी है और जो व्यासजीके सीधे-सादे शब्दोंसे हटना नहीं चाहता और न इसीको माननेके लिये तैयार है कि व्यास भगवान् 'काल्पनिक कथाओंके रूप'में अपना उपदेश किया करते थे तथा जिनकी धारणा

है कि इस लीलामें यदि मनुष्यके लिये कोई महत्त्वपूर्ण विशेष उपदेश अन्तर्हित नहीं है, तो यह चीज श्रीकृष्ण-जैसे योगिराजके साथ सम्बद्ध ही कैसे हो गयी ? और न केवल उनसे सम्बद्ध हुई, प्रत्युत अबतक श्रद्धाकी दृष्टिसे देखी जाती है। इसके अतिरिक्त न केवल मेरे अपितु समस्त सहृदय संसारके अन्तस्तलमें यह अटल धारणा अङ्कित है कि कर्मकाण्ड या प्रवृत्तिमार्गके अतिरिक्त ईश्वरप्राप्तिका एक असाधारण मार्ग—भक्ति या प्रेम अर्थात् 'इश्क़ी रास्ता' भी है जिसके अग्रसर वल्लभ, तुलसी और सूर इत्यादिके चित्ताकर्षक चरित्र अबतक लोगोंके हृदयोंपर अलौकिक राज्य कर रहे हैं। अतः मैं हज़रत, मिश्रीमज़हर, जानजाना साहिबके निम्नलिखित सिद्धान्तानुसार मुस्लिम जनताके सामने भी स्वतन्त्रतापूर्वक उन्हींके शब्दोंमें कह सकता हूँ कि—'समस्त मार्गोंके जानकार होनेपर भी कृष्णजीकी अपनी प्रधान पद्धति मन्दिर और मस्जिदसे 'अलग' केवल 'प्रेम-पद्धति' ही थी, इस कारण प्रेम-मार्गिक असाधारण भक्तिकी अलौकिक आकर्षण-शक्ति और उसके अनिवार्य चमत्कारोंपर ध्यान देनेके पश्चात् मेरा पूर्णप्राय विचार है कि यदि वास्तविक गोपियाँ ही अपने अलौकिक प्रेमद्वारा श्रीकृष्णपर मोहित होकर रासलीलाका कारण हुई हों, तो भी किसी वादीके विवादका कोई अवसर नहीं हो सकता।'

इस संक्षिप्त भूमिकाके पश्चात् निवेदन है कि महाराज श्रीकृष्ण योगिराज थे, इस कारण उनकी 'रासलीला'का 'रहस्य' जाननेके लिये यौगिक ज्ञानसे परिचित होनेकी आवश्यकता है। इस सम्बन्धमें मुझे केवल यह कहना है कि इस बातको सभी सहृदयजन जानते हैं कि मनुष्य 'वैयक्तिक' और 'सामष्टिक' दोनों दृष्टियोंका स्रोत है और यही कारण है कि इसके आचरण और सङ्कल्पोंमें भी इन दोनों दृष्टियोंकी पूरी झलक दिखायी देती है। कौन नहीं जानता कि जब मनुष्यपर वैयक्तिकता या अत्यन्त स्वार्थपरताका भूत सवार हो जाता है, तब अपने लाभके लिये उस पुत्रतकके प्राणान्तके लिये तैयार हो जाता है, जिसे उसने अपना ही रक्त और पसीना एक करके स्वयं ही पाला और पोसा था। इसके विपरीत कभी दूध पीते, किसी दूसरेके भी बुभुक्षित और तृषित बालकको दुःखसे बिलबिलाता देख, उसी मनुष्यका हृदय विदीर्ण हो जाता है। 'उसकी भूख' 'इसकी भूख' और 'उसकी प्यास' 'इसकी प्यास' हो जाती है। और इस समानता और ऐक्यके उमड़े हुए स्रोतमें वैयक्तिक भित्तियाँ कम्पायमान और स्खलितप्राय हो जाती हैं; यहाँतक कि वही अपने पुत्रके प्राणान्तका इच्छुक मनुष्य, उस विपत्तिग्रस्त दुःखित बालकके सुखके लिये, उस द्रव्यके व्यय करनेमें भी कोई कमी नहीं करता, जिसके लिये स्वयं अपने ही अंश-स्वरूप पुत्रसे लड़नेके लिये तैयार हो गया था। सारांश यह कि अपनेको 'अन्य' मानकर दुत्कारने और अन्यको अपना समझकर गले लगानेकी लालसा मानुषी प्रकृतिमें विद्यमान है। स्फुट है कि इनमेंसे पहलीका 'स्रोत' वैयक्तिक दृष्टि या स्वार्थपरता है और दूसरेका 'आधार' वह सर्वव्यापी आन्तरिक 'अहंभाव' का 'अन्तर्निहित ज्ञान' है, जिसकी प्रेरणासे मनुष्य समय-समयपर दूसरोंपर बलि-प्रदान होता हुआ दिखायी देता है। बस, इन दोनों दृष्टियोंमेंसे सामान्यजन तो पहलीहीको अभीष्ट समझकर उसीपर टिक जाते हैं, परंतु योगी या सूफ़ी इस स्वप्नवत् वैयक्तिकतासे उन्नत हो जाता है और उस जाग्रत् अवस्थाका अनुभव करता है जहाँ यह वैयक्तिकता आत्मस्वरूपमें लय होकर अलक्षित हो जाती है। इस सारे लेखका अभिप्राय यह है कि योगी या वलीकी स्थिति सामान्य धार्मिकोंसे भिन्न हो जाती है। गीता भी कहती है—'सर्वत्र समदर्शी योगी सर्वभूतोंमें अपनेको और अपनेमें सर्वभूतोंको स्थित देखता है' इत्यादि। गीताका यह और दूसरे श्लोक स्पष्ट रीतिसे स्फुट कर देते हैं कि योगकी अवस्था सर्वसाधारणसे प्रतिकूल हो जाती है। इस अवस्था-विशेषके विवरणके अनन्तर, अब मैं रासलीलाकी शाब्दिक और मर्मस्पर्शी विवेचनाको भी आवश्यक समझता हूँ, जिससे हिंदू-शास्त्रानुसार उसका वास्तविक अर्थ श्रीकृष्णभक्तोंके सामने स्फुट हो जाय। इस सम्बन्धमें निवेदन है कि हमारे भ्रातृगणोंका अपने धार्मिक ग्रन्थोंके आधारपर यह सिद्धान्त है कि उक्त लीलाके दर्शन, पठन और श्रवणादिसे निर्वाण अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा उनका प्राचीन साहित्य यह भी उपदेश करता है कि मोक्ष वस्तुतः काल्पनिक—सांसारिक प्रपञ्चसे छूटकर ब्रह्ममें लीन हो जानेका नाम है और उसकी प्राप्ति ब्रह्मज्ञानके विना सम्भव नहीं। इन विचारोंके अस्तित्वमें प्रत्येक तत्त्वान्वेषीका कर्तव्य है कि वह रासलीलाके ऐसे 'अर्थ' की अन्वेषणा करे जिसमें उपर्युक्त मोक्षादि विचारोंके साथ-साथ चलनेकी पूरी सामर्थ्य और योग्यता विद्यमान हों। इस कार्यके लिये सबसे प्रथम अवतारवादके सिद्धान्तपर ध्यान

१. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६। २९)

देनेकी आवश्यकता है। अतः संक्षेपतः निवेदन है कि प्राचीन आर्य-तत्त्वान्वेषियोंने ईश्वरावतारको निम्नरीतिसे समझा है—

उस जगदाधार ब्रह्मकी शक्तियाँ जड़ और चेतन हर एकमें अपना प्रकाश करती हैं; इनकी पारस्परिक मात्रा या न्यूनाधिक्य समझनेके लिये इनकी सोलह कलाएँ (दर्जे) मानी गयी हैं; इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि इस लौकिक सृष्टिमें ईश्वरीय कलाओंमेंसे एकसे लेकर आठतक ही सामान्य जनोंमें प्रकट हो सकती हैं। इसके पश्चात् अवतारकी भूमि आ जाती है, जहाँपर सामान्य जीवकी पहुँच नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि नवींसे लेकर सोलहवींतक जितनी भी कलाएँ किसी पुनीत सत्तामें आविर्भूत होती हैं उसको पारिभाषिक भाषामें अवतार, ईश्वर या ब्रह्मांश कहा जाता है। अवतारकी इस विवेचना और रासलीलाकी उपर्युक्त मोक्षसम्बन्धी अन्वेषणाका ध्यान रखते हुए इस लीलाकी शाब्दिक समीक्षा निम्नरीतिसे होनी चाहिये—

'रास-लीला' शब्द मिश्रित है रास और लीलासे, पहला शब्द 'रास' रस शब्दसे 'तस्येदम्' सूत्रसे 'इदमर्थ'में 'अण्' प्रत्यय करनेसे बनता है और तैत्तिरीय उपनिषद्के वाक्य—'रस ब्रह्म है'[1] के अनुसार 'रस' शब्दका अर्थ 'ब्रह्म' है; अतः रास शब्दका अर्थ हुआ ब्रह्मका 'पूर्णकलात्मक औपाधिक प्रादुर्भाव' और यह प्रादुर्भाव प्रधानतया महाराज श्रीकृष्णहीमें विद्यमान था; इसी कारण रास शब्दका वास्तविक 'अर्थ' औपाधिक पूर्ण ब्रह्म अर्थात् महाराज श्रीकृष्ण ही हैं। अब उस शब्दके द्वितीय अंश 'लीला' शब्दपर ध्यान दीजिये, 'लीला' शब्द भी 'ली' और 'ला' से मिश्रित है। 'ली' धातुका अर्थ 'लय' होना और 'ला' का अर्थ है 'लेना'। दोनों शब्दोंका पूर्ण अर्थ—'लियं लातीति लीला' अर्थात् तन्मयता या तद्रूपता प्राप्त करानेवाली 'क्रिया-विशेष' हुआ और 'रासलीला' शब्दका प्रसङ्गयुक्त अर्थ हुआ पूर्णावतार महाराज श्रीकृष्णमें लय करानेवाली क्रिया अथवा 'योगात्मक चमत्कारविशेष'। सारांश यह कि इसी रासलीलाके द्वारा लीलात्मक-कृष्ण-रूपधारी ब्रह्मने व्रजाङ्गनाओंको आत्मस्वरूपमें लय करके परमपदतक पहुँचा दिया।

गोपियाँ श्रीकृष्णचन्द्रमें ध्यानावस्थित होकर तल्लीनतातक कैसे पहुँचीं, इसका विवरण निम्नलेखानुसार है—

पुराणग्रन्थोंके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका प्रेम उच्चकोटिक पूर्णासक्ति या प्रेमकी अन्तिम अवस्थातक पहुँच गया था और इस अवस्थाका अनिवार्य परिणाम यह है कि प्रेमीका चित्त प्रियतमके अतिरिक्त अन्य समस्त सांसारिक वासनाओं (चित्तवृत्तियों) से शून्य होकर सर्वथा उसीमें समा जाय; क्योंकि पूर्णासक्तिका अभिप्राय ही यह है कि प्रेमीके चित्तमें अपने अभीष्टकी प्राप्तिके लिये पूर्ण अभिलाषा अर्थात् आकाङ्क्षा उत्पन्न हो जाय और आकाङ्क्षा उस समयतक पूर्ण नहीं कही जा सकती, जबतक कि चित्त पूर्णरूपसे एकाग्र होकर अपनी सम्पूर्ण ध्यान-शक्ति केवल एक ही ध्येयमें न लगा दे; और जब चित्तका पूर्ण ध्यान एक ही ध्येयमें लग गया, तब फिर उसमें उस प्रियतमके अतिरिक्त और किसी पदार्थका स्थान ही कहाँ रह गया? अतः यह नितान्त सत्य है कि पूर्णानुरागमें प्रेमीका चित्त प्रियतमके अतिरिक्त समस्त सांसारिक वृत्तियोंसे सर्वथा शून्य हो जाता है। महामना भवभूति भी मालतीके विरहमें माधवकी अवस्थाको चित्रित करते हुए तन्मयताहीका दृश्य प्रदर्शित कर रहे हैं—

'मैं[1] उस (मालती) को इधर-उधर, आगे-पीछे, भीतर-बाहर और चारों ओर देख रहा हूँ, उस अवस्थामें जब कि विकसित मुग्ध स्वर्ण-कमलके सदृश उसके आनन्दमें स्थित आँखें मेरी आसक्तिवश (मुझे देखनेके लिये) तिरछी हो गयी थीं।'

और यही भाव अरबीके इस[2] वाक्यका है कि पूर्णासक्ति एक देदीप्यमान अग्नि है, जो प्रियतमके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थोंको भस्म कर देती है।

योगदर्शन भी कहता है कि जिस[3] तरह बिल्लौर मणि अपने समीप स्थित वस्तुसे प्रभावित होकर उसीके रंग-रूपमें रँग जाती है, उसी तरह वह चित्त, जो संसार और तद्गत-पदार्थोंसे शून्य होकर स्वच्छ हो जाता है, जिस वस्तुकी ओर ध्यान देता है उसीके रूपमें ढल जाता है। फ़ारसी-साहित्यमें भी इसी अवस्थाका चित्र चित्रित है—'जब[4] मैं सिरसे पैरतक तेरी अभिलाषामें खुद ही व्यय हो गया, तब कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहा जिसकी अभिलाषा करूँ।'

१. रसो वै सः।

१. पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चा-
दन्तर्बहिः परित एव विवर्तमानाम्।
उद्बुद्धमुग्धकनकाब्जनिभं वहन्ती-
मासक्तितिर्यगपवर्तितदृष्टि वक्त्रम्॥

२. अलइश्को नारुन्, यहरूको मासिवल्महबूब।

३. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। (१। ४१)

४. चूँ मनज़े सरतापाय ख़ुद सरफ़े तमन्नायत
शुदम् हेचम् नमांदा ताजनम् हर्फ़े तमन्नाये दिगर।

इस पूर्ण एकाग्रता या सामाधिक संसारमें जब प्रियतम और प्रेमीके बीचका पर्दा उठ जाता है, तब प्रेमी 'वह प्रेमी' और प्रियतम 'वह प्रियतम' नहीं रहता। उस समयकी अवस्था वाक्‌शक्तिसे परे हो जाती है। उर्दू-साहित्यकी भावना भी इस सम्बन्धमें अपना यही विचार प्रदर्शित कर रही है—

'कहूँ क्या कि ख़िलवते ख़ासमें जो हिजाब बीचसे उठ गया।
न वह तुम रहे, न वह हम रहे, जो रही सो बेख़बरी रही॥

इस पद्यके उत्तरार्धसे प्रकट होता है कि उच्चकोटिक प्रेमीका आन्तरिक ध्येय वास्तवमें प्रियतमका अस्थिपिञ्जररूपी कलेवर नहीं होता, अपितु उसकी दृष्टिका अन्तिम और आभ्यन्तरीय केन्द्र 'ऐसे' और 'वैसे'की सीमासे बाहर—वह मूक कर देनेवाली—अलौकिक और प्रकाशात्मक छटा होती है जिसके आविर्भावकी ओर पद्यके उत्तरार्ध—'न वह तुम रहे, न वह हम रहे' में परामर्श किया गया है; और स्फुट है कि यह वही अखण्ड सौन्दर्य-सूर्य है, जिसकी किरणोंसे समस्त सांसारिक चन्द्रवदनोंके आनन चमक रहे हैं और जो सबसे परे और निर्लिप्त होनेपर भी सबको प्रकाशित कर रहा है। जैसा कि श्रुति भी कहती है कि [1]यह सब (जगत्) उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है अपि च [2]यही उस (ईश्वर) का परम आनन्द है। अन्य सर्वभूत इसी आनन्दकी आंशिक मात्रासे जीवित रहते हैं। उर्दू-कविताके चमकीले मोतियोंमें भी इसी श्रुति-सिद्धान्तकी रोशनी जगमगा रही है। यथा—

'उसीकी शोख़ी[3] शरारमें[4] है, उसीकी गर्मी चुनार[5] में है।
वह आब[6] हर सब्ज़ाज़ारमें है, वह लाला हर कोहिसार में है॥'

अनुरागके इसी पवित्र, भौतिक वासनारहित उच्चकोटिक-पदके लिये अरबी-साहित्यका वाक्य है—'अनुराग तो ब्रह्मप्राप्तिकारक एक अग्नि है।' कुछ लोगोंने एक पग और आगे बढ़ाया और बोल उठे—'इश्क़ अर्थात् अनुराग तो वही अल्लाह है, वही अल्लाह वही अल्लाह[10]' और यही अनुरागरागिनी पाश्चात्य कवियोंने इस प्रकार गायी है कि 'अनुराग ब्रह्म है'[11] और 'ब्रह्म' अनुराग। उपर्युक्त सहृदय तत्त्वदर्शियोंके अनुभवके अतिरिक्त प्रियतम और प्रेमीकी उक्त एकरूपताका रहस्य हर व्यक्ति खुद अपनी ही सत्तामें देख सकता है। मेरा अभिप्राय यह है कि सांसारिक जीव, शारीरिक वासनाधार अपनी 'देह' पर आसक्त होकर उससे ऐसा संसक्त हो गया, जैसा कि बीजोत्पन्न वृक्ष, कलमी वृक्षसे 'बँध' जाता है और जीव भी, उसी तरह शारीरिक रंग-रूप और गुणोंमें डूबकर शरीर हो गया है, जैसे कि बीजोत्पन्न या कच्चा पेड़ कलमी पौधेसे बँधकर 'कलमी' हो जाता है। तार्किक जनोंके लिये विशिष्ट विवरण यह है कि प्रायः समस्त धर्मों और तत्त्वदर्शी विद्वानोंने जीवात्माको अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् एक 'निराकार' और 'अभौतिक' द्रव्य माना है और वर्तमान प्रत्यक्षवादी भौतिक विज्ञानने यह भी सिद्ध कर दिया है कि जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, उसमें उतनी ही अधिक विचित्र शक्ति भी होती है जैसा कि वायु, वाष्प, अग्नि और विद्युत् इत्यादि सूक्ष्म-वस्तुओंके आश्चर्यजनक विकासोंसे दिन प्रतिदिन प्रकटित होता रहता है। अतः सबसे अधिक और अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् अभौतिक जीवात्मामें शक्ति भी आत्यन्तिकी ही होनी चाहिये, फिर क्या कारण कि किसी एक भी जीवधारी व्यक्तिमें उस आत्यन्तिकी शक्तिके दर्शन नहीं होते? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नका उत्तर उस समयतक नहीं हो सकता जबतक कि देह और जीवकी प्रेमात्मक पूर्ण एकता स्वीकार न कर ली जाय। अतः देह और जीवकी निम्नाङ्कित प्रेम-कहानियोंपर ध्यान दीजिये—

विशुद्धानुरागके पारङ्गत अनुरागियों और सहृदय तत्त्वदर्शियोंने देखा है कि पूर्णानुरागमें ध्यानोद्रेकके कारण प्रेमी प्रियतममें लीन होकर नितान्त तद्रूप हो जाता है। न केवल उसमें प्रियतमके गुण ही आ जाते हैं अपि तु दोनोंके बीचसे भेदोत्पादक कल्पित पर्दा उठ जाता है और अवस्था विशेषमें उनकी आकृतितक एक-सी दिखायी देने लगती है। इस विषयमें शास्त्रीय प्रमाणान्वेषीजन गर्गसंहितालिखित यह रहस्यमयी घटना पढ़ सकते हैं कि गर्म दूध तो पियें राधिकाजी और छाले पड़ें महाराज श्रीकृष्णके चरणोंमें। इसी तरह भृङ्गी-कीटका दूसरे कीड़ेको पकड़कर भयजनित ध्यानद्वारा अपना-सा बना लेना भी उक्त तद्रूपताहीका पोषक है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य-जन्म या देहको सबसे 'अधिक श्रेष्ठ' केवल इस कारण माना गया है कि इसके द्वारा पुण्यकर्म करके मनुष्य अपने अभीष्ट ध्येय अर्थात् परमपद तक पहुँच जाता है और यह अटल नियम है कि जिस पदार्थसे किसीकी कामनापूर्ति

---

१. तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति।

२. एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। (बृहदारण्यकोपनिषद्)

३. चञ्चलता, ४. स्फुलिङ्ग, ५. औषधनामी लताविशेष जो रात्रिमें अग्निकी तरह चमकती है, ६. पानी, ७. हरित-स्थली, ८. पुष्पविशेष, ९. पर्वतप्रदेश।

१०. अल्इश्क़ो नारुन् वासिलुन्फ़ीज्जाते रब्बिल्आलमी अल्इश्क़ो हुवल्लाहो हुवल्लाहो हुवल्लाह।

११. God is love love is God.

या लाभ होता है, उससे उसका प्रेम हो जाता है। अतः अपनी पदोन्नतिका अभिलाषी 'जीव' शरीरका प्रेमी बन गया; कारण कि उसीके द्वारा कर्म करके वह उन्नत हो सकता था। बस, उसका यह प्रेम पूर्णानुरागके उस दर्जेपर पहुँच गया, जहाँ प्रेमी और प्रियतम 'दो' नहीं रहते। यही कारण है कि चोट तो लगती है शरीरके और व्यथित होकर 'हाय' करता है जीव। ठीक उसी तरह कि गर्म दूध तो पियें राधिकाजी और छाले पड़ें कृष्णजीके; या यह कि फ़स्द तो खोली गयी मजनूके और खून निकला कलेवर-लैलासे; यह इसलिये कि दोनोंके मध्यसे भेद-भाव उठ गया था, जैसा कि निम्नस्थित पद्यसे भी सिद्ध होता है—

अजीब इश्क़का दोनों तरफ असर फैला।
वह कह रही थी अनाल्कैस[1] वह अना लैला[2]॥

इसके विपरीत यदि देह और जीवमें उपर्युक्त प्रेमात्मक एकता न मानी जाय तो फिर शरीरके दुःखसे जीवका 'हाय' करना तो एक ओर, शरीर और शारीरिक (जीव) का सम्बन्ध ही असम्भव हो जायगा; क्योंकि शरीर साकार, जीव निराकार; शरीर जड और जीव चेतनादि विरोधी गुणोंसे विशिष्ट है। भला कभी विरोधी पदार्थ भी बिना स्वार्थ परस्पर दृढ़ संसक्त होकर एक हो सकते हैं, जैसे कि देह और जीव ? अतः स्पष्ट हो गया कि दैहिक प्रेमोद्रेकमें जीव उसी तरह स्वगुण-विरक्त होकर देह हो गया है, जैसे कि कलमी पौधेसे बँधकर 'कटा पेड़' भी कलमी हो जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्तिमें उपर्युक्त जीवकी आत्यन्तिकी शक्ति दिखायी नहीं देती अपि तु साधारणतया दैहिक और भौतिक शक्तिहीके दर्शन होते हैं। परंतु जो व्यक्ति योगक्रियाद्वारा शरीरानन्दसे निकलकर 'आत्मानन्द' में डूब जाता है, वह जीवात्मासे 'पूर्णात्मा' होकर अपनी 'अन्तर्निलीन' अलौकिक शक्ति पुनः प्राप्त कर लेता है और उसीसे समय-समयपर योगकी उन चमत्कारात्मक सिद्धियोंका आविर्भाव होने लगता है जिनका विवरण योगदर्शन-जैसे दर्शन ग्रन्थके विभूतिपादमें सविस्तर विद्यमान है। और यदि मनुष्यके जीवमें उपर्युक्त अलौकिक शक्ति पहलेसे मौजूद मानी ही न जाय, तो अब कहाँसे आकर उक्त चमत्कारकारिणी हो जाती और विभूतिपादका निर्माण भी कैसे युक्तिसङ्गत हो सकता ? इस स्थानपर यह विचार उत्थित होना सही नहीं कि पूर्णानुरागमें हर प्रेमी अपने प्रियमें लीन होकर ईश्वर-प्राप्ति या परमपदतक पहुँच जाता है; क्योंकि यह पदवी उसीकी है जो शारीरिक सीमासे परे अलौकिक निराकार समुद्रमें मग्न हो चुका है। अर्थात् जिसकी आँखने साकारके मूलमें भी निराकारका ही रहस्यमय नाटक देखा है या यह कि गोपियोंकी भाँति जिसकी लव किसी ऐसे योगेश्वर या पूर्णावतारसे लगी हो, जिसके शरीरसे भी सूर्यकान्तमणिकी तरह रूपादि शारीरिक सम्पर्क-शून्य, लोक-प्रकाशक, अलौकिक भुवन-भास्करकी किरणें निकल रही हों, और स्फुट है कि हर प्रेमीका प्रेम ऐसी सत्तासे नहीं होता। इसलिये जो व्यक्ति किसी अध्यात्मविरोधी, आहङ्कारिक, वासनारत, 'दुर्गुण-समुदायाधार-कलेवर'से प्रेम करके उसके शरीरहीको अपना वास्तविक ध्येय बनायेगा, उसमें भी अनिवार्यतया उसके वह दुर्गुण ही सन्निविष्ट हो जायँगे और स्पष्ट है कि इन दुर्गुणोंको ईश्वरप्राप्तिसे क्या सम्बन्ध ?

गोपियों और श्रीकृष्णके प्रेम-सम्बन्धमें मुझे यह और निवेदन करना है कि यह तो सब जानते हैं कि गोपियोंका श्रीकृष्णसे प्रेम था। पर प्रश्न यह है कि वह श्रीकृष्णको क्या देखती थीं ? इसका उत्तर स्वयं उन्हींके श्रीमुखसे श्रवण कीजिये—'यह[1] निश्चित है कि आप यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं, प्रत्युत आप तो समस्त जीवोंमें अन्तरात्माके साक्षी—देखनेवाले हैं।' गोपियोंके इस वाक्यसे सिद्ध होता है कि वे श्रीकृष्णको वही सर्वव्यापी परमात्मा या 'वास्तविक सत्ता' समझती थीं जिसकी व्याख्यासे गीताके अध्याय परिपूर्ण हो रहे हैं।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि जब गोपियाँ असीम और अपरिमित निराकार ज्योतिसे परिचित हो चुकी थीं, तब फिर कृष्णकलेवरकी खोजमें जंगलोंकी खाक छानने-का क्या प्रयोजन था ? इसका उत्तर यह है कि श्रीकृष्णकी 'सामष्टिक' और अपरिमित आत्मसत्तासे आँख लड़ते ही उनकी आँखोंमें कुछ ऐसी सामष्टिक और व्यापक अभेदता समा गयी कि वह साकारमें निराकार और निराकारमें साकारका तमाशा देखने लगी थीं। इसके अतिरिक्त व्यापक और निराकारात्मक खिड़की खुल जानेपर भी इस संसारमें प्रायः शारीरिकताका ही अधिकार रहता है। कारण कि स्थिरतामूलक निरन्तर अर्थात् लगातार दर्शन शरीरका ही हो सकता है और यही कारण है कि प्रायः निर्गुणाभिलाषियोंने भी निराकारतापर पूरा क़ाबू न पाकर इस दृश्यमान शरीरको ही तत्त्वज्ञताका जीना बनाया है जैसा कि किसी प्रेममार्गी महात्माको किसी सौन्दर्यमय-

१. मैं मजनू हूँ। २. मैं लैला हूँ।

१. न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

आननके दर्शनमें निमग्न देखकर किसी स्थूलदर्शी कर्मकाण्डीने प्रश्न किया कि, 'यह क्या है ?' उत्तर मिला कि 'भुवन-भास्करका 'विम्ब' देख रहा हूँ परंतु पानीकी थालीमें ।'[1] अब किञ्चिन्मात्र इस ओर भी ध्यान देनेकी आवश्यकता है कि गोपियोंका उक्त प्रेम कोई सामान्य प्रेम नहीं था, प्रत्युत उसके अन्तस्तलमें योगके पवित्र और उच्चतम नियम स्वयं अपना कार्य सम्पादन कर रहे थे । देखिये चित्तमें[2] आनेवाली वृत्तियों अर्थात् 'खयालों' के रोकनेको योगदर्शनमें योग कहा गया है, और इन वृत्तियोंको रोकनेकी दो[3] युक्तियाँ बतायी गयी हैं । प्रथम—सांसारिक पदार्थोंकी सतर्क अस्थिरता और अवास्तविकता देखकर उनसे चित्तका विरक्त और 'विपरीत' हो जाना। द्वितीय—जिस प्रेरणाने इन पदार्थोंसे चित्तको उदासीन कर दिया है, उससे दृढ़ सम्पर्ककारक साधनोंका निरन्तर प्रयोग करना अर्थात् ध्येयके ध्यानमें मग्न हो जानेका 'अभ्यास' । उक्त साधनोंमेंसे महाराज पतञ्जलिने अभीष्ट पदार्थके ध्यान[4] और सांसारिक वासनाओंसे[5] विरक्त किसी पूर्णात्माके चित्तसे सम्पर्कका भी वर्णन किया है, अपिच यह भी कहा है कि—जिसे तीव्र[6] संवेग अर्थात् योगकी धुन होती है, उसको योगमें शीघ्र सफलता होती है । एवं एकाग्रता अर्थात् एक ही खयालमें निमग्नताको बीमारी, सुस्ती और अधीरता इत्यादि योगविरोधी पदार्थोंका प्रतिबन्धक सिद्ध किया गया है ।[7] ध्यानद्वारा, किसी विशेष पदार्थ या प्रदेशमें चित्तके बाँधने अर्थात् लगानेको 'धारणा' कहते हैं ।[8] यही धारणा जब निरन्तर और लगातारूपसे होने लगती है तो उसका नाम ध्यान हो जाता है[9] और जब ध्यानी अपने ध्येयमें पूर्ण मग्नता द्वारा ध्येयस्वरूप होकर स्थित हो जाता है, तब यह अवस्था योगकी अन्तिम कक्षा अर्थात् समाधि[10] कहलाती है । अब योगके इन मौलिक नियमोंको ध्यानमें रखते हुए गोपियोंकी प्रेमावस्थापर दृष्टि डालिये तो विदित हो जायगा कि ये समस्त नियम उनके 'प्रेम-योग' में बिना किसी प्रयत्नके स्वयं ही विद्यमान हो रहे थे । अतः कोई कारण नहीं कि गोपियोंके हृदयमें दुनियासे पूर्ण उदासीनता मानकर, उनको सम्पूर्ण वैराग्यवती न स्वीकार किया जाय तथा श्रीमद्भागवतके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णजीका तनिक सम्पर्क भी गोपियोंके[11] चित्तसे इतर-समस्त वासनाओंको विस्मृत करा चुका था, जो पूर्ण-वैराग्यका प्रकाशमान प्रमाण है ।

द्वितीय वस्तु अर्थात् अभीष्ट पदार्थके ध्यानका 'अभ्यास' तो इस सम्बन्धमें पूर्ण प्रेमीके लिये कुछ कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है । कारण कि प्रेमीसे अधिक प्रियतमके ध्यानमें कौन मग्न हो सकता है ? अब रहा अभीष्ट पदार्थका ध्यान और पूर्णात्मा-वीतरागविषयकसे गाढ़तर सम्बन्ध, तो इन दोनों साधनोंकी पूर्ति तो गोपियोंने श्रीकृष्णके ध्यानद्वारा ही कर ली थी, क्योंकि श्रीकृष्ण गोपियोंके अभीष्ट ध्येय भी थे और योगेश्वर होनेके कारण पूर्ण वैराग्यकी मूर्ति भी । अब अवशिष्ट रही तल्लीनता या निमग्नता, सो वह अनुरागीसे बढ़कर और किसीमें हो ही नहीं सकती और गोपियोंका केवल श्रीकृष्णके ही ध्यानमें प्रधानतया मग्न रहना, योगविघ्नोंकी निवृत्तिके लिये भी पर्याप्त था 'तुमहीमें[12] 'असु' अर्थात् चित्त रखनेवाली गोपियाँ' इस गोपीगीतसे स्पष्टतया यह भी विदित हो जाता है कि गोपियोंने श्रीकृष्णमें 'चित्त' लगाकर 'धारणा' नामक योगके दर्जेको भी प्राप्त कर लिया था। कारण कि 'असु' शब्दका अर्थ[13] चित्त भी है और चित्तको किसी स्थान या वस्तुमें रखना अर्थात् बाँध देना ही धारणा है और यही धारणा उन्नत होकर ध्यान और ध्यानसे उच्च होकर 'समाधि' हो जाती है; फिर क्या कारण कि सांसारिक वासनाओंसे उदासीन गोपियाँ, इस प्रेम-योगकी पूर्ति करनेपर भी श्रीकृष्णमें लीन होकर परमपदतक न पहुँचें ? यह है गोपियोंकी तात्त्विक धर्मपरायणता, निष्कपट प्रेम और उनकी ब्रह्मलीनताकी व्याख्या और यही मूल है उस अनुरागात्मक चमत्कारकी, जिसको दुनिया आजतक रासलीलाके नामसे याद करती है ।

(लेखक महोदयके लंबे लेखको स्थानाभावसे कुछ छोटा कर दिया गया है। इसके लिये वे कृपया क्षमा करें। सम्पादक)

---

१. चश्मये आफ्ताबरा बीनम्, लेकदरतश्तेआबमीबीनम्॥ २. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (यो० १ । २)। ३. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (यो० १ । १२)। ४. यथाभिमतध्यानाद्वा (यो० १ । ३९)। ५. वीतरागविषयं वा चित्तम् (यो० १ । ३७)। ६. तीव्रसंवेगानामासन्नः (यो० १ । २१)। ७. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः (यो० १ । ३२)। ८. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (यो० ३ । १)। ९. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (यो० ३ । २)। १०. तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (यो० ३ । ३)। ११. इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ (श्रीमद्भा० १० । ३१ । १४)। १२. त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते (श्रीमद्भा० १० ३१ । १)। १३. शब्दार्थचिन्तामणि (पृ० २२६)।

दूसरोंके हृदयको जीतनेका उपाय

(लेखक—श्रीशिवकण्ठलालजी शुक्ल 'सरस' एम्० ए०)

प्रायः यह देखनेमें आता है कि जब हम दूसरोंको अपनी विचारधारामें बहाना चाहते हैं या उनकी राय बदलना चाहते हैं, तब बुद्धितत्त्वके आधारपर तर्क-वितर्कका अधिक सहारा लेते हैं। मानव-मनकी भावनाओं और अनुभूतियोंकी लेशमात्र भी चिन्ता न करके तर्कशास्त्रके शुष्क धरातलपर उतर आते हैं। इस बातपर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता कि भावनाओं और अनुभूतियोंका क्या स्थान है। सीधे अनावश्यक वाद-विवादको छेड़ देते हैं। अपने दृष्टिकोणको सरल, स्पष्ट, मधुर और हृदयग्राही बनानेकी अपेक्षा हम दूसरोंके दृष्टिकोणकी कटु आलोचना करने लगते हैं। हमें चाहिये कि हम अपने विचारोंकी व्याख्या, उनकी उपयोगिता तथा उससे अन्य लोगोंके सम्बन्ध आदि बातोंको आकर्षक ढंगसे रक्खें। पर हम ऐसा न करके दूसरोंके विचारोंपर ही अनुचित ढंगसे प्रहार करना प्रारम्भ कर देते हैं। विचारोंकी झोंकमें गँवारू ढंगसे कह उठते हैं कि वह गुमराह है। इस प्रकार उसके आत्मसम्मान और आत्मगौरवकी भावनाओंपर कठोर प्रहार करने लगते हैं। जिससे शीघ्र ही द्वेषपूर्ण घृणा उत्पन्न हो जाती है और आपसमें अनुचित और तीक्ष्ण शब्दोंका आदान-प्रदान होने लगता है। इस प्रकार न तो हम दूसरोंके दृष्टिकोणको बदल पाते और न उनको अपना मित्र ही बना पाते। वरं उनके पूर्व विचारोंको और दृढ़ करके उन्हें अपना शत्रु बना लेते हैं।

इस प्रकारकी असफलताका कारण स्पष्ट है। मूल कारण यह है कि हम यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि मनुष्य तर्कशास्त्रकी सृष्टि नहीं है। मनुष्य अनुभूतियों और भावनाओं, विचारों और इच्छाओं, द्वेष और घृणा, अभिमान और अहंभाव, भय और आदर, शक्ति और सम्मानका अनुगामी है। वह तर्कशास्त्रके वशीभूत कभी नहीं हो सकता। हमें सदैव ध्यान रखना चाहिये कि वे लोग मनुष्य हैं, देवता नहीं हैं। उनके विचार और भावनाएँ शिलाखण्डपर लिखे अक्षर नहीं हैं। हममेंसे प्रत्येक अपनेको बुद्धिमान्, विचारवान् तथा तर्कशास्त्री होनेका दावा करता है और उसीके अनुसार प्रयत्न भी करता है; परंतु जब वही बात प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है, तब हमें ज्ञात होता है कि हमारे प्रदर्शनमें बुद्धितत्त्वकी अपेक्षा पूर्व निर्मित धारणाएँ तथा कल्पनाएँ अधिक कार्य करती हैं। तर्कना हमारे साथ कार्य करनेमें असमर्थ सिद्ध होती है।

तर्क-वितर्कसे विजय कम होती है। वह अधिकतर व्यर्थ सिद्ध होता है। यदि कभी विजय भी हो जाय तो वह विजय पराजयसे भी गयी-बीती होगी। मान लिया कि हमने किसीको अपने तर्क-बलसे कोई बात मनवा दी और उसने स्वीकार भी कर ली। पर विश्वास रखना चाहिये कि यह उसकी मान्यता बाहरी तथा क्षणस्थायी है। उसके विचारोंमें कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हो सकता। वह हमारी आश्चर्यजनक प्रभावशालिनी तर्कनाके सामने ठहर न सके, वचनबद्ध भी हो जाय और आत्मसमर्पण भी कर दे। यह सब कुछ होनेपर भी हृदय अपनी पूर्वदशामें ही बना रह सकता है। इससे हृदय नहीं बदल सकता।

यह स्वाभाविक बात है कि हम उन्हीं बातोंमें विश्वास करना अधिक पसंद करते हैं, जिनमें बहुत पहलेसे विश्वास करते आ रहे हैं। हम इस बातकी बहुत कम परवा करते हैं कि हमारा विश्वास तर्कपूर्ण है या तर्कहीन। मानव-मन अपनी स्मृतियोंसे स्नेह करता है। जो विचार हमारे मस्तिष्कमें घर कर चुके हैं, उनके प्रति सम्मानकी भावना अवश्य बढ़ती जाती है। उन विचारोंसे हमें ममता और मोह होता है। अतः उनका अपहरण हमारे लिये असह्य होता है। जब हमें यह ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति हमें लूटना चाहता है, तब हृदय व्याकुल हो उठता है। हम यह कभी भी सुननेको तैयार नहीं होंगे कि हमारे विचार निरर्थक हैं। जब कोई हमारे विचारोंपर प्रहार करना चाहता है, तब हम पूर्ण शक्तिके साथ उनकी रक्षा करते हैं। दूसरोंके द्वारा जितना ही इस बातका प्रयत्न किया जाता है कि हमारे विचार ठीक नहीं हैं, उतना ही हम अपने विश्वासोंमें दृढ़ होते जाते हैं। यही है मानव-स्वभाव। यह बात हमारे साथ, आपके साथ और सबके साथ है। तर्क-वितर्क, खण्डन-मण्डनसे भेदभाव अधिक बढ़ता है। इसमें घृणाके कारण ऐसा अन्तर पड़ जाता है कि उसको भरना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्थामें दूसरोंपर वास्तविक विजय कभी सम्भव नहीं हो सकती।

यदि हम तर्क-वितर्क, वाद-विवाद तथा खण्डन-मण्डन आदिको त्यागकर मैत्रीपूर्ण ढंगसे दूसरोंके विचारोंके प्रति प्रेम तथा सम्मान प्रकट करें तो सफलताके संयोग अधिक प्राप्त होते हैं। यदि हम किसीको प्रेम और सहानुभूतिके साथ सन्तुष्ट कर सकें या कोई बात मनवा सकें तो निस्सन्देह हम उसके वास्तविक शुभचिन्तक तथा सच्चे मित्र बन

जायँगे। उसका हममें विश्वास होगा। और कुछ नहीं तो कम-से-कम वह हमारी बात ध्यानपूर्वक अवश्य सुनेगा। उसके विचारोंको निरर्थक और दोषयुक्त बतलानेकी अपेक्षा यदि हम प्रेम तथा सौहार्दके साथ अपने सुलझे विचारोंसे उसको प्रभावित करते हुए उसके हृदयको छूनेका प्रयत्न करें तो यह निश्चय है कि वह हमारी ओर आकर्षित होने लगेगा।

विरोध, तर्क-वितर्क, कटु आलोचना तथा बालकी खाल निकालनेसे हम किसीको अपना मित्र नहीं बना सकते। सच्चे मित्र इस ढंगसे प्राप्त नहीं होते। वह दूसरा मार्ग ही है। वह मार्ग प्रेम और सहानुभूतिका है जिसपर सब ओर मित्र-ही-मित्र दिखायी पड़ते हैं। प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक बात है। यदि आप किसीको गाली देंगे तो बदलेमें गाली खायँगे। यदि आप किसीको मूर्ख कहेंगे तो आपको भी मूर्ख कहा जायगा। आप आलोचना करेंगे तो आपसे प्रत्यालोचना अवश्य मिलेगी। इसी प्रकार यदि आप प्रेम करेंगे तो अवश्य प्रेमका प्रतिदान होगा। जैसा बोयेंगे, वैसा काटेंगे। यह सीधी-सी बात है।

प्रेम ही महान् शक्ति है, जो प्रत्येक दशामें जीवनको आगे बढ़ानेमें सहायक होती है। हमें सदैव सहनशील बनना तथा धैर्यका सहारा लेना चाहिये। मतवैभिन्न्यके चक्करमें हमें नहीं पड़ना चाहिये। प्रत्येककी बातको शान्तिसे सुननेका स्वभाव होना चाहिये। कट्टरता और कायरताको त्यागकर प्रत्येकको सच्चे हृदयसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिये। दूसरोंकी कटु आलोचनाको छोड़ देना चाहिये। विश्वास रखिये कि आपकी प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण सच्ची बातोंको सुननेके लिये दुनिया विवश होगी।

सच्ची मान्यता प्रेमके द्वारा ही हो सकती है। बिना प्रेमके मान्यता कृत्रिम होगी। शेक्सपियरके अनुसार कहना अनुचित न होगा कि बिना प्रेमके किसीके विचारोंमें परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। विचार तर्क-वितर्ककी सृष्टि नहीं है। विचारधारणा तथा विश्वास बहुकालके सत्सङ्गसे बनते हैं। अधिक समयकी संगतिका ही परिणाम प्रेम है। इसलिये विचारधारणा अथवा विश्वास प्रेमका विषय है।

अतः यदि हम दूसरोंपर विजय प्राप्त करके उनको अपनी विचारधारामें बहाना चाहते हैं, उनके दृष्टिकोणको बदलकर अपनी बात मनवाना चाहते हैं तो हमें सच्चे प्रेमका सहारा लेना चाहिये। तर्क और बुद्धितत्त्व हमें आगे नहीं बढ़ा सकते। वास्तवमें प्रेम ही वशीकरणका मूल मन्त्र है।

भक्त-गाथा

भक्त विमलतीर्थ

पण्डित विमलतीर्थ नैष्ठिक ब्राह्मण थे। बड़ा सदाचारी, पवित्र कुल था इनका। त्रिकाल सन्ध्या, अग्निहोत्र, वेदका स्वाध्याय, तत्त्वविचार आदि इनके कुलमें सबके लिये मानो स्वाभाविक कर्म थे। सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, नम्रता, अस्तेय, अपरिग्रह और सन्तोष आदि गुण इस कुलमें पैतृक सम्पत्तिके रूपमें सबको मिलते थे। इतना सब होनेपर भी भगवान्‌के प्रति भक्तिका भाव जैसा होना चाहिये, वैसा नहीं देखा जाता था। पण्डित विमलतीर्थ इस कुलके एक अनुपम रत्न थे। इनकी माताका देहान्त लड़कपनमें ही हो गया था। ननिहालमें बालकोंका अभाव था, अतः यह पहलेसे ही अधिकांश समय नानीके पास रहते थे। माताके मरनेपर तो नानीने इनको छोड़ना ही नहीं चाहा, ये वहीं रहे। इनके नाना पण्डित निरञ्जनजी भी बड़े विद्वान् और महाशय थे। उनसे इनको सदाचारकी शिक्षा मिलती थी तथा गाँवके ही एक सुनिपुण अध्यापक इन्हें पढ़ाते थे। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। कुलपरम्पराकी पवित्र विद्याभिरुचि इनमें थी ही। अतएव इनको पढ़ानेमें अध्यापक महोदयको विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता था। ये ग्रन्थोंको ऐसे सहज ही पढ़ लेते थे जैसे कोई पहले पढ़े हुए पाठको याद कर लेता हो। यज्ञोपवीत नानाजीने करवा ही दिया था, इसलिये ये त्रिकाल सन्ध्या करते थे। नित्य प्रातःकाल बड़ोंको प्रणाम करते, उनकी श्रेष्ठ आज्ञाओंका कुतर्क-शून्य बुद्धिसे परंतु समझकर भलीभाँति पालन करते और सहज ही सबके स्नेहभाजन बने हुए थे।

विमलजीकी नानी सुनन्दादेवी परम भक्तिमती थी। उसने अपने पतिकी परमेश्वरभावसे सेवा करनेके साथ ही परम पति, पतिके भी पति भगवान्‌की सेवामें अपने जीवनको लगा रक्खा था। भगवान्‌पर और उनके मङ्गल-विधानपर उसका अटल विश्वास था और इसलिये वह प्रत्येक स्थितिमें नित्य प्रसन्न रहा करती थी। इस प्रकारकी गुणवती पत्नीको पाकर पण्डित निरञ्जनजी भी अपनेको धन्य मानते थे। नन्दादेवी घरका सारा काम बड़ी दक्षता तथा सावधानीके साथ करती। परंतु इसमें उसका भाव यही रहता कि यह घर भगवान्‌का है, मुझे इसकी सेवाका भार सौंपा गया है। जबतक मेरे जिम्मे यह कार्य है, तबतक मुझे इसको सुचारु-रूपसे करना है। इस प्रकार समझकर वह समस्त कार्य करती; परंतु घरमें, घरकी वस्तुओंमें, कार्यमें तथा कार्यके फलमें न उसकी आसक्ति थी, न ममता। उसकी सारी आसक्ति और ममता अपने प्रभु भगवान् नारायणमें केन्द्रित हो गयी थी। इसलिये वह जो कुछ भी करती, सब अपने प्रभु श्रीनारायणकी प्रीतिके लिये, उन्हींका काम समझकर करती, इससे काम करनेमें भी उसे विशेष सुख मिलता था। शुद्ध कर्तव्यबुद्धिसे किये जानेवाले कर्ममें भी सुख है, परंतु उसमें वह सुख नहीं है जो अपने प्राणप्रिय प्रभुकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले कर्ममें होता है। उसमें रूखापन तो कभी होता ही नहीं, एक विशेष प्रकारके रसकी अनुभूति होती है जो प्रेमीको पद-पदपर उल्लसित और उत्फुल्लित करती रहती है और वह नित्य-नूतन उत्साहसे सहज ही प्राणोंको न्योछावर करके प्रभुका कार्य करता रहता है; परंतु इस प्रकारके कार्यमें जो उसे अप्रतिम रसानुभूति मिलती है उसका कारण कर्म या उसका कोई फल नहीं है, उसका कारण है प्रभुमें केन्द्रित आसक्ति और ममत्व। प्रभु उस कार्यसे प्रसन्न न हों और किसी दूसरे कार्यमें लगाना चाहें तो उसे उस पहले कार्यको छोड़कर दूसरेके करनेमें वही आनन्द प्राप्त होगा जो पहलेको करनेमें होता था। सुनन्दाका इसी भावसे घरवालोंके साथ सम्बन्ध था और इसी भावसे वह घरका सारा कार्य सँभालती तथा करती थी। आज मातृहीन विमलको भी, सुनन्दा इसी भावसे हृदयकी सारी स्नेह-सुधाको उँडेलकर प्यार करती और पालती-पोसती है कि वह प्रियतम प्रभु भगवान्‌के द्वारा सौंपा हुआ सेवाका पात्र है। उसमें नानीका बड़ा ममत्व था, पर वह इसलिये नहीं था कि विमल उसकी कन्याका लड़का है, वरं इसलिये था कि वह भगवान्‌के बगीचेका एक सुन्दर सुमधुर फलवृक्ष है, जो सेवा-सँभालके लिये उसे सौंपा गया है। नानीके पवित्र और विशद स्नेहका विमलपर बड़ा प्रभाव पड़ा और विमलकी मति भी क्रमशः नानीकी सुमतिकी भाँति ही उत्तरोत्तर विमल होती गयी। उसमें भगवत्परायणता, भगवद्विश्वास, भगवद्भक्ति और शुभ भगवदीय कर्मके मधुर तथा निर्मल भाव जाग्रत् हो गये। वह नानीकी भगवद्-विग्रहकी सेवाको देख-देखकर मुग्ध होता, उसके मनमें भी भगवत्सेवाकी आती। अन्तमें उसके सच्चे तथा तीव्र मनोरथको देखकर भगवान्‌की प्रेरणासे नानीने उसके लिये भी एक सुन्दर भगवान् नारायणकी प्रतिमा मँगवा दी और नानीके उपदेशानुसार बालक विमल बड़े भक्तिभावसे भगवान्‌की पूजा करने लगा।

विमलतीर्थजीके विमल वंशमें सभी कुछ विमल तथा पवित्र था। भगवद्भक्तिकी कुछ कमी थी—वह यों पूरी हो गयी। कर्मकाण्ड, विद्या तथा तत्त्व-विचारके साथ जिसमें नम्रता तथा विनय होती है, वह अन्तमें विद्या तथा तत्त्वके परम फल श्रीभगवान्‌की भक्तिको अवश्य प्राप्त करता है। परंतु जहाँ कर्मकाण्ड, विद्या एवं तत्त्वविचार अभिमान तथा घमंड पैदा करनेवाले होते हैं वहाँ परिणाममें पतन होता है। वस्तुतः जो कर्म, जो विद्या और जो विचार भगवान्‌की ओर न ले जाकर अभिमानके

मलसे अन्तःकरणको दूषित कर देते हैं, वे तो कुकर्म, अविद्या और अविचाररूप ही हैं। विमलतीर्थके कुलमें कर्म, विद्या और तत्त्वविचारके साथ सहज नम्रता थी—विनय थी और उसका फल भगवान्‌में रुचि तथा रति उत्पन्न होना अनिवार्य था। सत्कर्मका फल शुभ ही होता है और परम शुभ तो भगवद्भक्ति ही है। नानी सुनन्दाके सङ्गसे विमलतीर्थकी विमल कुलपरम्पराके पवित्र फलका प्रादुर्भाव हो गया! नाना-नानीने बड़े उत्साहसे पवित्र कुलकी साधुस्वभावा सुनयनादेवीके साथ विमलतीर्थका विवाह पवित्र वैदिक विधानके अनुसार कर दिया। सुलक्षणवती बहू घरमें आ गयी। वृद्धा सुनन्दाके शरीरकी शक्ति क्षीण हो चली थी, अतएव घरके कार्यका तथा नानीजीके ठाकुरकी पूजाका भार सुनयनाने अपने ऊपर ले लिया। वृद्धा अब अपना सारा समय भगवान्‌के स्मरणमें लगाने लगी। निरञ्जन पण्डित भी बूढ़े हो गये थे। पर उनका स्वभाव बड़ा ही सुन्दर था। उन्होंने अपना मन भगवान्‌में लगाया। कुछ समयके बाद वृद्ध दम्पतिकी भगवान्‌का स्मरण करते-करते बिना किसी बीमारीके सहज ही मृत्यु हो गयी। विमल और सुनयना यों तो नाना-नानीकी सेवा सदा-सर्वदा करते ही थे, परंतु पुण्यपुञ्ज दम्पतिने बीमार होकर उनसे सेवा नहीं ली। अब विमलतीर्थ ही इस घरके स्वामी हुए। पति-पत्नीमें बड़ा प्रेम था, दोनोंके बहुत पवित्र आचरण थे। दोनों ही भक्तिपरायण थे। विमल अपने भगवान्‌की पूजा नियमित रूपसे प्रेमपूर्वक करते थे और सुनयनादेवी नानी सुनन्दाके दिये हुए भगवान्‌की पूजा करती थी। यों पति-पत्नीके अलग-अलग ठाकुरजी थे। पर ठाकुर-सेवामें दोनोंको बड़ा आनन्द आता था। दोनों ही मानो होड़-सी लगाकर अपने-अपने भगवान्‌को सुख पहुँचानेमें संलग्न रहते थे। दोनोंमें ही विद्या थी, श्रद्धा थी और सात्त्विक सेवा-भाव था।

विमलतीर्थके तीन बड़े भाई थे। वे भी बहुत अच्छे स्वभावके तथा शुभकर्मपरायण थे। छोटे भाई विमल अब एक प्रकारसे उन लोगोंके मामाके स्थानापन्न थे। चारोंमें परस्पर बड़ी प्रीति और स्नेह-सौहार्द था। प्रीतिका नाश तो स्वार्थमें होता है; इनका स्वार्थ विचित्र ढंगका था। ये परस्पर एक-दूसरेका विशेष हित करने, सुख पहुँचाने और सेवा करनेमें ही अपना स्वार्थ समझते थे। त्याग तो मानो इनकी स्वाभाविक सम्पत्ति थी। जहाँ त्याग होता है, वहाँ प्रेम रहता ही है और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ आनन्दको रहने, बढ़ने तथा फलने-फलनेके लिये पर्याप्त अवकाश मिलता है। दोनों परिवार इसीलिये आनन्दपूर्ण थे। नामके ही दो थे। वस्तुतः कार्यरूपमें एक ही थे।

विमलतीर्थजीके मनमें वैराग्य तो था ही। धीरे-धीरे उसमें वृद्धि होने लगी। भगवान्‌की कृपासे उनकी धर्मपत्नी इसमें सहायक हुई। दोनोंमें मानो वैराग्य तथा भक्तिकी होड़ लगी थी। ऐसी सात्त्विक ईर्ष्या भगवत्कृपासे ही होती है। इस ईर्ष्यामें एक-दूसरेसे आगे बढ़नेकी चेष्टा तो होती है, परंतु गिरानेकी या रोकनेकी नहीं होती। बल्कि परस्पर एक-दूसरेकी सहायता करनेमें ही प्रसन्नता होती है। शक्ति गिरानेमें नहीं, बढ़ने और बढ़ानेमें लगती है। यही शक्तिका सदुपयोग है।

आखिर उपरति बढ़ी; दोनों भगवान्‌के ध्यानमें मस्त रहने लगे। एक दिन भगवान्‌ने कृपा करके सुनयना-देवीको दर्शन दिये और उसी दिन भगवदाज्ञासे वे शरीर छोड़कर भगवान्‌के परमधाममें चली गयीं। विमलतीर्थ-जीको इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। होड़में पत्नीकी विजय हुई। उसने भगवान्‌का साक्षात्कार पहले किया। विमलतीर्थजीके लिये यह बड़े ही आनन्दका प्रसङ्ग था। इस सात्त्विक होड़में हारनेवालेको जीतनेवालेकी जीतपर जिस अलौकिक सुखकी अनुभूति होती है, जगत्‌के स्वार्थी मनुष्य उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। अस्तु!

अब विमलतीर्थ सर्वथा साधनामें लग गये। वे वनमें जाकर एकान्तमें रहने लगे और अपनी सारी विद्या-बुद्धिको भूलकर निरन्तर भगवान् श्रीनारायणके मङ्गलमय ध्यानमें ही रत रहने लगे। धीरे-धीरे भगवान्‌के दिव्य दर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ी और एक दिन तो वह इतनी बढ़ गयी कि अब क्षणभरका विलम्ब भी असह्य हो गया। जैसे अत्यन्त पिपासासे व्याकुल होकर मनुष्य जलकी बूँदके लिये छटपटाता है और एक क्षणकी देर भी सहन नहीं कर सकता, वैसी दशा जब भगवान्‌के दर्शनके लिये भक्तकी हो जाती है तब भगवान्‌को भी एक क्षणका विलम्ब असह्य हो जाता है और वे अपने सारे ऐश्वर्य-वैभवको भुलाकर उस नगण्य मानवके सामने प्रकट होकर उसे कृतार्थ करते हैं। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीनारायण विमलतीर्थको कृतार्थ करनेके लिये उनके सामने प्रकट हो गये। वे चकित होकर निर्निमेष नेत्रोंसे उस विलक्षण रूपमाधुरीको देखते ही रह गये। बड़ी देरके बाद उनमें हिलने-डोलने तथा बोलनेकी शक्ति आयी। तब तो आनन्द-मुग्ध होकर वे भगवान्‌के चरणोंमें लोट गये और प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण-पद्मोंको पखारने लगे। भगवान्‌ने उठाकर बड़े स्नेहसे उनको हृदयसे लगा लिया और अपनी अनुपम अनन्य भक्तिका दान देकर सदाके लिये पावन बना दिया!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

स्वाधीनताका स्वरूप और सुख

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

हमारी स्वाधीनताके तीन वर्ष पूरे हो गये, फिर भी हमें अपनी स्वतन्त्रताका सच्चा सुख क्यों नहीं मिलता। इसके अनेक कारण बतलाये जाते हैं और उन कारणों-को लेकर लोग परस्पर दोषारोपण करते रहते हैं। पर विचार करनेपर पता लगता है कि सुख न होनेका वास्तविक कारण अज्ञान है। हम जानते ही नहीं कि स्वाधीनता किसे कहते हैं। जबतक हम असली स्वाधीनताको नहीं पहचानेंगे, हमको उसका आन्तरिक सुख नहीं प्राप्त होगा।

यह असली स्वाधीनता क्या है? इसका क्या महत्त्व है? यही तो हम भी जानना चाहते हैं। हम स्वाधीनता क्यों चाहते हैं? बाबा तुलसीदासजी लिख गये हैं—

'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'

जब पराधीनतामें सपनेमें भी सुख नहीं मिलता तो स्वाधीनताका मतलब ही है सुख दिलानेवाली वस्तु। पर सुख है क्या वस्तु?

एक फ्रेंच महापुरुषने कहा है कि 'वही मनुष्य संसारमें सुखी है जिसे भगवान्‌ने एक रोटीका टुकड़ा खानेको दिया है, पर जिस टुकड़ेके लिये उसे ईश्वरको छोड़कर और किसीको धन्यवाद देनेकी आवश्यकता नहीं होती।' सचमुच वह व्यक्ति बड़ा भाग्यशाली है, जो चाहे एक टुकड़ा ही रोटी क्यों न पाता हो, पर किसीका आश्रित न हो। यदि स्वाधीनताका अर्थ स्वावलम्बी बनना है तो आज हममेंसे कितने भारतीय अपनी स्वतन्त्रताके बाद स्वावलम्बी बननेकी सोच रहे हैं? जिसे देखिये, वह या तो नौकरी या अधिकारके पीछे पागल है या जल्दी-से-जल्दी अधिक-से-अधिक चोरी करके धनी बन जाना चाहता है। शीघ्र सफलता-के लिये आज हम जितने उतावले हैं, उतने पहले कभी न थे। हमें सब कुछ चाहिये तथा जल्दी-से-जल्दी चाहिये और इसी जल्दबाजीका परिणाम है कि हम अपनी वासनाओंके दास बनते चले जा रहे हैं!

जिसे भी संसारका लेशमात्र सुख भोगना हो उसे 'कौबेट'का कथन ध्यानमें रखना चाहिये—

'मानव अपने साधनोंकी महानतासे नहीं पर अपनी इच्छाओं अथवा कामनाओंकी लघुतासे ही स्वतन्त्रता प्राप्त करता है।'

कौबेटका मतलब यह है कि जीवनमें स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि हमारी आवश्यकताएँ कम-से-कम हों। हमको वासना, लोभ तथा तृष्णा न सताती रहे और हम यह ध्यानमें रक्खें कि स्वतन्त्र-जीवनमें जहाँ स्वावलम्बन आवश्यक है, वहीं पड़ोसीपर भरोसा करना, समाजके साथ मिलकर चलना और समाजपर अवलम्बित रहना भी आवश्यक है। वर्डस्वर्थ नामक प्रसिद्ध अंग्रेज कविने लिखा है कि स्वतन्त्र व्यक्तिके लिये 'मर्दानगीके साथ दूसरोंपर निर्भर करना तथा मर्दानगीके साथ आत्मनिर्भर करना आवश्यक है।' सारांश यह कि जो व्यक्ति अपने जीवनसे उच्छृङ्खलता निकालकर तथा आवश्यकताएँ कम-से-कम बनाकर जीवन-यापन करता है, उसीको वास्तवमें स्वतन्त्रताका सुख मिल सकता है और वही उसे भोग सकता है।

स्वतन्त्रता अपने मनमें होती है। उसका बाहरी आडम्बर बहुत छोटा होता है, पर मनके भीतर वह तभी पैदा होती है जब हम उसे पैदा करना जानते हैं। कामना और लोभ हमारे मनको इतना गुलाम बनाये हुए हैं कि सुबुद्धि हमारे निकट भी नहीं फटक पाती। शेरटनने लिखा है कि 'चाहे गरीब हो या अति धनी, दोनोंको ही स्वाधीनताका पूरा सुख मिल सकता है, यदि दोनों एक बात सीख जावें और वह बात है अपनी आवश्यकताओंको अपनी-आपकी मर्यादाके भीतर रखना। जो आदमी यह करना जानता है, वह जीवनका सब सुख प्राप्त कर सकता है। हमारी समझमें आज हम भारतीय यदि अपनी आध्यात्मिक, भौतिक तथा मानसिक स्वाधीनताको नहीं भोग सकते तो उसका कारण हमारी तृष्णा, लोभ तथा मोह है। इन्हींके वशीभूत होकर हम न तो देशके कामके रह गये और न शासनके ही।

अपना गुण

मानव-जीवनके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश हमने 'हीजेलेमान' का पढ़ा है। वे लिखते हैं—

'ऐ युवक! अपने चारों ओर लोगोंको छद्म और अविश्वासके द्वारा धनी होने दो। तुम दरिद्र बने रहो। दूसरोंको भीख माँगकर समाजमें शक्ति तथा अधिकार प्राप्त करने दो, तुम बिना इनके रहो। तुम्हारी आशाएँ निराशाओंमें परिणत हो जायँ, पर दूसरोंके समान चापलूसी करके कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा मत करो। अपने गुणोंकी चादर ओढ़े हुए सच्चा साथी ढूँढ़ो और ईमानदारीसे रोटी कमाओ। यदि ऐसा जीवन बिताते हुए तुम बूढ़े हो गये और कोई सांसारिक सम्मान तुमको न मिला तो कोई चिन्ताकी बात नहीं, तुम शान्तिसे मर सकोगे।'

जो ऐसी मृत्यु चाहता हो, वही वास्तवमें सच्ची स्वाधीनता जानता है और उसका सुख भोग सकता है। जिसने स्वाधीनताको अधिकार, पद, सम्मान तथा अधिकारके दुरुपयोगका साधन समझा है, वह इसका सुख न तो स्वयं भोग सकता है और न किसी दूसरेके भोगनेमें सहायक हो सकता है। स्वार्थी तथा पदलोलुप लोगोंने हमारी नवप्राप्त स्वाधीनताको विषैला कर रक्खा है। इनके कारण न तो हम उसका सुख ठीकसे भोग पाते हैं, न समझ ही पाते हैं!

स्वाधीनता बड़ी भारी वस्तु है। बिना इसके मानवका विकास नहीं हो सकता। इसके बिना राष्ट्रकी आत्मा चेत नहीं सकती। बिना इसके देशका नैतिक स्तर ऊँचा नहीं हो सकता और 'पार्क गौडविन'ने सत्य लिखा है कि मानव-जीवनके लिये

सबसे अधिक कल्याणकर कार्य तभी हो सकते हैं, जब जनता स्वतन्त्र हो जाय।

यहाँतक तो बात समझमें आ गयी, पर सवाल यह है कि मानवका कल्याण है किस बातमें ? किस काममें ? स्वाधीनताका अर्थ है पराधीन न रहना। पर ऐसी स्वाधीनतासे क्या लाभ, जिससे हम अपनी वासनाओंके ही अधीन हो गये। दूसरोंसे पद तथा अधिकारकी आशाकी टकटकी लगाये बैठे रहे ! महत्त्वाकाङ्क्षाएँ निस्सीम होकर मानवको संसारका गुलाम बना देती हैं। दत्तात्रेयका वचन है—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

जिसने आशाको दासी बना लिया है, वह संसारको अपना दास बना सकता है, पर आशाको दासी वही बना सकता है जो सत्य और सुखका रहस्य जानता है। सत्य और सुखका रहस्य जाननेवाला ही संसारमें सफल जीवन बिता सकता है तथा सुखी प्राणी हो सकता है और अपनी स्वाधीनताका आनन्द उठा सकता है। जबतक हम वास्तविक सुखको नहीं पहचानेंगे, हमको अपनी स्वाधीनताका आनन्द न प्राप्त होगा। आज अपने अज्ञानके कारण ही हम भटक रहे हैं। पर न तो सुख पा रहे हैं, न चैन।

सुख तथा सत्यकी एक बहुत अच्छी परिभाषा हमें 'मार्क्स आरलियस' बतला गये हैं। पाठक इस परिभाषाकी प्रत्येक पङ्क्ति ध्यानपूर्वक पढ़ें और आजसे ही इसके अनुकूल काम करनेका संकल्प करें।

जीवनमें तुम्हें किस वस्तुसे सच्चा लाभ होता है ? न्याय, सत्य, स्फटिक-जैसी बुद्धि और धैर्य इनके सिवा और चाहिये ही क्या ? अपने मनको स्वच्छ रखनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। बुद्धिमान् बनना हरेक मनुष्यके अपने हाथमें है। ललाट-लेखको शायद तुम बदल नहीं सकते, किंतु इष्ट और अनिष्टको समान भावसे देखना तुम्हारे अपने हाथमें है। यदि सुख पानेका और कोई तरीका तुम्हें सूझे, तो अवश्य उसका प्रयोग करो। आध्यात्मिक तत्त्व ही सबसे ऊँचा है। विचारोंको वशमें रक्खो, इन्द्रियोंका निग्रह करो, ईश्वरपर श्रद्धा रक्खो और सदा परहित-रत रहो ! शेष सब विषयोंको तुच्छ समझो ! मनको इधर-उधर न भागने दो। नहीं तो, पीछे उसके वेगका रोकना असम्भव हो जायगा। सब दुःखोंका निवारण इसीमें है। धन, दौलत, कीर्ति—यह सब वृथा हैं।

सत्यको छोड़कर प्राप्त की हुई वस्तुसे आनन्द नहीं मिल सकता। जिस वस्तुसे तुम्हारे गौरवपर बट्टा लगता हो, उससे दूर रहो। घृणा, विरोधभाव, ढोंग इत्यादिको छोड़ो। उनकी खोजमें मत पड़ो। जिस भोगको तुम दूसरोंसे छिपकर दीवार या परदेकी आड़में भोगते हो, उससे सच्चा आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? हृदयस्थित ईश्वर जिसकी अनुमति देता है उसी धर्मके अनुयायी बनो। उस सत्य मार्गपर चलनेवालेको कभी ग्लानि नहीं होगी। उसे संन्यास ग्रहण करके वनमें जानेकी आवश्यकता नहीं। उसे अपने आसपास बन्धुजनोंकी भीड़ लगाये रखनेकी भी आवश्यकता नहीं। वह हर्ष, शोक, इच्छा, द्वेषोंसे विमुक्त और निश्चिन्त रहता है। ज्ञानी मनुष्य कालसे भी नहीं डरता। प्राणोंकी उसे परवा नहीं रहती। शरीरधर्मका पालन करते हुए जैसे वह मलत्याग करता है, वैसे ही खुशी-खुशी प्राण छोड़ देता है।

पर उपकार सरिस नहिं धर्मा

[कहानी]

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती)

(१)

श्यामगढ़का राजा श्यामसिंह चाहता था—नामवरी; परंतु कीर्तिकारी गुण उसमें नहीं थे। रामगढ़का राजा रामसिंह था गुणवान्। उसका नाम देशके कोने-कोनेमें फैलने लगा। श्यामसिंहको ईर्ष्या हुई। उसने अकारण रामसिंहपर चढ़ाई कर दी।

रामसिंहने विचार किया—'यदि मैं सामना करता हूँ तो बेकार हजारों आदमी मारे जायँगे। उनके बच्चे अनाथ हो जायँगे। उनकी स्त्रियाँ मुझे शाप देंगी। युद्ध नाना व्याधियोंकी जड़ है।' रामसिंह रातको महलसे निकल गया और एक पहाड़की गुफामें जा बैठा। श्यामसिंहने बिना मार-काटके महलपर अधिकार कर लिया।

प्रातः गद्दीपर बैठकर श्यामसिंहने दरबार किया और यह घोषणा की—'जो कोई रामसिंहको पकड़ लायेगा उसे एक लाख रुपया इनाम दिया जायगा।'

(२)

जिस जंगलमें राजा रामसिंह छिपे थे, वहाँ दो भाई लकड़ी काटने गये। वे लोग लकड़ी बेचकर ही जीवन-निर्वाह किया करते थे। बड़े भाईका नाम था जंगली, छोटेका नाम था मंगली। जाति चमार। अत्यन्त गरीब। घरमें दोनोंकी औरतें थीं, एक-एक बच्चा भी। कठिन कलेसमें जान थी। जिस गुफामें राजा साहब छिपे बैठे थे, उसीके पासवाले वृक्षपर वे दोनों भाई लकड़ी काटने लगे।

मंगली बोला—'धत् तेरी तकदीरकी! कहीं अभागा रामसिंह ही मिल जाता तो पकड़ ले जाता। एक लाख मिलते। सात पुस्तका दलिद्दर दूर हो जाता!'

बड़ा भाई जंगली बोला—'क्या बकता है? ऐसे दयावान्, धरमवान् और मिहरबान राजाके लिये तेरे ऐसे कमीने विचार? लानत है। तुझे देखकर नरक भी नाक सिकोड़ेगा!'

मंगलीने कहा—'मिल जाता अभागा तो मैं तो ले जाता। आखिर कोई तो ले ही जायगा? मैं ही क्यों न इनाम मारूँ?'

जंगलीने उत्तर दिया—'अगर हमारा राजा हमें मिल भी जाय, तो भी हम उन्हें वहाँ न ले जायें। रुपया कितने दिन चलेगा? लेकिन हमारी बदनामी एक अमर कहानी बन जायगी। राम राम! ऐसी बात सोचना भी पाप है। न मालूम श्यामसिंह क्या बरतावा उनके साथ करे? मार ही डाले तो?'

मंगली—कल मरता हो तो आज मर जाय। मेरे लिये उसने क्या किया? श्यामसिंह उसे पातालसे खोज निकालेगा। तुम्हारे छोड़ देनेसे वह बच नहीं जायगा। मुझीको मिल जाता—फूटी तकदीरवाला! मार देता एक लाखका मैदान! टूट जाती गलेकी फाँसी!

जंगली—नहीं नहीं! राम राम! शिव शिव! भगवान् उनकी रक्षा करें। वे फिर हमारे राजा होंगे।

(३)

यह बातचीत सुनकर राजा रामसिंह गुफासे बाहर निकलकर उस पेड़के पास चले आये। उनको देखकर दोनों भाई अचकचा गये।

राजा—मुझे ले चलो।

जंगली—नहीं महाराज! ये लड़का पागल है। इसकी बातोंपर कान मत दीजिये।

राजा–अगर मेरी जानके द्वारा किसीकी भलाई हो जाय तो क्या हर्ज है ? पर उपकार सरिस नहिं धर्मा ! मुझे ले चलो ।

मंगली गुमसुम खड़ा राजाको देखने लगा ।

जंगली–हम अपनी जान देकर आपकी जान बचायेंगे—महाराज !

राजा–अच्छा तो मैं खुद ही राजा श्यामसिंहके पास जाता हूँ । कह दूँगा कि इस लकड़हारेने मुझे गुफामें छिपा दिया था ।

जंगली हँसा । बोला—'यह काम भी आप न कर सकेंगे—राजा साहब ! जो दूसरेकी भलाई किया करता है, उससे दूसरेकी बुराई हो ही नहीं सकती ।'

बातचीत सुनकर चार राहगीर वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने राजाको पहचान लिया और पकड़ लिया । जंगली भी रोता हुआ पीछे-पीछे चला । लकड़ी लेकर मंगली घर चला गया । मंगलीने मनमें कहा—'धत् तेरी तकदीरकी । जालमें आकर चिड़िया उड़ गयी ।'

(४)

श्यामसिंह–शावास ! तुमलोग पकड़ लाये ? किसने पकड़ा ?

एक बोला–मैंने !

दूसरा बोला–मैंने !

तीसरा बोला–मैंने !

चौथा बोला–मैंने !

श्यामसिंह–सच कहो किसने पकड़ा ?

चारों–सच कहते हैं—हमने !

रामसिंह–आप बिल्कुल सच बात जानना चाहते हैं ?

श्यामसिंह–जी हाँ !

रामसिंह–मुझे इन चारमेंसे किसीने नहीं पकड़ा ।

श्यामसिंह–फिर किसने पकड़ा ?

रामसिंह–वह जो कोनेमें कुल्हाड़ी लिये लकड़हारा खड़ा है, उसीने पकड़ा है । उसे इनामका एक लाख दीजिये ।

श्यामसिंहने इशारेसे जंगलीको अपने पास बुलाया ।

श्यामसिंह–सच कहो । मामला क्या है ?

जंगलीने आरम्भसे अन्ततक सारा किस्सा सच्चा बयान कर दिया ।

श्यामसिंहने कहा–'इन चारोंपर सौ-सौ जूते फटकार कर दरबारसे निकाल दिया जाय ।'

सिपाही लोग झपटे । चारोंको मार-पीट बाहर कर दिया । एक लाख रुपये देकर जंगलीको भी विदा कर दिया गया ।

(५)

श्यामसिंहने गद्दीपरसे कूदकर रामसिंहको छातीसे लगा लिया । फिर बोले—'जैसा सुना था—वैसे ही आप निकले । परोपकारके लिये अपनी जान भी खतरेमें डाल दी ? मैं सात जनम भी आपके चरण-रजकी समानता नहीं कर सकता । अपना राज्य लीजिये, अपना महल लीजिये और खजाना सँभालिये । मैंने आपकी परीक्षा कर ली । आप नामवरीके योग्य हैं ।'

तीन दिन मिहमानी खाकर राजा श्यामसिंह अपनी सेना लेकर अपने देशको चला गया ।

गद्दीपर बैठकर राजा रामसिंहने दरबारमें कहा—

'अपने शत्रुको मत मारो । उसमें भी जीवात्मा है । किसी उपायसे शत्रुताको मार डालो । बस—शत्रुको मानो जीत लिया ।'

आराध्य

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी०ए०, एल्-एल्०बी०)

(१)

तुम मुझसे दूर नहीं। मनमें बसे हो; आँखोंमें भरे हो।
ऐसा लगता है, मेरी पहुँचके भीतर हो; हाथ बढ़ाते ही पकड़ लूँगा।
इतने स-छवि हो उठे हो मेरे निकट !!
पर हाथ बढ़ाते ही—
ओझल नहीं होते; और चमक उठते हो,
पर अँगुलियोंके छोरसे तनिक दूर,—हाँ, तनिक ही दूर।
एक बार, दो बार, बार-बार कहानी एक-सी ही रही।

(२)

मेरे पास सब कुछ है—वह सब कुछ, जिसकी दुनियाँमें कीमत है।
दुनियाँके लिये उस सबमें सौन्दर्य है और है सुख। उसकी विकृति तो मेरी ही एकान्त अनुभूति है।
तुम मेरे पास हो, फिर भी मेरे पास नहीं। पास होते हुए भी पहुँचसे, पकड़से दूर।
मेरी चाह है, ललक है—तुममें सान्निध्यकी।
उसके लिये मैं सब कुछ सदैव छोड़नेको प्रस्तुत रहता हूँ।
पर वही प्राप्त नहीं।
सब मुझसे अधिकाधिक लिपटे जा रहे हैं, पर मैं तो तुम्हारा स्पर्श चाहता हूँ।

(३)

ये सब मुझे भरमा सकते हैं, पर भुला नहीं।
मैं तुम्हें भूल नहीं पाता।
और—भूलूँगा भी नहीं।
मुझे कीर्ति नहीं चाहिये; वैभव नहीं चाहिये, यदि इसका अर्थ तुमसे दूर रहना है।
मैं इन सबको अपने पैरोंकी जंजीर न होने दूँगा। ये मेरी प्रगति न रोक पायेंगे।
मैं तो चलूँगा—चलता रहूँगा, जबतक तुम्हें गोदमें न भर लूँ।
और यदि कभी भी यह सुखद घड़ी न आयी,
तो—
चलता रहूँगा, चलता रहूँगा—क्यारियाँ रौंदते, झाड़ियाँ रौंदते,
तुम्हारी ओर, तुम्हें ही पकड़ने, मुस्कुराते या पैरोंमें काँटोंकी चुभन लिये, कंकड़ोंकी हूक लिये,
जबतक जीवनकी धड़कन है;
मेरा अस्तित्व है।

कामके पत्र

(१)

मान-बड़ाईसे बचिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपा-पत्र मिला। आपका यह लिखना ठीक है कि 'यदि लोगों-का उपकार होता हो तो अपनेको सम्मान स्वीकार करनेमें भी क्यों असम्मत होना चाहिये । बिना श्रद्धाके कोई भी मनुष्य हमारे बतलाये हुए मार्गपर चलता नहीं और श्रद्धा होनेपर सम्मान स्वाभाविक हो ही जाता है । यदि उस सम्मानमें हमारी कोई आसक्ति नहीं है तो फिर हमें उसमें क्या हानि है और क्यों हमें उसका विरोध करना चाहिये ?' इसका उत्तर यह है कि यदि आपका मन सर्वथा अनासक्त हो गया है तब तो आपके लिये कोई हानि नहीं है, परंतु उसमें भी लोकसंग्रहकी दृष्टिसे तो हानि है ही । मान लें, आप अनासक्त हैं पर सब लोग तो अनासक्त नहीं हैं; आपकी देखा-देखी उन सम्मान चाहनेवाले लोगोंको मान प्राप्त करनेमें सुविधा होगी, वे इससे अनुचित लाभ उठाना चाहेंगे और फलतः उनका पतन होगा । इस दृष्टिसे भी मानका स्वीकार करना अनुचित है । परंतु असल बात तो दूसरी ही है । मान-बड़ाईकी वासना इतनी सूक्ष्मरूपसे मनमें रहती है कि बहुत बार तो उसके अस्तित्वका प्रत्यक्ष पता ही नहीं लगता। कई बार मन ऐसा धोखा देता है कि कर्तव्य और धर्मके सुन्दर सुनिर्मल स्वरूपमें वह मोहको लाकर सामने खड़ा कर देता है और मनुष्य उसके वशमें होकर भगवान्‌के बदले मायाकी गुलामीमें लग जाता है । वह समझता है, मैं सेवा कर रहा हूँ, लोकोपकार कर रहा हूँ, और करता है तुच्छ मान-बड़ाईका दासत्व ! ऐसा भी देखा गया है कि 'अमुक व्यक्ति जरा भी सम्मान नहीं चाहता, कितना बड़ा त्यागी संत है' लोगोंके द्वारा इस प्रकार समझे जाने तथा कहलानेके लिये मनुष्य मिलते हुए सम्मानका तिरस्कार कर देता है । असलमें अपना मन ही इस रहस्यको जान सकता है । पर मान-बड़ाईकी प्राप्तिमें यदि मनमें हर्ष होता हो तो जान लेना चाहिये कि मान-बड़ाईमें आसक्ति और कामना है, चाहे वह ऊपरसे न प्रतीत होती हो ।

पर लोकोपकारके नामपर मान-बड़ाईका स्वीकार करना तो अधिकांशमें धोखेकी ही चीज है । मेरी तो ऐसी ही समझ है । आपकी स्थिति किस प्रकारकी है, मैं नहीं जानता; परंतु आपकी बातोंमें मुझे तो धोखा अवश्य मालूम होता है । इसीलिये मैं आपसे पुनः सावधान रहनेके लिये नम्र अनुरोध करता हूँ। लोगोंमें भजन-सत्सङ्गका प्रचार हो यह बहुत अच्छी बात है; परंतु उसका साधन 'आपका सम्मान' हो, यह आवश्यक नहीं है बल्कि यह हानिकारक है। और इसका परिणाम भजन-साधनको प्रायः घटानेवाला ही होगा, ऐसी मेरी धारणा है । जो लोग सभाओंमें मानपत्रादि स्वीकार करते हैं, आनन्दका आस्वादन करते हुए अपने मुँहपर अपनी मिथ्या प्रशंसाके गीत, काव्य और भाषण सुनते हैं और उसमें रसका अनुभव करते हैं, वे तो निश्चय ही अपने हाथों अपनी हानि कर रहे हैं । आप यह निश्चय मानिये कि मुँहपर बड़ाई करनेवालोंकी अधिकांश बातें अत्युक्तिपूर्ण और मिथ्या होती हैं । ऐसी प्रशंसाको सुनकर जो लोग अपनेको बड़ा मान लेते हैं वे वस्तुतः बुद्धिहीन हैं । सच्ची बात तो यह है कि हमारी निन्दा करनेवालोंमें लगभग आधेसे अधिक सच्ची निन्दा करने-वाले और फलतः हमें लाभ पहुँचानेवाले होते हैं । जो लोग प्रशंसा सुनकर तनिक भी हर्षके विकारसे ग्रस्त नहीं होते और निन्दा सुनकर धीरताके साथ

गहराईसे आत्मनिरीक्षण करने लगते हैं, वे ही सच्चे बुद्धिमान् साधक हैं । ×××× शेष भगवत्कृपा ।

(२)

भगवान्में विश्वास करके स्वस्थ हो जाइये

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपकी स्थिति अवश्य शोचनीय है; परंतु निराश होने-जैसी कोई बात नहीं है और इस बातको लेकर आत्महत्या करनेका विचार तो सर्वथा ही अनुचित है। प्रथम तो आत्महत्या स्वयं एक महापाप है । आत्महत्या दुःखसे छुटकारा पानेका साधन नहीं, बल्कि दुःखरूपी ग्रन्थका एक बड़ा अध्याय और भी बढ़ानेवाला है । आत्महत्या करनेवालेको परलोकमें भीषण यन्त्रणा और अशान्तिका भोग करना पड़ता है । दूसरे, यह बात भी ऐसी नहीं है कि जिसके लिये यहाँतककी बात सोचना आवश्यक हो ।

आजकल लड़कोंके और लड़कियोंके पूर्ण तरुण अवस्था होनेके पश्चात् विवाह होते हैं । स्कूल-कॉलेज और छात्रावासोंके अनियन्त्रित ही नहीं, बल्कि मन-इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाले वातावरणमें उन्हें रक्खा जाता है । गंदे शृङ्गारसे पूर्ण सिनेमा आदि देखे-सुने जाते हैं और कहीं-कहीं युवक-युवतियोंकी साथ-साथ पढ़ाई होती है । ऐसी अवस्थामें जीवन सर्वथा निर्दोष रहे, अपरिपक्व-बुद्धि तरुणोंमें कोई बुरी आदत न आ जाय, यह सोचना भी एक प्रकारसे पागलपन है । अरण्यवासी आचार्य-ऋषियोंके तपःपूत आश्रमोंमें सुनियन्त्रित कठोर नियमोंसे आबद्ध संयमपूर्ण जीवनमें भी 'व्रतसे स्खलन न हो जाय', इसके लिये सावधानी रखनी पड़ती थी । तब आजकलके छात्रोंमें बुरी आदतोंका आ जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं । पर आपने जो स्थिति लिखी है उससे यह मालूम होता है कि आपको सन्देह हो गया है । वास्तवमें आपमें वह रोग नहीं है, जिसकी आप सम्भावना करते हैं । मेरे एक परिचित नवयुवक, जिन्होंने सर्वथा अपनेको इस रोगसे ग्रस्त मान लिया था, इस समय चार सन्तानोंके पिता हैं । अतएव आपको संदेह नहीं करना चाहिये और पिता-माताके इच्छानुसार विवाह कर लेना चाहिये । विवाह होनेपर, आशा है, आपकी शिकायतें दूर हो जायँगी । इस बीचमें आप प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रका जप कीजिये । पवित्र धर्मग्रन्थोंका अध्ययन कीजिये और रात्रिके समय एकान्तमें मत सोइये । मनमें बार-बार ऐसा निश्चय कीजिये 'मैं नीरोग हूँ', 'मुझमें अमुक रोग बिल्कुल नहीं है ।' 'मैं स्वस्थ हूँ ।' 'कोई भी बुरे विचार और बुरी आदत मुझमें नहीं रह सकती; क्योंकि सर्वशक्तिमान्, नित्य निरामय भगवान्ने मुझको अपना लिया है ।' 'मैं उनका हो गया हूँ ।' 'उनके संरक्षणमें हूँ ।'

इस प्रकार प्रयत्न कीजिये । आशा है आप बहुत शीघ्र अपनेको स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीरका पायेंगे । भगवान्में और अपने आत्मामें श्रद्धा रखिये और स्वस्थ हो जाइये । विशेष भगवत्कृपा ।

(३)

भगवान्के सामने निर्दोष रहें

प्रिय बहिन, सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपके पतिदेव आपके चरित्रपर मिथ्या सन्देह करते हैं और इससे आपको बड़ा दुःख है । सो तो ठीक ही है । निर्दोषके प्रति दोषारोपण होनेपर उसे स्वाभाविक ही बहुत दुःख होता है, पर उसे विश्वास रखना चाहिये कि वह यदि भगवान्के दरबारमें निर्दोष है तो उसको वस्तुतः कोई भी दोषी नहीं बना सकता । मनुष्यको ऐसा कोई भी दोषयुक्त कार्य कभी छिपकर भी नहीं करना चाहिये जिससे भगवान्की दृष्टिमें वह दोषी सिद्ध हो । बाहरसे कोई बहुत भला आदमी बना रहे, सब लोग उसे भला समझें और उसके मनमें दोष भरे हों, उसका भीतरी जीवन अपराधोंसे कलुषित हो

तो उसके बाहरके भलेपनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वह अपने-आपको धोखा देता है। भगवान् तो धोखा खा नहीं सकते। पर जो किसी पूर्वजन्मके कर्म-फलके भोगरूपमें यहाँ दोषी, अपराधी, कलङ्की कहलाता है पर वस्तुतः उसमें दोष नहीं है, अन्तरसे परम पवित्र है, तो वह यहाँ चाहे जितना बदनाम हो जाय, भगवान् उसे कभी दोषी नहीं मानते, और उसीका महत्त्व है। आप अलग रहने या अन्य किसी प्रकारसे कुछ करनेका कभी विचार न करें। सच्चे प्रेम, श्रद्धा तथा लगनके साथ पतिदेवकी सेवा करती रहें, उनके अनुकूल चलती रहें, अपने व्यवहार-बर्तावसे उनके हृदयपर अपनी भलाईका प्रभाव डालें। साथ ही इस कलङ्कभञ्जनके लिये मन-ही-मन कातर तथा आर्तभावसे भगवान्‌से प्रार्थना भी करती रहें। कुछ ही समय बाद आपके पतिदेवका मन आपके प्रति शुद्ध हो जायगा। आपकी आभ्यन्तरिक शुद्धि तथा व्यावहारिक सच्ची सेवाका असर पड़े बिना रहेगा ही नहीं। धैर्य रक्खें और पवित्र चित्तवृत्ति, बुद्धिमानी, दृढ़ आस्था, भगवद्विश्वास, श्रद्धा, नम्रता, सेवाभाव तथा सरल निष्कपट मधुर व्यवहारके द्वारा अपना प्रभाव-विस्तार करती रहें। वे कैसे मानते हैं, इसकी ओर दृष्टि न रखकर अपने चरित्रकी पवित्रता और सेवाभावपर विशेष ध्यान रक्खें। अपने-आप ही धीरे-धीरे उनका चित्त आपके प्रति अनुकूल होता जायगा।

संसारमें झूठे कलङ्क भी लग जाया करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णपर भी मणि चुरानेका लोगोंने सन्देह कर लिया था। इसलिये घबराइये नहीं। किसी भी हालतमें सत्य और पवित्र चरित्रसे च्युत मत होइये। अन्तमें सत्यकी विजय होगी ही। आँधी आयी है, सो निकल जायगी। फिर वही निर्मल प्रकाश होगा, फिर वही यथार्थ दृष्टि होगी और उसमें सुखकी अनुभूति होगी।

सबसे आवश्यक वस्तु है भगवद्विश्वास। आप उसीका आश्रय लेकर भगवान्‌से प्रार्थना करती रहें। प्रार्थनामें बड़ी शक्ति है। उससे भगवत्कृपाकी अनुभूति होती है और भगवत्कृपा समस्त प्रतिकूलताओंको सहज ही अनुकूल बना देती है—

जा पर कृपा राम कर होई। ता पर कृपा करहिं सब कोई॥
गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

आपके मनमें भगवत्प्रेम है और प्रभुकी समीपता प्राप्त करनेके लिये आप व्याकुल हैं सो यदि ऐसी बात है तो आपका बड़ा ही सौभाग्य है। सब कुछ खोकर भी मनुष्य यदि भगवत्प्रेम प्राप्त कर ले और प्रभुकी सन्निधि प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो जाय तो जानना चाहिये कि उसका जीवन सफल हो गया। पर ऐसा माननेमें बहुत बार भ्रम होता है। मनुष्यके मनमें व्याकुलता होती है सांसारिक अनुकूलताकी प्राप्तिके लिये, और वह मान बैठता है भगवान्‌की समीपताके लिये। जिस भाग्यवान्‌के चित्तमें भगवान्‌के लिये जब यथार्थ व्याकुलता जाग्रत् हो जाती है तब भगवान् उससे अलग नहीं रह सकते। जब क्षणमात्रका विलम्ब वस्तुतः असह्य हो जाता है तब क्षणमात्र बीतनेके पहले ही प्रभु उसके पास पहुँच जाते हैं। आपके मनमें प्रभुके लिये जितना भी प्रेम और जितनी भी व्याकुलता है, वही बहुत सौभाग्य है! आप इस प्रेम तथा व्याकुलताको बढ़ाइये पर इस बातको याद रखिये और आपके लिखनेके अनुसार आप यह भूल भी नहीं रही हैं कि आर्य-स्त्रीके लिये भगवान्‌की प्राप्ति पतिरूप परमेश्वरके द्वारा ही होती है। पति कितनी ही उपेक्षा करें, आप उपेक्षा न करें। आर्य-स्त्री पतिके द्वारा परित्यक्ता होनेपर भी पतिकी मङ्गलकामना करती है और इसीमें अपना सौभाग्य समझती है। आप भी इसी आदर्शका अनुकरण कीजिये।

आपको विद्यासे बहुत अनुराग है, सो बड़े

आनन्दकी बात है, विद्या वस्तुतः बड़ी ही उत्तम वस्तु है। असली विद्या तो अध्यात्मविद्या है जिसके द्वारा भगवान्‌की पहचान होती है। ....शेष भगवत्कृपा।

(४)

मृत्युपर शोक नहीं करना चाहिये

प्रिय भाई, सप्रेम हरिस्मरण। कुछ दिनों पूर्व तुम्हारा लिखा एक कार्ड मिला था।........उस दिन अकस्मात् श्री........के पत्रसे भाई........की बीमारीका समाचार मिला और तीसरे ही दिन उनके शरीर-त्यागका समाचार मिल गया! शरीरके सम्बन्धको लेकर लौकिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह बड़ी ही दुःखद घटना प्रतीत होती है। मेरे प्रति उनका जो प्रेमभाव था, उसकी इस समय तीन दिनोंसे बहुत ही स्मृति हो रही है। उनके-जैसे सरल हृदय निष्कपट पुरुष इस युगमें बहुत ही थोड़े हैं। उनमें कई आदर्श गुण ऐसे थे जिनकी स्मृति और अनुशीलनसे जीवनमें पवित्रताका सञ्चय हो सकता है। सत्सङ्गी भाइयोंमें उनके-जैसे दम्भ और मत्सरसे रहित श्रद्धालु पुरुष विरले ही हैं। उनके-जैसे पुरुषका हमलोगोंके बीचसे उठ जाना अवश्य ही मर्मभेदी है और ऐसी अवस्थामें चित्तका शोकाकुल होना स्वाभाविक ही है, परंतु भैया! शरीरका यह परिणाम अवश्यम्भावी है। दो दिन आगे-पीछे सबकी यही गति होनेवाली है। हमलोगोंको शोक होता है ममत्व और स्वार्थवश। जिसमें ममत्व नहीं होता या किसी स्वार्थसाधनकी तनिक भी आशा नहीं होती, उसके वियोगमें दुःख नहीं होता। शत्रुभाव होनेपर तो मनुष्यको उसकी मृत्युमें द्वेषवश सुख होता है। पुत्रशोकसे व्याकुल राजा चित्रकेतुको समझानेके लिये नारदजीने जब राजपुत्रके आत्मासे अनुरोध किया तब उस आत्माने राजासे कहा कि 'तुम मेरे लिये क्यों शोक कर रहे हो? मैं अपने कर्मवश देव-मनुष्य, पशु-पक्षी आदि विविध योनियोंमें भटका करता हूँ। वहाँ किस योनिमें तुम लोग मेरे माता-पिता होते हो। मेरे मर जानेपर तुम्हें मुझे पुत्र समझकर शोक हुआ है, उसके बदले मुझे तुम शत्रु समझकर हर्ष क्यों नहीं मानते? क्योंकि ये शत्रु-मित्र और पिता-पुत्रके सम्बन्ध तो बदलते ही रहते हैं। शरीरके सम्बन्धसे ही ममत्वके कारण दुःख-सुख होता है। आत्मा सङ्गरहित, पुत्र-पिता और शत्रु-मित्रादि भावसे रहित और नित्य है, वह सुख-दुःखादि कुछ भी नहीं भोगता। तुमलोग मुझे अपना पुत्र क्यों समझते हो, मेरा तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।'

भाई! यहाँके सभी सम्बन्ध आरोपित हैं। अपना-अपना कर्मफल भोगनेके लिये जीव विविध योनियोंमें आते हैं, और कर्मफल भोगकर चले जाते हैं। इसमें शोककी वास्तवमें कोई बात नहीं है। फिर........की मौत जैसी परिस्थितिमें हुई है, वह तो ईर्ष्या उत्पन्न करनेवाली है। मृत्युका ऐसा सुअवसर किसको कब मिलता है। पुण्यभूमि ऋषिकेशमें ब्रह्मद्रवरूपा भगवती भागीरथीके पावन तटपर भक्तोंसे घिरे हुए, भगवन्नाम-कीर्तन और श्रीगीताजीकी पतितपावनी ध्वनिको कर्णपथसे हृदयमें धारण करते हुए और सच्चे महात्मा पुरुषोंके आश्रयमें शरीर-त्यागका सौभाग्य सहज ही किसको मिलता है? यह तो भाई श्री....के पुण्यपुञ्जका प्रभाव और उनकी जीवनमयी सत्सङ्गति और भगवच्छरणागतिका दुर्लभ फल है। ऐसी मृत्यु चाहनेपर नहीं मिलती। जब अभिमन्युके निधन होनेपर पाण्डव-परिवार शोकसागरमें डूबने लगा, श्रीसुभद्राजीकी दशा शोचनीय हो गयी तब श्रीभगवान्‌ने उनसे कहा था—

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं वीरजा वीरबान्धवा।
मा शुचस्तनयं भद्रे! गतः स परमां गतिम्॥

तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च।
सन्तो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रकः॥
(महा० द्रोण० ७७ । १६-१७)

ये चान्येऽपि कुले सन्ति पुरुषा नो वरानने।
सर्वे ते तां गतिं यान्तु ह्यभिमन्योर्यशस्विनः॥
(महा० द्रोण० ७८ । ४१)

'हे भद्रे ! तुम वीरमाता हो, वीरपत्नी हो, वीरपुत्री हो और वीरकी बहिन हो । तुम्हारा पुत्र परमगतिको प्राप्त हुआ है, उसके लिये शोक न करो । तुम्हारे पुत्रको वही दुर्लभ गति मिली है जिसको संतगण तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और प्रज्ञासे प्राप्त करना चाहते हैं । मैं तो यह चाहता हूँ कि हमारे कुलमें और भी जो लोग हैं, सब इसी यशस्वी अभिमन्युकी गतिको प्राप्त करें ।'

अतएव·······का आदर्श मरण देखकर, भैया ! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये । माताजीको मेरा सादर यथायोग्य कहकर मेरी ओरसे उन्हें समझाना चाहिये । उन्हें अपने मनमें इस बातका गौरव करना और अपना सौभाग्य समझना चाहिये कि वे इस प्रकारकी दुर्लभ मृत्यु पानेवाले पुण्यशील पतिकी धर्मपत्नी हैं । पतिके सुखमें सुखी होनेवाली पत्नीको पतिकी शुभगति होते जानकर प्रसन्न ही होना चाहिये । जिस बातमें पतिकी आत्माको सुख हो, उसका कल्याण हो, वह बात देखनेमें परम दुःखप्रद होनेपर भी प्रेमके कारण पत्नीके मनमें सुख उपजानेवाली होनी ही चाहिये । पतिव्रता अपना सुख नहीं चाहती, वह पतिको सुखी देखकर ही सुखी होती है, चाहे पतिका वह सुख लौकिक दृष्टिसे अपने लिये कितना ही दुःखजनक माना जाता हो ।

भैया ! वियोग और संयोगमें जो दुःख और सुख होता है, वह अपने ही लिये होता है । हम वियोगमें अपनेको किसी लाभसे वञ्चित और संयोगमें लाभसे समन्वित समझते हैं, इसीसे हमें दुःख-सुखकी प्रतीति होती है । हमें उस जीवके सुख-दुःखका उतना खयाल नहीं होता । पर प्रेममें इस खयालकी बड़ी आवश्यकता है । फिर एक बात यह भी खयालमें रखनेकी है कि अनित्य वस्तुका नित्य संयोग असम्भव है । यह तो भगवान्‌की लीला है । हम सब उसके इस जगन्नाटकमें लीलापात्र हैं । घर स्टेज है, इसमें अभिनेताओंको अपना-अपना पार्ट करना है । यहाँ अपना कौन है । नये-नये सीन आयेंगे ही, यह समझकर शोकको नष्ट करना चाहिये। जब आत्मा अविनाशी है और शरीर क्षणभङ्गुर है ही तब शोक कैसा ? तुम गीता पढ़ते हो । तुम्हारी सत्सङ्गमें प्रीति है । अभी घरके मोहमें आसक्त भी नहीं हो । इससे सम्भव है तुमको शोक कम होगा। परंतु माताजीका शोक सहज नहीं है । मेरा तुमसे यह अनुरोध है कि तुम अब यथासाध्य सभी प्रकारसे माताजीको सन्तुष्ट रखनेकी चेष्टा करना । तुम्हारा प्रत्येक बर्ताव उनके दुःखानलमें शीतल जलकी धारा बहानेवाला होना चाहिये । भूलकर भी ऐसा कोई व्यवहार न कर बैठना, जो शोककी आगमें आहुतिका काम दे । तुम्हारा परम कल्याण मेरी समझसे अब माताजीके चित्तको सन्तोष पहुँचानेमें ही है । इसीको भगवत्सेवा समझकर करना चाहिये ।

भैया ! संसार अस्थिर है, यहाँ सभी कुछ जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिशील है । इस अस्थिर, अनित्य और दुःखालयमें स्थिरता, नित्यता और सुख कहाँ है ? इसमें जो आनन्द है वह तो नित्य, सनातन, अचल, अनन्त श्रीभगवान्‌के आनन्दरूपको लेकर ही है । उसे पानेपर फिर दुःखका स्वप्नमें भी लेश नहीं रहता और उसकी प्राप्ति न होनेतक लौकिक दृष्टिसे ऊँची-से-ऊँची अवस्थामें भी चित्तमें दुःखका दावानल धधकता रहता है । इसीसे श्रीभगवान्‌ने घोषणा की है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

माताजीको धीरज बँधाना, समझाना और सेवाद्वारा उनके दुःखको हल्का करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम भी मनमें साहस, धैर्य रखना। विवेक और भगवच्छरणागतिके भावोंसे चित्तको क्षोभरहित बनाये रखनेका प्रयत्न करना।

मैं तुम्हें लिखनेको तो बहुत लिख गया। परंतु········की स्मृतिसे मेरा चित्त भी विगलित हुआ जा रहा है। काशीमें मेरे तो वे एक बड़े भारी आधार थे; परंतु इस स्मृतिसे क्या होता है।

(५)

भविष्यके लिये शुभ विचार कीजिये

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी पारिवारिक स्थितिसे आपको असन्तोष है, पिताजीके व्यवहारसे आपको क्षोभ होता है और आप आवेशमें आकर गृह-त्यागका और कभी-कभी देह-त्यागका विचार करते हैं। सो मेरी समझसे आपको ऐसा विचार भूलकर भी नहीं करना चाहिये। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है जिसके मनकी ही सब बातें होती हों। भगवान्‌का मङ्गल विधान मानकर प्रतिकूलतामें अनुकूलताका अनुभव करनेसे ही चित्तमें शान्ति हो सकती है। जहाँ आप भगवान्‌के मङ्गल विधानमें विश्वास करने लगेंगे, वहीं लौकिक परिस्थिति भी बदलने लगेगी। प्रतिकूल भी अनुकूल होने लगेंगे। पर वे न भी होंगे, तो भी आपका क्षोभ तो मिट ही जायगा। भावी जीवनको सङ्कटमय न देखकर सुखमय देखनेका सङ्कल्प कीजिये। जो मनुष्य रात-दिन दुःख, क्लेश, सङ्कट और असफलताका चिन्तन करता है, वह क्रमशः दुखी, क्लेशित, सङ्कटापन्न और असफल ही होता है। मनुष्यकी अपनी जैसी दृढ़ भावना होगी, वैसी ही परिस्थितिका निर्माण होगा और अन्तमें वह वैसा ही बन जायगा। आपके भगवान् सर्वसमर्थ हैं, आपके परम सुहृद् हैं, उनकी कृपापर विश्वास करके भविष्यको अत्यन्त उज्ज्वल तथा सुखमय देखनेका अभ्यास कीजिये। ध्रुव, प्रह्लाद, भरत आदिके इतिहासको याद कीजिये। भगवान्‌की कृपासे क्या नहीं हो सकता और उनकी कृपा आपपर अपार है। इस बातपर विश्वास कीजिये। भगवान्‌ने अपनेको स्वयं समस्त प्राणियोंका सुहृद् बतलाया है। आप घबराइये नहीं। मनमें जो देहत्याग आदिके असत् विचार आते हैं इनको निकालकर मनमें बार-बार ऐसे विचार लाइये कि आप सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर अकारण प्रेमी भगवान्‌के परम प्यारे हैं। उनकी कृपा-सुधाधारा निरन्तर आपपर बरस रही है। आप उनके लाड़ले पुत्र हैं। उनकी कृपासे आपकी सारी विपदाएँ, सारी अड़चनें स्वतः ही दूर हो जायँगी। उनकी घोषणा है—'तुम मुझमें चित्त लगा दो, मेरी कृपासे सारी कठिनाइयोंसे तर जाओगे।' आपकी प्रत्येक स्थितिसे वे परिचित हैं और सदा आपके कल्याण-साधनमें लगे हैं। उनकी कृपाशक्तिके सामने, आपपर विपत्ति डालनेवाली कोई भी शक्ति कुछ भी नहीं कर सकेगी। आपकी वे सब प्रकारसे वैसे ही रक्षा करेंगे, जैसे स्नेहमयी माता बच्चेकी रक्षा करती है। आप किसी प्रकार भी निराश, उदास और विषादग्रस्त मत होइये। भविष्यको सङ्कटापन्न और अन्धकारमय देखनेका अर्थ है, भगवान्‌की कृपापर विश्वास न करना। आप जप-कीर्तन तथा भजन करते हैं सो बड़ी अच्छी बात है पर जप-कीर्तन और भजनका प्राण तो भगवान्‌पर विश्वास है। विश्वासहीन भजन निष्प्राण होता है। घरवाले यदि आपके भजन-कीर्तनसे नाराज हैं तो मन-ही-मन भजन कीजिये। मन-ही-मन करनेको कोई भी नहीं रोक सकता। शेष भगवत्कृपा।

(६)

भगवद्भक्तिसे हानि नहीं होती

प्रिय बहिन ! आपका पत्र मिला । आप लड़कपनसे ही यथाशक्ति पूजन-पाठ तथा जप करती हैं । आपके दो पुत्र चले गये । अब तीसरा बच्चा हुआ है । पर आपकी माताजी कहती हैं कि 'इस पूजा-पाठके कारण ही पहले बच्चे मर गये थे । तुम्हारे पूजा-पाठसे इस बच्चेका भी अनिष्ट हो जायगा ।' सो यह उनका भ्रम है । भलेका फल कभी बुरा नहीं हो सकता । भगवान्‌की भक्ति, भगवान्‌के नाम-जप तथा अपने घरमें भगवान्‌की पूजा करनेका सभीको अधिकार है । स्त्री हो या पुरुष—यह सभीके लिये मङ्गलकारी कार्य है । भगवान्‌की भक्तिसे पुत्रोंके मरनेका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण सब प्रारब्धके फल हैं । भगवद्भक्तिसे तो सकामभाव होनेपर ये प्रारब्धके विधान उलटे टल सकते हैं । न टलें तो भी अमङ्गल तो होता ही नहीं । मनुष्य-जीवनकी सफलता ही भगवान्‌की भक्तिमें है । आपको बड़ी नम्रता, विनय तथा सेवा करके माताजीको यह बात समझानी चाहिये । विवाद-झगड़ा कभी नहीं करना चाहिये ।

फिर भी यदि माताजीको इससे बहुत ही दुःख होता हो तो आप धीरे-धीरे अपने भक्तिके भावको मनके अंदर ले जाइये । मनसे आप भगवान्‌को याद करेंगी, उनकी मानसिक पूजा करेंगी तो उससे कोई आपको रोक नहीं सकता । न किसीको पता ही लग सकता है । फिर किसीकी नाराजीका कोई प्रश्न ही नहीं रह जायगा । और असलमें जितना महत्त्व मानसिक भावोंका है, उतना बाहरी पूजाका है भी नहीं । पर इसका यह अर्थ नहीं मानना चाहिये कि मैं बाहरी पूजाका निषेध करता हूँ । बाहरी पूजा भी अवश्य करनी चाहिये परंतु भीतरीके साथ-साथ । और जहाँ-कहीं उससे कोई उपद्रव खड़ा होता हो, (चाहे वह किसीकी भूलसे हो) वहाँ तो ज्यादा अभ्यास भीतरीका ही करना चाहिये ।

अन्तमें आपकी माताजीसे भी मेरी प्रार्थना है कि वे इस वहमको छोड़ दें । भगवान्‌की भक्ति और पूजा स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं और भगवान्‌की भक्ति-पूजासे लोक-परलोकमें कल्याण ही होता है । उसको रोकना, भक्ति करनेवालेका विरोध करना पाप है और उससे परिणाममें दुःख होता है । घरवालोंका तो यह परम धर्म होना चाहिये कि वे समझाकर, विनय करके, सेवा करके सभी घरवालोंको भगवान्‌की भक्तिके मार्गमें लगावें । वही सच्चा घरका मित्र, बन्धु और हितैषी है जो अपने घरवालों, मित्रों और बन्धुओंको भगवान्‌की ओर लगाता है—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान तें प्यारो ।
जासों होय सनेह राम-पद एतो मतो हमारो ॥

शेष भगवत्कृपा ।

श्रीमान् लाल साहेब श्रीशरणसिंहजीने गीताकी टीकाके सम्बन्धमें श्रीजयदयालजी गोयन्दकाको पत्र लिखा था, उसका उत्तर श्रीजयदयालजीने निम्नलिखित रूपसे दिया था, जो उनके इच्छानुसार प्रकाशित किया जाता है । 'आपने कहा तुम अपनी टीकापर ऐसा चिह्न बना दो जिसमें तुम्हारे समाजकी टीका मालूम हो सो यह चिह्न तो उसपर अपने-आप ही बना है । टीकाकारके स्थानपर मेरा नाम है ही और भूमिकामें सब कुछ लिख दिया है ही ।' इसपर भी कोई न समझें तो उनको समझानेका काम आपका है ।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस समय समस्त विश्वमें हाहाकार मचा है। सब ओर अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, कलह, कलुष, संग्राम और संहार बढ़ रहे हैं। धर्म तथा ईश्वरके प्रति बढ़नेवाली अश्रद्धासे मनुष्य पिशाच हुआ चला जा रहा है। इसीसे आधिदैविक दुःख भी बढ़ रहे हैं। भूकम्प, बाढ़, अवर्षा, अकाल, अन्नकष्ट, व्याधि आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। पता नहीं, ये उपद्रव कितने और बढ़ेंगे। ऐसी दशामें इस विपत्तिसे त्राण पानेके लिये श्रीभगवान्‌का आश्रय ही एकमात्र उपाय है। भगवदाश्रयके लिये भगवन्नामका आश्रय आवश्यक है। भगवन्नामसे ऐसा कौन-सा विघ्न है जो नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है जो नहीं मिल सकती। प्रतिबन्धक प्रबल होनेपर देर भले ही हो जाय, परंतु नामका अमोघ फल तो होगा ही। इस घोर कलियुगमें तो जीवोंके लिये भगवन्नाम ही एकमात्र अवलम्बन है। अतएव भारतवर्ष तथा समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये तथा साधकोंके परम लक्ष्य एवं मानव-जीवनके परम ध्येय भगवान्‌की प्राप्तिके लिये सबको भगवन्नामका जप-कीर्तन करना चाहिये। 'कल्याण' के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक तथा सभी पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं। प्रतिवर्षकी भाँति गतवर्ष २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी। प्रसन्नताकी बात है कि चार सौसे अधिक स्थानोंसे सहस्रों नर-नारियोंने करोड़ों मन्त्रोंका जप किया है। स्थानोंकी सूची और मन्त्र-संख्या आगामी अङ्कमें प्रकाशित की जायगी। हम इन सभी जापकोंके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं।

इस वर्ष भी अपने देशके, धर्मके तथा विश्वके कल्याणके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करके 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंको नाम-जप करना-कराना चाहिये। गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी २० करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की जाती है। आगामी कार्तिक शुक्ला १५ से जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ल १५ तक हो। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्‌का नाम इतना प्रभावशाली होनेपर भी इसका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण' के भगवत्-विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे करवायें। नियमादि सदाकी भाँति हैं।

यह आवश्यक नहीं कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न

हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है । किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं । भगवन्नामका जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है । भगवन्नामकी शरणागति अमोघ है और वह महान् भयसे तारनेवाली होती है ।

जो लोग जपका नियम करें-करावें, वे नीचे लिखे अनुसार जोड़कर सूचना भेजनेकी कृपा करें ।

मेरा तो विश्वास है कि यदि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो शीघ्र ही हमारी प्रार्थनासे भी बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है । अतएव सबको इस महान् पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये ।

१. जप किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, इस नियमकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ को समझनी चाहिये । उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत उत्तम है ।

२. सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

३. प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये ।

४. सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें । जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं । सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल अपना नाम और पता लिख भेजें ।

५. संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं । उदाहरणार्थ—यदि ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिन मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है । जिसमें भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद कर देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं । जिस दिनसे जो भाई जप करें उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब भी इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये ।

६. संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है ।

७. सूचना भेजनेका पता—नाम-जप-विभाग 'कल्याण' कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—हनुमानप्रसाद पोद्दार
कल्याण-सम्पादक

रसना साँपिनि, बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम ।
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम ॥
राम नाम रति, राम गति, राम नाम बिस्वास ।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल, चहुँ दिसि तुलसीदास ॥

प्रकाशित हो गयीं !

तीन नयी पुस्तकें !!

पातञ्जलयोगदर्शन

हिंदी-व्याख्यासहित

(व्याख्याकार—श्रीहरिकृष्णदास गोयन्दका)

आकार २०×३०-१६ पेजी, सचित्र, पृष्ठ १७६, मूल्य ।।।), डाकव्यय ।≡); सजिल्द १), डाकव्यय ॥)

इसमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन सम्पूर्ण मूल, उसका शब्दार्थ एवं प्रत्येक सूत्रका दूसरे सूत्रसे सम्बन्ध दिखाते हुए उन सूत्रोंकी सरल भाषामें व्याख्या की गयी है। साथ ही विषय-सूची तथा अकारादिक्रमसे सूत्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दी गयी है। योगसूत्रोंका अभिप्राय समझनेके लिये यह पुस्तक बड़ी उपादेय है।

भगवान्पर विश्वास

(सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार)

आकार २०×३०-१६ पेजी, पृष्ठ ६४, मूल्य ।) चार आनामात्र।

यह पुस्तिका अमेरिकाके 'यंगमेन्स क्रिश्चियन असोसियेशन' के द्वारा प्रकाशित The Practice of the Presence of God पुस्तिकाके आधारपर लिखी गयी है। इसमें फ्रांसके भगवद्भक्त भाई लारेंसके चार सम्भाषण और पंद्रह पत्रोंका भावानुवाद है, जो 'कल्याण'में क्रमशः छप चुका है। पहले इनका नाम निकोलस हरमन था। भगवान्के प्रति अटूट श्रद्धा, भक्ति, रति और विश्वासके फलस्वरूप इनका जीवन उत्तरोत्तर उन्नत होता गया; अन्तमें ये परम संतकी कोटिमें पहुँच गये एवं भाई लारेंसके नामसे प्रख्यात हुए। इसमें उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटनाओंका उल्लेख है। भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास बढ़ानेमें यह पुस्तिका अच्छी सहायता कर सकती है।

प्रार्थना

आकार २०×३०-१६ पेजी, पृष्ठ ५६, सचित्र, मूल्य ≡) तीन आनामात्र।

इस पुस्तिकामें २१ गद्यमय प्रार्थनाओंका संग्रह है, जिनमेंसे कुछ 'कल्याण'में प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इनमें लेखकके हृदयके सच्चे उद्गार हैं। ये उद्गार बहुत ही भावपूर्ण और सुन्दर हैं। साधकोंको भगवान्के प्रति नित्य किस प्रकार अपनी सरल भाषामें सच्चे हृदयसे करुणाभावपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिये, यह इस पुस्तिकासे सीखने योग्य है।

—व्यवस्थापक, गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कल्याणके पाठकोंसे विनीत प्रार्थना

इधर कुछ समयसे हमलोग पुराने हस्तलिखित शास्त्रीय ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयत्न कर रहे हैं, वह इसलिये कि इन ग्रन्थोंकी रक्षा हो। बहुत-से स्थानोंमें आजकल पुराने ग्रन्थ असावधानी तथा रक्षाकी सुव्यवस्था न होनेके कारण नष्ट हो रहे हैं। अतएव हमारी 'कल्याण'के प्रत्येक पाठकसे प्रार्थना है कि वे वेद-वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र और धर्मशास्त्र आदि विषयोंके संस्कृत, हिंदी, बंगला ग्रन्थ पुराने कागजों-पर या ताड़पत्रोंपर लिखे हुए संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें। व्रजभाषाका अमुद्रित साहित्य किन्हींके पास हो तो वे भी भेजनेकी कृपा करें। खर्च हम देंगे और यदि कोई सज्जन उचित मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जायगा।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

श्रीहरिः

विश्वानन्दकदम्बसंपदमतिस्निग्धं तमालद्युतिं
दृष्ट्वा निर्भरविभ्रमं घन इति त्वां संगता विद्युतः ।
त्वद्रूपामृतसिन्धुसंगमवशात् प्राप्याम्बरप्रच्यवं
चाञ्चल्यात् किमु नन्दनन्दन भवत्पीताम्बरत्वं दधुः ॥

(श्रीमधुसूदन सरस्वती)

नन्दनन्दन ! सम्पूर्ण आनन्दराशिको अपने कलेवरमें एकत्र किये हुए, अत्यन्त स्निग्ध, तमालके समान श्यामवर्ण एवं पूर्ण विलास (हाव-भाव) से युक्त तुम्हारे श्रीविग्रहको बादल समझकर विद्युन्माला उससे लिपट गयी । किंतु चञ्चलतावश तुम्हारी रूप-माधुरीके अमृतसिन्धुमें गोता लगानेके कारण वह आकाशरूप अपने आश्रयसे च्युत हो गयी । इसीलिये क्या वह पीताम्बर बनकर सदाके लिये तुम्हारी शरण पा गयी ? (सच है, आश्रयहीन होकर तुमसे मिलनेपर ही तुम्हारा सर्वोत्तम आश्रय प्राप्त होता है और तुम्हारा दुर्लभ आश्रय पा लेनेपर दूसरे किसी आश्रयकी अपेक्षा नहीं रहती । क्योंकि सारे आश्रयोंके परम आश्रय तुम्हीं तो हो । आकाश भी तुम्हारे ही आश्रित है !)

कल्याण
वर्ष २४
अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २००७, दिसम्बर सन् १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≡) विदेशमें ॥–) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुराने और नये ग्राहक महानुभावोंसे प्रार्थना

यह चौबीसवें वर्षका अन्तिम बारहवाँ अङ्क है। इस अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है। पचीसवें वर्षका पहला अङ्क (विशेषाङ्क) संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क होगा। यह विशेषाङ्क बहुत ही सुन्दर, रोचक, शिक्षाप्रद, लोक-परलोकमें हित करनेवाले उपदेशोंसे पूर्ण, सुन्दर-सुन्दर कथाओं और इतिहासोंसे युक्त तथा धार्मिक दृष्टिसे भी अत्यन्त कल्याणकारक होगा। इसमें भगवान् श्रीशङ्कर, भगवान् श्रीविष्णु, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीसूर्य, भगवती शक्ति आदिके तथा भक्तों एवं अन्यान्य कथाप्रसङ्गोंके सैकड़ों सादे, इकरंगे और बहुरंगे मनोहर एवं दर्शनीय चित्र रहेंगे। वार्षिक मूल्य डाक-महसूलसहित ७॥) होगा।

यह 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' आगामी जनवरीके द्वितीय सप्ताहतक प्रकाशित होकर ग्राहकोंकी सेवामें भेजा जाने लगे, ऐसी व्यवस्था की जा रही है।

अबतकके प्रकाशित 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनके लिये पहलेसे रुपये भेजकर ग्राहक नहीं बन जानेवालोंको निराश ही रहना पड़ा है। यह विशेषाङ्क भी विशेष महत्त्वपूर्ण होगा। छप भी रहा है गतवर्षकी अपेक्षा कम संख्यामें तथा छपाईका काम भी शीघ्रतापूर्वक हो रहा है। अतः ग्राहकोंको रुपये मनीआर्डरसे तुरंत भेजकर अपना विशेषाङ्क सुरक्षित करवा लेना चाहिये। मनी-आर्डर फार्म दसवें अङ्कमें भेजा जा चुका है।

विशेषाङ्ककी वी० पी०से प्रतीक्षा करनेवाले ग्राहकोंमेंसे सबको अङ्क मिलना बहुत कठिन है; क्योंकि तबतक अङ्कोंके समाप्त हो जानेकी सम्भावना है।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं। अतः सारे पत्रव्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय तथा मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये।

पत्रव्यवहारमें और रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नम्बर जरूर लिखनेकी कृपा करें। नम्बर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें।

ग्राहक-नम्बर न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें विशेषाङ्क नये नम्बरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नम्बरकी

म—

वी॰ पी॰ दुबारा जायगी। ऐसा भी सम्भव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उसके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी॰ पी॰ चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें, आपसे प्रार्थना है कि, आप कृपापूर्वक वी॰ पी॰ वापस न करें और प्रयत्न करके नये ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेका कष्ट करें। इस कृपाके लिये 'कल्याण' आपका आभारी होगा।

जिन महानुभावोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक मनाहीका एक कार्ड अवश्य लिख दें। ऐसा करनेसे उनके सिर्फ तीन पैसे खर्च होंगे, पर 'कल्याण' कई आने डाकखर्चके नुकसान तथा समयके अपव्ययसे बच जायगा।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग।

सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये। इस वर्ष जिल्दोंकी जुजबन्दीकी सिलाईकी व्यवस्था की गयी है। अङ्क जानेमें देर हो सकती है।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये।

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजना चाहें, वे पूरी बीमा बेंचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्ड पत्रसे रुपये न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'की नहीं होगी।

'महाभारताङ्क' समाप्त हो गया। रुपये न भेजें

'महाभारताङ्क' की थोड़ी-सी प्रतियाँ थीं, पर माँग इतनी अधिक आ गयी कि सबकी माँगकी पूर्तिके लिये जरा भी गुंजाइश नहीं रही। जिल्द बँधे हुए जितने अङ्क थे, सब भेजे जा चुके। अब ज्यों-ज्यों जिल्द बँधते जायँगे, त्यों-ही-त्यों जिनके रुपये जमा हैं, उनके नाम क्रमानुसार अङ्क भेजे जाते रहेंगे। पर यदि अङ्क समाप्त हो गये तो रुपये सादर क्षमाप्रार्थनासहित लौटा दिये जायँगे। अब कोई भी सज्जन कृपया महाभारताङ्कके लिये माँग न लिखें, न रुपये ही भेजें। अब आनेवाले मनी-आर्डर लौटाये जा रहे हैं।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
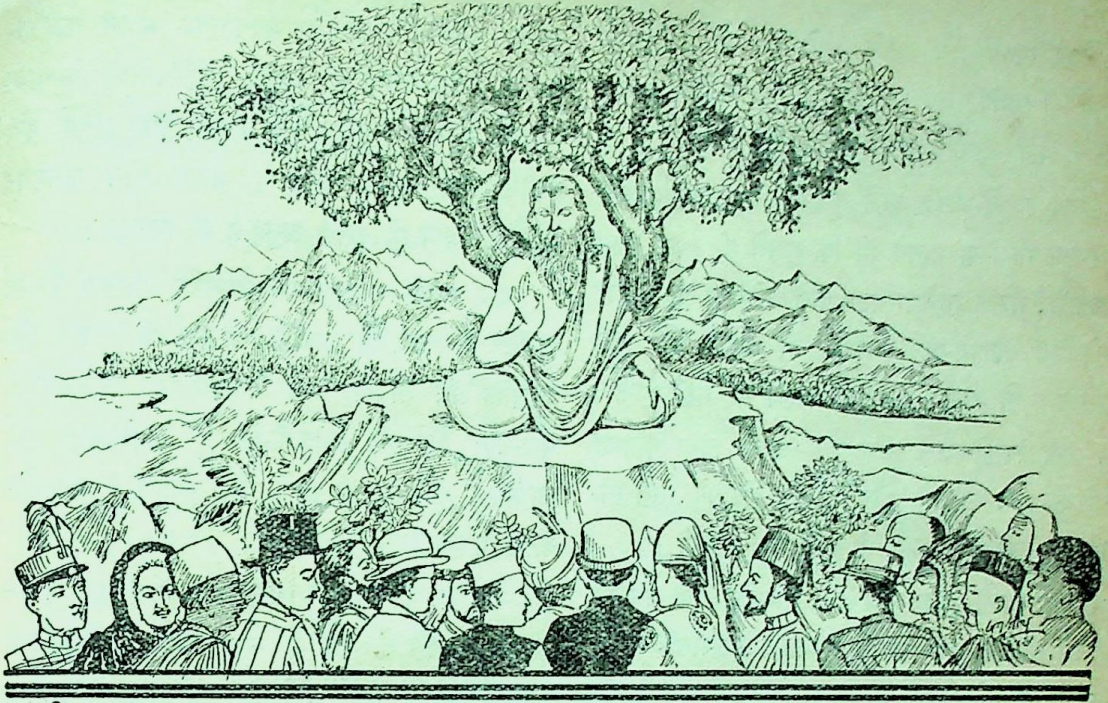
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ | गोरखपुर, सौर पौष २००७, दिसम्बर १९५० | संख्या १२ पूर्ण संख्या २८९

हरि-रस-माती गोपी

सखी वह गई हरि पै धाइ ।
तुरतहीं हरि मिले ताकौं, प्रगट कही सुनाइ ॥
नारि इक अति परम सुंदरि, बरनि कापै जाइ ।
पान तैं सिर धरे मटुकी, नंद-गृह भरमाइ ॥
लेहु लेहु गुपाल कोऊ, दह्यौ गई भुलाइ ।
सूर प्रभु कहुँ मिलैं ताकौं, कहति करि चतुराइ ॥

—सूरदासजी

याद रक्खो—तुम अकेले आये हो और अकेले ही जाओगे। यहाँकी न तो कोई चीज तुम्हारे साथ जायगी और न कोई आत्मीय-स्वजन ही जायगा।

याद रक्खो—आज घरमें तुम्हारी बड़ी आवश्यकता है। तुम भी ऐसा मानते हो कि मुझसे ही सारा काम चलता है, मेरे न रहनेपर काम कैसे चलेगा। पर तुम्हारे मरते ही कोई-न-कोई व्यवस्था हो जायगी और कुछ दिनों बाद तो तुम्हारे अभावका स्मरण भी नहीं होगा।

याद रक्खो—जैसे आज तुम अपने पिता-पितामह आदिको भूल गये हो और अपनी स्थितिमें मस्त हो, ऐसे ही तुम्हारी सन्तान भी तुम्हें भूल जायगी।

याद रक्खो—तुम व्यर्थ ही आसक्ति तथा ममताके जालमें फँस रहे हो और मानव-जीवनके असली ध्येयको भूलकर, जिससे एक दिन सारा सम्बन्ध छूट जायगा और कभी उसकी याद भी नहीं आवेगी, उसीमें मनको फँसाकर, जीवनको अधोगतिकी ओर ले जा रहे हो।

याद रक्खो—तुम पहले कहीं थे ही, वहाँ तुम्हारे माता-पिता, घर-द्वार, पत्नी-पुत्र आदि भी होंगे ही। आज तुम्हें जैसे उनकी याद ही नहीं है, वे किस हालतमें कहाँ हैं, इसका पता लगानेकी भी कभी चिन्ता मनमें नहीं होती, वैसे ही यहाँसे चले जानेपर दूसरे जन्ममें यहाँके सब कुछको भूल जाओगे।

याद रक्खो—सम्बन्ध अनित्य और काल्पनिक होनेपर भी जबतक तुम्हारी इसमें ममता और आसक्ति है, तबतक तुम्हारी कामना-वासना नहीं मिट सकती एवं जबतक कामना-वासना रहेगी, तबतक दुष्कर्म भी बनते ही रहेंगे और जबतक दुष्कर्म बनेंगे, तबतक सुखका भी मुख कभी भी नहीं दीखेगा।

याद रक्खो—जबतक तुम यह सोचते रहोगे कि अमुक परिस्थिति आनेपर भगवान्‌का भजन करूँगा, तबतक भजन बनेगा ही नहीं, परिस्थितिकी कल्पना बदलती रहेगी। अतएव तुम जिस परिस्थितिमें हो, उसीमें भजन आरम्भ कर दो। भजन होने लगनेपर परिस्थिति आप ही उसके अनुकूल हो जायगी।

याद रक्खो—भजनमें मन लगनेपर संसारके बन्धन स्वयमेव शिथिल हो जायँगे। भगवान्‌में ममता और आसक्ति हो जायगी, तब घर-परिवार, धन-सम्पत्ति, यश-मान आदिकी हथकड़ी-बेड़ियाँ अपने-आप कट जायँगी। फिर इसके लिये कोई अलग प्रयास नहीं करना पड़ेगा।

याद रक्खो—जगत्‌से भागनेकी चेष्टा करोगे, इसे छोड़ने जाओगे तो और भी जकड़ोगे। इसे छोड़नेका प्रयत्न छोड़कर भगवान्‌में लगनेका—सब प्रकारसे लगनेका प्रयत्न करो। भगवान्‌की रूप-माधुरीकी जरा-सी झाँकी मिलते ही भोगोंके रूप-सौन्दर्यका—सुख-विलासका स्वप्न तत्काल भङ्ग हो जायगा। फिर इस ओर झाँकनेको भी मन नहीं करेगा।

याद रक्खो—मानव-जीवन अजगरोंकी भाँति लम्बे कालतक नहीं रहता। फिर इस समय तो बालक तथा तरुण भी सहसा मृत्युके शिकार हो जाते हैं। अतएव बुढ़ापेकी प्रतीक्षा न करके तुरंत भजनमें लग जाओ। यह अवसर हाथसे निकल गया तो पीछे सिवा पछतानेके कोई भी उपाय नहीं रह जायगा।

याद रक्खो—भगवान्‌ने तुमपर कृपा करके संसार-सागरसे तरने और भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करनेके सारे साधन सुलभ कर दिये हैं। इन साधनोंको पाकर भी यदि तुम असावधान रहोगे और इनसे लाभ नहीं उठाओगे तो तुम्हारे समान मूर्ख और कौन होगा?

'शिव'

जीवनकी सफलताके लिये अनुपम शिक्षा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३ । ८)

इस श्लोकके भावको हृदयङ्गम करानेके लिये नीचे एक कहानीकी कल्पना की जाती है।

अवन्तिकापुरीका राजा विष्वक्सेन बड़ा ही धर्मात्मा था। उसका राज्य धन-धान्यसे परिपूर्ण था। प्रजा उसकी आज्ञामें थी। उसके यहाँ किसी भी पदार्थकी कमी नहीं थी, किंतु उसके कोई सन्तान नहीं थी। वह एक बड़े सद्गुणसम्पन्न सदाचारी और विरक्त महात्मा पुरुषके पास जाया करता था और उन महात्माकी सेवा-शुश्रूषा किया करता था।

एक दिन महात्माने पूछा—तुम बहुत दिनोंसे हमारे पास आते हो, तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है?

विष्वक्सेनने कहा—मेरे यहाँ किसी भी चीजकी कमी नहीं है। आपकी कृपासे मेरा राज्य धन-धान्यसे पूर्ण है, पर मेरे कोई पुत्र नहीं है, यही एक अभाव है। आप कृपापूर्वक ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मुझे एक बहुत उत्तम पुत्रकी प्राप्ति हो।

महात्माने कहा—तुम पुत्र-प्राप्तिके लिये विष्णुयाग करो। भगवान् उचित समझेंगे तो तुम्हें पुत्र दे सकते हैं।

राजा विष्वक्सेनने महात्माके कथनानुसार यथाशास्त्र विष्णुयागका अनुष्ठान किया। उस यज्ञके फलस्वरूप उसकी स्त्रीके गर्भ रह गया और दस महीनेके पश्चात् उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक बहुत ही सुन्दर और बुद्धिमान् था, मानो कोई योगभ्रष्ट हो। उसके पैदा होनेपर राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार उसके जातकर्मादि संस्कार कराये और उसका नाम रक्खा 'जनार्दन'। कुछ बड़े होनेपर जनार्दनको घरपर ही अध्यापक बुलाकर विद्याभ्यास कराया गया। कुशाग्रबुद्धि होनेके कारण जनार्दन शीघ्र ही विद्यामें पारङ्गत हो गया। वह संस्कृत आदि भाषाओंका एक अच्छा विद्वान् हो गया। वह सब लड़कोंके साथ बड़ा प्रेम करता। किसीके साथ भी कभी लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज नहीं करता। वह स्वाभाविक ही सीधे सरल स्वभावका, सद्गुण-सदाचारसम्पन्न और मेधावी था।

एक दिन राजा विष्वक्सेन महात्माजीके पास गया तो अपने पुत्रको भी साथ ले गया। राजाने महात्माके चरणोंमें अभिवादन किया, यह देखकर लड़केने भी वैसे ही प्रणाम किया।

राजाने कहा—महाराजजी! आपने जो अनुष्ठान बतलाया था, उसके फलस्वरूप आपकी कृपासे ही मेरे यह बालक पैदा हुआ है। अतः इसको कुछ शिक्षा देनेकी कृपा करें।

महात्मा बोले—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना।'

फिर महात्माजीने उस लड़केके हाव भावको देखकर कहा कि 'यह लड़का योगभ्रष्ट पुरुष प्रतीत होता है। अतः यह आगे चलकर बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बन सकता है।'

यह सुनकर राजा अपने घरपर चला आया और अपनी पत्नी, मन्त्रिगण तथा सेवकोंको एकान्तमें बुलाकर सारी बातें उन्हें बतलायीं एवं समझा दिया कि इस लड़केको सदा-सर्वदा ऐशो-आराम और स्वाद-शौकीनीके ही वातावरणमें रखना चाहिये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातोंसे इसे सर्वथा दूर रखना चाहिये। इस बातका पूरा ध्यान रक्खा जाना चाहिये कि जिससे कोई भी वस्तु इसके भक्ति-विवेक-वैराग्यका कारण न हो जाय।

आज्ञानुसार सारी व्यवस्था हो गयी। किंतु जनार्दनके अन्तःकरणमें जो पूर्वजन्मके प्रबल संस्कार भरे थे, वे कैसे रुक सकते थे। इसके सिवा, उसके हृदयपर महात्माजीकी शिक्षाका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। जनार्दन अपने समान आयुवाले लड़कोंके साथ खेलता था; किंतु उसका मन खेल-तमाशों और भोग-आराममें कभी लगता नहीं था। वह जब कभी पर्यटनके लिये बाहर जाता तब राजाके सिखाये-समझाये हुए बुद्धिमान् मन्त्री विद्यासागर सदा उसके साथ रहते थे।

जब जनार्दनकी अठारह वर्षकी आयु हो गयी तब उसका विवाह कर दिया गया और वह अपनी पत्नीके साथ रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसकी स्त्री गर्भवती हुई। जब सन्तान होनेका समय आया तब दिनमें स्त्रीको बड़ा कष्ट हुआ। उसी रातमें लड़का पैदा हुआ; उस समय जनार्दन अपनी स्त्रीके पास ही था। प्रसव-कष्टको देखकर वह बहुत ही घबराया। जेर और मैलेके साथ बच्चेका पैदा होना देखकर उसे बड़ी ही ग्लानि हुई और उसीके साथ सहज ही वैराग्यका भाव भी हुआ।

सबेरा होनेपर मन्त्री आ गये। सब घरवाले एकत्र हुए। रात्रिमें जनार्दनकी पत्नीकी प्रसव-वेदनाका हाल सुनकर सबको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने वैद्योंको बुलाकर दिखलाया। वैद्योंने कहा—'कष्ट तो लड़केको काफी हुआ, पर कोई चिन्ताकी बात नहीं है।'

तब जनार्दनने मन्त्री विद्यासागरसे पूछा—मन्त्रीजी ! पैदा होते ही लड़का बहुत चिल्लाया और तड़फड़ाया; ऐसा क्यों हुआ ?

विद्यासागर बोले—जब बच्चा गर्भमें रहता है, तब सब द्वार बंद रहते हैं और जब वह बाहर निकलता है, तब एक बार उसे बहुत कष्ट होता है।

जनार्दन—यह जेर और मैला क्यों रहता है ?

विद्यासागर—यह सब गर्भमें इसके साथ रहते हैं !

जनार्दन—तब तो गर्भमें बड़ा कष्ट रहता होगा।

विद्यासागर—इसमें क्या सन्देह है। गर्भकष्ट तो भयानक होता ही है।

जनार्दन—गर्भमें यह कष्ट क्यों होता है ?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके पापोंके कारण।

जनार्दन—पूर्वजन्म क्या होता है ?

विद्यासागर—जीव पहले जिस शरीरमें था, वह इसका पूर्वजन्म था। वहाँ इसने कोई पाप किया था, उसीके कारण इसको विशेष कष्ट हुआ।

जनार्दन—पाप किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—झूठ बोलना, कपट करना, चोरी करना, परस्त्री-गमन करना, मांस-मदिरा खाना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना आदि जिन आचरणोंका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है, वे सभी पाप हैं।

जनार्दन—शास्त्र क्या होते हैं ?

विद्यासागर—श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि धर्मग्रन्थ शास्त्र हैं।

जनार्दन—अपने घरमें ये हैं ?

विद्यासागर—नहीं।

जनार्दन—तो मँगा दो, मैं पढ़ूँगा।

मन्त्री विद्यासागर चुप हो रहे। उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मन्त्रीकी उपर्युक्त बातोंको सुनकर जनार्दनका चित्त उदास-सा हो गया। वह गर्भ और जन्मके दुःखको समझकर मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—'अहो ! कैसा कष्ट है !' उसका प्रफुल्ल मुखकमल कुम्हला गया। उसके मुखपर विषादकी रेखा प्रत्यक्ष दिखायी देने लगी। यह देखकर राजाने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रीवर ! राजकुमारका चेहरा उदास क्यों है ?'

विद्यासागरने कहा—लड़का पैदा हुआ है, इससे इसके चित्तमें कुछ ग्लानि-सी है।

राजा बोला—लड़का होनेसे तो उत्साह और प्रसन्नता होनी चाहिये। फिर उन्होंने जनार्दनसे पूछा—'तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है ?'

जनार्दन—ऐसे ही है।

राजा विष्वक्सेनने फिर मन्त्रीको आदेश दिया कि इसे हवाखोरीके लिये ले जाओ और चित्तकी प्रसन्नताके लिये बाग-बगीचोंमें घुमा लाओ।

विद्यासागरने वैसा ही किया। बढ़िया घोड़े जुती हुई एक सुन्दर बग्गीमें बिठलाकर वह उसे हवाखोरीके लिये शहरके बाहर बगीचोंमें ले गया। शहरसे बाहर निकलते ही जनार्दनकी एक गलित कुष्ठीपर दृष्टि पड़ी, उस कुष्ठग्रस्त मनुष्यके हाथकी अङ्गुलियाँ गिरी हुई थीं; पैर, कान, नाक, आँख बेडौल थे। वह लँगड़ाता हुआ चल रहा था।

जनार्दनने पूछा—मन्त्रीजी ! यह क्या है ?

विद्यासागर—यह कुष्ठ रोगी है।

जनार्दन—इसकी ऐसी हालत क्यों हो गयी ?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके बड़े भारी पापोंके कारण।

जनार्दन—क्या मेरी भी यह हालत हो सकती है ?

विद्यासागर—परमात्मा न करे, ऐसा हो। आप तो पुण्यात्मा हैं।

जनार्दन—हो तो सकती है न ?

विद्यासागर—कुमार ! जो बहुत पापी होता है, उसीके यह रोग होता है। आपके विषयमें मैं कैसे क्या कहूँ। इतना

अवश्य है कि आपके भी यदि पूर्वके बड़े पाप हों तो आपकी भी यह दशा हो सकती है ।

जनार्दन—इन भारी-भारी पापोंका तथा उनके फलोंका वर्णन जिन ग्रन्थोंमें हो, उन ग्रन्थोंको मेरे लिये मँगवा दीजिये । मैंने पहले भी आपसे कहा ही था । अब शीघ्र ही मँगा दें ।

विद्यासागर—आपके पिताजीका आदेश होनेपर मँगवाये जा सकते हैं ।

इतनेहीमें आगे एक दूसरा ऐसा मनुष्य मिला, जिसके शरीरपर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं, बाल पककर सफेद हो गये थे, अङ्ग सूखे हुए थे, आँखोंकी ज्योति मन्द पड़ गयी थी, कमर झुकी थी, वह लकड़ीके सहारे कुबड़ाकर चल रहा था, उसके हाथ-पैर काँप रहे थे एवं बार-बार कफ और खाँसीके कष्टके कारण वह बहुत तंग हो रहा था । उसको देखकर राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—यह एक नब्बे वर्षका बूढ़ा आदमी है ।

जनार्दन—जब मैं नब्बे वर्षका हो जाऊँगा, तब क्या मेरी भी यही दशा होगी ?

विद्यासागर—कुमार ! आप दीर्घायु हों । मनुष्य जब वृद्ध होता है तब सभीकी यह दशा होती है ।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दनको बड़ी ही चिन्ता हुई कि मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है । इस प्रकार व्याधि तथा जरासे पीड़ित पुरुषोंको देखकर राजकुमारके मनमें शरीरकी स्वस्थता और सुन्दरतापर अनास्था हो गयी ।

तदनन्तर लौटते समय रास्तेमें श्मशानभूमि पड़ी । वहाँ एक मुर्दा तो जल रहा था और एक दूसरे मुर्देको कितने ही लोग 'रामनाम सत्य है' पुकारते हुए मरघटकी ओर लिये आ रहे थे और कुछ मनुष्य उनके पीछे रोते हुए चल रहे थे ।

कुमारने पूछा—यह कौन स्थान है ?

विद्यासागर—यह श्मशान-भूमि है ।

जनार्दन—यहाँ यह क्या होता है ?

विद्यासागर—जो आदमी मर जाता है, उसे यहाँ लाकर जलाया जाता है ।

जनार्दन—यह जुलूस किसका आ रहा है ? जुलूसके पीछे चलनेवाले लोग रोते क्यों हैं ?

विद्यासागर—मालूम होता है, किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, उसके घरवाले श्मशानभूमिमें उसके शवको ला रहे हैं । ये रोनेवाले लोग उसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं ।

जनार्दन—मृत्यु किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—इस शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणका निकल जाना 'मृत्यु' है । जब आदमी मर जाता है तब उसके शरीरको शव कहा जाता है और फिर घरवाले उसे यहाँ लाकर जला देते हैं । एवं फिर वापस घर चले जाते हैं ।

जनार्दन—तो फिर ये रोते क्यों हैं ?

विद्यासागर—मालूम होता है, मरनेवालेका इन सबके साथ बहुत प्रेम रहा है । अब वह पुरुष सदाके लिये इनसे बिछुड़ गया है, इस बिछोहके दुःखसे ये घरवाले रो रहे हैं ।

जनार्दन—क्या हम भी एक दिन मरेंगे ?

विद्यासागर—कुमार ! ऐसा न कहें । परमात्मा आपको सौ वर्षकी आयु दें ।

जनार्दन—जो भी कुछ हो, पर आखिर एक दिन तो मरना ही होगा न ?

विद्यासागर—कुमार ! एक दिन तो सभीको मरना है । जो पैदा हुआ है, उसका एक दिन मरना अनिवार्य है ।

मन्त्रीके वचन सुनकर राजकुमार चिन्तामग्न हो गया । तदनन्तर आगे चलनेपर मार्गमें एक विरक्त महात्मा दिखलायी पड़े । राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—यह एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं ।

जनार्दन—जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—जिन्होंने भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है ।'

जनार्दन—कल्याण किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—विवेक-वैराग्य और भजन-ध्यान आदिके साधनोंद्वारा होनेवाली परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्तिको 'कल्याण' कहते हैं । कल्याणप्राप्त मनुष्यको ही 'जीवन्मुक्त महात्मा' कहते हैं । वह सदाके लिये परमात्माको प्राप्त हो जाता है और फिर वह लौटकर जन्म-मृत्युरूप असार संसारमें नहीं आता । ऐसे ही पुरुषका वस्तुतः संसारमें जन्म लेना धन्य है ।

जनार्दन—क्यों मन्त्री महोदय, क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ ?

विद्यासागर—क्यों नहीं, जो हृदयसे चाहता है, वही बन सकता है। किंतु आप अभी बालक हैं, आपको तो संसारके सुख-विलास और भोग भोगने चाहिये। यह तो शेष कालकी बात है।

जनार्दन—तो क्या जवान अवस्थामें आदमी मर नहीं सकता? अभी रास्तेमें जो जुलूस जाता था, उसके विषयमें तो आपने बतलाया था न कि यह जवान लड़का मर गया है?

विद्यासागर—मर सकता है। पर पूर्वके कोई बड़े भारी पाप होते हैं तभी मनुष्य युवावस्थामें मरता है।

जनार्दन—तो क्या मेरे युवावस्थामें न मरनेकी कोई गारंटी है।

विद्यासागर—गारंटी किसीकी भी नहीं हो सकती। मरनेमें प्रधान कारण प्रारब्ध ही है।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दन बहुत ही शोकातुर हो गया और मन-ही-मन विचारने लगा कि मेरा जल्दी-से-जल्दी कल्याण कैसे हो।

वह घरपर आया। उसके चेहरेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक उदासी देखकर राजा विष्वक्सेन चिन्ता करने लगा। तीसरे दिन फिर राजकुमारकी वही अवस्था देखकर विष्वक्सेनने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्री! मैं देखता हूँ, राजकुमारका चेहरा नित्य मुरझाया हुआ रहता है, इसपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। ऐसा क्यों हो गया?'

विद्यासागर—राजन्! क्या कहा जाय? तीन दिन हो गये, जबसे कुमारके पुत्र हुआ है, तभीसे इनकी यही अवस्था है।

राजाने मन्त्रीसे पुनः कहा—इसको खूब सुख-विलास और विषयभोगोंमें लगाओ। इसके साथी मित्रोंको समझाकर उनके साथ इसको नाटक-खेल और कौतुक-गृहोंमें ले जाओ। खानेके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ और मेवे-मिष्टान्न दो। सुन्दर-सुन्दर चित्ताकर्षक दृश्य दिखाओ। इत्र, फुलेल आदि इसके सिरपर छिड़को। नृत्य-वाद्य आदिका आयोजन करके इसके मनको राग-रंगमें लगाओ।

मन्त्रीने राजाके आज्ञानुसार सारी व्यवस्था की; किंतु सब निष्फल! राजकुमारको तो अब संसारकी कोई भी वस्तु सुखदायक प्रतीत नहीं होती थी। उसे सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और अत्यन्त रूखे प्रतीत होते थे। भोगोंमें ग्लानि हो जानेसे वे त्याज्य प्रतीत होते। भोगोंका सेवन राजकुमारको एक महान् झंझट-सा प्रतीत होता। इत्र, फुलेल आदि उसे पेशाबके तुल्य मालूम होते। पुष्पोंकी शय्या, पुष्प और मालाएँ तथा चन्दन उसे वैसे ही नहीं सुहाते जैसे कि कफ-खाँसीके रोगीको गीले वस्त्र। वीणा-सितारका बजाना-सुनना उसके कानोंको एक कोलाहल-सा प्रतीत होता। नाटक-खेल, कौतुक-तमाशे व्यर्थके झंझट दीखने लगे। बढ़िया-बढ़िया फल, मेवे, मिष्टान्न आदि पदार्थ ज्वराक्रान्त रोगीकी तरह अरुचिकर और बुरे मालूम देने लगे। शरीर और विषयोंमें उसका तीव्र वैराग्य होनेके कारण संसारका कोई भी पदार्थ उसे सुखकर नहीं प्रतीत होता। उसका कहीं किसी भी विषयमें कोई भी आकर्षण नहीं रह गया था।

उसके मुखमण्डलकी विशेष विषण्ण तथा चिन्तायुक्त उदासीन मुद्राको देखकर राजाने पूछा—'तीन दिन हुए, जबसे तुम्हारे लड़का पैदा हुआ है, मैं तुम्हारे मुखको ग्लानियुक्त और चिन्तामग्न देख रहा हूँ, इसका क्या कारण है? हर्ष और उत्साहके अवसरपर यह ग्लानि और चिन्ता कैसी?'

जनार्दनने कहा—पिताजी! आपका कहना सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है। जब लड़का पैदा हुआ तो गंदी झिल्ली और मलसे संयुक्त उसकी उत्पत्तिको देखकर तथा उसके अत्यन्त दुःखभरे रुदनको सुनकर मुझे बहुत ही दुःख और आश्चर्य हुआ, तब मैंने बड़े ही आग्रहसे मन्त्रीजीसे पूछा। मन्त्रीजीने बतलाया कि 'इसे यह कष्ट इसके पूर्वजन्मके पापोंके कारण हुआ है।' यह सुनकर मुझे यह चिन्ता हुई कि यदि मैं, झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, हिंसा, मांस-मदिरा आदिके सेवनरूप पाप करूँगा तो मुझे भी इसी तरह गर्भवास और जन्मका दुःख भोगना पड़ेगा।

राजा विष्वक्सेनने कहा—यह सब झूठ है, कपोल-कल्पना है। मरनेके बाद फिर जन्म होता ही नहीं। तदनन्तर राजाने झिड़ककर मन्त्रीसे कहा—'क्योंजी! क्या तुमने ये सब बातें इससे कही थीं?'

मन्त्री काँपता हुआ बोला—सरकार! मुझसे कही गयी।

जनार्दन कहने लगा—आपकी आज्ञासे मन्त्रीजी मुझे हवाखोरीके लिये शहरसे बाहर ले गये थे तब मैंने मार्गमें एक कुष्ठरोगीको देखा। उसे देखकर मैं उदास हो गया और मैंने इनसे पूछा, तब पता लगा कि पूर्वके बड़े भारी पापोंके कारण यह रोग होता है।

राजा बोला—पाप कोई चीज नहीं है। यह तो इस मन्त्री-जैसे मूर्खोंकी कल्पना है। तुमने जिस कुष्ठीको देखा है, वह वैसा ही जन्मा है और वैसा ही रहेगा। तुमसे उसकी क्या तुलना ? तुम जैसे हो, वैसे ही जन्मे थे और वैसे ही रहोगे।

फिर राजाने कुपित होकर मन्त्रीसे कहा—तुम्हारी बुद्धिपर बड़ी तरस आती है, तुमने इस लड़केको क्यों बहका दिया ?

मन्त्री बोला—सरकार ! इस विषयमें मैं जैसा समझता था, वैसा ही मैंने कहा।

जनार्दनने फिर कहा—उसके बाद रास्तेमें मुझे एक अत्यन्त दुखी बूढ़ा आदमी दिखायी दिया। मैंने पहले कभी वैसा आदमी नहीं देखा था। जानकारीके लिये मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि यह वृद्ध है, और जब मनुष्य बहुत बड़ी आयुका हो जाता है तब सभीकी ऐसी ही दशा होती है। यह देखकर मुझे चिन्ता हुई कि एक दिन मेरी भी यही दशा होगी।

राजा बोला—नहीं, कभी नहीं। जो वृद्ध होते हैं, वे वृद्ध ही रहते हैं और जो जवान होते हैं, वे जवान ही रहते हैं।

राजाने फिर क्रोधमें भरकर मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें यही सब शिक्षा देनेके लिये ही यहाँ नियुक्त किया गया था ?

मन्त्री बोला—राजकुमारके पूछनेपर मेरी जैसी जानकारी थी, वैसा ही मेरेद्वारा कहा गया।

राजाने कहा—धिक्कार तुम्हारी जानकारीको। क्या ये सब बातें बालकोंको कहनेकी होती हैं ?

फिर जनार्दन कहने लगा—पिताजी ! उसके बाद हम जब भ्रमण करके वापस लौट रहे थे तो मैंने देखा कि बहुतसे आदमी एक मरे हुए आदमीको जला रहे हैं और सब उसके चारों ओर खड़े हैं। उसी समय मैंने देखा कि नगरसे एक जुलूस वहाँ आ रहा है, चार आदमियोंने एक किसी चीजको कन्धोंपर उठा रक्खा है, कुछ लोग 'रामनाम सत्य' चिल्ला रहे हैं और उसके पीछे-पीछे कुछ आदमी रोते चले आ रहे हैं। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मन्त्रीजीसे पूछनेपर इन्होंने बतलाया कि 'किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है। इसके घरवाले इसे श्मशानभूमिमें ला रहे हैं और ये रोनेवाले लोग इसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं। ये लोग इसके वियोगमें दुःखके कारण रो रहे हैं।' इस दृश्यको जबसे मैंने देखा, तबसे मुझे मृत्युकी चिन्ता लग रही है। मैं समझता हूँ कि जब मेरी मृत्यु होगी तब मेरी भी यही दशा होगी।

विष्वक्सेन बोला—इस पागल मन्त्रीकी बातपर तुम्हें ध्यान न देना चाहिये। जवान आदमीकी कभी मृत्यु हो ही नहीं सकती। इन्होंने जो कुछ कहा है, सब बेसमझीकी बात है।

फिर उसने मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें हमारे लड़केको इस प्रकार बहकाना उचित था ? तुमने सचमुच मुझे बड़ा धोखा दिया !

विद्यासागरने हाथ जोड़कर कहा—सरकार ! पूछनेपर जो बात उस समय समझमें आयी; वही कही गयी।

जनार्दनने कहा—उसके बाद जब हमलोगोंने लौटकर शहरमें प्रवेश किया तब एक गेरुआ वस्त्रधारी पुरुष मिले। पूछनेपर मन्त्रीजीने बतलाया कि 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं। इन्होंने भजन-ध्यान और सत्सङ्ग-स्वाध्याय करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है, जिससे इन्हें हर समय परम शान्ति और परम आनन्द रहता है। ये भगवान्के परम धाममें चले जायँगे और फिर लौटकर कभी दुःखरूप संसारमें नहीं आयेंगे। वहीं नित्य परम शान्ति और परम आनन्दमें मग्न होकर रहेंगे। इन्हींका जन्म धन्य है।' उसी समयसे मेरे मनमें बार-बार ऐसा आता है कि क्या कभी मैं भी ऐसा बन सकूँगा। पूछनेपर पता लगा कि यह सब बातें श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें लिखी हैं। अतः मैंने इन पुस्तकोंको मँगानेके लिये मन्त्रीजीसे कहा था, किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं आपके पिताजीका आदेश लेकर ही मँगा सकता हूँ।' अतएव पिताजी ! अब ये पुस्तकें मुझे शीघ्र मँगा दीजिये।

विष्वक्सेन बोला—बेटा ! ये सब पुस्तकें तुम्हारे देखने लायक नहीं हैं।

राजाने फिर मन्त्रीसे कहा—मालूम होता है, तुमने इन पुस्तकोंके नाम बतलाकर लड़केका मस्तक बिगाड़ दिया। तुम्हारी ही शिक्षाका यह फल है, जो मेरा यह सुकुमार सुन्दर राजकुमार इतनी छोटी उम्रमें ही संसारके विषय-भोगोंसे विरक्त होकर रात-दिन वैराग्य और ज्ञानकी चिन्तामें डूबा रहता है। मैंने जिस उद्देश्यसे तुमको नियुक्त किया था, उसका विपरीत परिणाम हुआ। तुम मेरे यहाँ रहनेयोग्य नहीं। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं जा सकते हो।

विद्यासागर हाथ जोड़कर बोला—सरकार ! मेरी बेसमझीके कारणसे ही यह सब हुआ । लड़केने जो कुछ पूछा, मैंने अपनी समझके अनुसार ठीक-ठीक कह दिया, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें ।

विष्वक्सेनने कहा—आग लगे तुम्हारी ऐसी समझपर ! मेरा तो बसता हुआ घर ही तुमने उजाड़ दिया । मेरे यहाँ अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं । यह कहकर उसको मन्त्री-पदसे हटा दिया ।

जनार्दन बोला—पिताजी ! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? इसमें मन्त्रीजीका कुछ भी दोष नहीं है । इन्होंने तो जो कुछ कहा, उचित ही कहा और वह भी मेरे पूछनेपर ही कहा । मुझमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका लेशमात्र भी नहीं है । हाँ, मैं चाहता हूँ कि मुझे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी प्राप्ति हो जाय तो मैं भी जीवन्मुक्त महात्मा बनकर अपने आत्माका उद्धार कर लूँ । धन्य है उन पुरुषोंको, जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर परमात्माके भजन, ध्यान, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें अपना जीवन बिताकर अपने आत्माका कल्याण कर लिया है । आप मुझे आशीर्वाद दें, जिससे इस शरीर और संसारसे विरक्त होकर मेरा मन नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगा रहे ।

इसपर राजा विष्वक्सेनने राजकुमार जनार्दनको इसके विरुद्ध बहुत कुछ समझाया, परंतु उसके एक भी नहीं लगी । क्योंकि राजकुमार योगभ्रष्ट पुरुष तो था ही, मन्त्रीकी शिक्षाने भी उसके हृदयमें विशेष काम किया था । राजकुमार वैराग्यके नशेमें चूर हो गया । वह अहङ्कार और ममतासे रहित होकर संसारसे उपरत रहता हुआ परमात्माकी खोजमें जीवन बिताने लगा ।

कुछ दिनों बाद जब उसे तीव्र वैराग्य और उपरति हो गयी, तब वह सहज ही राज्यकी ओरसे सर्वथा बेपरवाह होकर उन महात्माजीके पास चला गया, जिनसे बाल्यावस्थामें उसने यह श्लोक सुना था—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
(गीता १३ । ८)

इस श्लोकका भाव राजकुमार जनार्दनमें अक्षरशः संघटित था । उसने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लिये महात्माजीसे प्रार्थना की । तब महात्माजीने उसको आश्वासन देते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा दी । उन्होंने कहा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
(गीता १३ । ९–११)

अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इन्हींमें उसकी विशेष आसक्ति होती है । इन्द्रियोंके शब्दादि साधारण विषयोंमें वैराग्य होनेपर भी इनमें छिपी आसक्ति रह जाया करती है, इसलिये मनुष्यको 'आसक्तिका सर्वथा अभाव' करना चाहिये ।

यहाँ 'अनभिष्वङ्ग'का अर्थ है—'ममताका अभाव ।' ममत्वके कारण ही मनुष्यका स्त्री-पुत्रादिसे घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है । उससे उनके सुख-दुःख और लाभ-हानिसे वह स्वयं सुखी-दुःखी होता रहता है । ममताके अभावसे ही इसका अभाव हो सकता है । इसलिये मनुष्यको इन सब पदार्थोंसे ममताका अभाव करना चाहिये ।

अनुकूल व्यक्ति, क्रिया, घटना और पदार्थोंका संयोग तथा प्रतिकूलका वियोग सबको 'इष्ट' है । इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलका संयोग 'अनिष्ट' है । इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट'के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस सम रहना—इसको 'इष्ट और अनिष्टकी उपपत्तिमें समचित्तता' कहते हैं ।

भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करने योग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य-योग' है । इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्का ही भजन, ध्यान करते रहना ही 'अनन्ययोगके द्वारा भगवान्में अव्यभि-चारिणी भक्ति करना' है ।

इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमें न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्‌का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्काम-भावसे निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, वह सब भगवान्‌के लिये ही होती है।

साधकको सदा विविक्त देशका सेवन करना चाहिये। जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़-भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जहाँके जल-वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं; तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

साधकका कभी भी प्रमादी और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम नहीं होना चाहिये। यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी और विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उनमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' पद नहीं समझना चाहिये।

आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है, उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्म-ज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्द-घन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

इस प्रकार उपदेश देकर महात्माजी चुप हो गये। राजकुमार पात्र तो था ही, महात्माजीकी शिक्षाके अनुसार साधन करनेसे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इधर दूसरे दिन प्रातःकाल जब राजा उठा तब पता लगा कि राजकुमार आज रातमें महलसे निकलकर कहीं चला गया। इधर-उधर चारों ओर बड़ी खोज करायी गयी, किंतु कहीं भी पता नहीं लगा। तब राजा विष्वक्सेन बहुत दुःखित हो गया।

कुछ दिनों बाद राजा उन महात्माजीके दर्शन करने गया, जिनके बतलाये हुए अनुष्ठानसे राजकुमार उत्पन्न हुआ था। राजाने महात्माजीको साष्टाङ्ग अभिवादन किया और कहा—'महाराजजी! आपने मुझको जो लड़का दिया था, वह कई दिनोंसे लापता हो गया है।'

महात्माजीने कहा—क्या तुमको पता नहीं, वह तो कई दिनोंसे मेरे पास है। वह सदा-सर्वदा ज्ञान-ध्यानमें निमग्न रहता है। उसने तो अपने जीवनको सफल बना लिया। मैंने तो तुमसे पहलेसे ही कहा था कि यह लड़का एक बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बननेवाला है, वही बात आज प्रत्यक्ष हो गयी। राजन्! तुम्हारा जन्म भी धन्य है, जो तुमने ऐसे पुत्रको जन्म दिया और यह लड़का तो सौभाग्यशाली है ही।

राजकुमारकी इतनी शीघ्र और आशातीत उन्नति सुनकर और फिर उसकी स्थितिको प्रत्यक्ष देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसे जो पुत्रके घरसे निकल जानेका दुःख था, वह सब शान्त हो गया। उसने अपना बड़ा सौभाग्य समझा।

तदनन्तर राजाने महात्माजीसे प्रार्थना की कि मुझे ऐसा कोई उपदेश करें, जिससे शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाय। इसपर महात्माजीने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—

अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' यानी इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना है।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहं' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्म वस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है।

जन्मका कष्ट सहज नहीं है। पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश सहन करने पड़ते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्यु-कालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। इस अशक्त अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

यों तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुतः संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसमें ये चारों दोष न हों। जड मकान एक दिन बनता है, यह उसका जन्म हुआ; कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ; पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया, अब मरम्मत नहीं हो सकती। फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी। छोटी-बड़ी सभी चीजोंकी यही अवस्था है। इस प्रकार जगत्‌की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर उनसे वैराग्य करना चाहिये।

महात्माजीके इस सुन्दर उपदेशको सुनकर राजा अपने राजमहलपर लौट आया और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न करने लगा। इससे थोड़े ही समयमें राजाको शरीर और संसारसे तीव्र वैराग्य हो गया। तब रानीको साथ लेकर राजा पुनः महात्माजीके पास गया और बोला—'आपके उपदेशसे मुझे बहुत लाभ हुआ। अब मेरी यह इच्छा है कि जनार्दनका युवराजपदपर अभिषेक करके मैं भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमें ही अपना शेष जीवन बिताऊँ।' इसपर महात्माजीने जनार्दनको बुलाकर कहा—'वत्स! तुम राज्यका कार्य करो, अब तुम्हें कोई भय नहीं है। अतः अब अपने पिताजीको अवकाश दो, जिससे ये भी भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण करें।'

जनार्दन नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित था ही, वह बड़ी प्रसन्नतासे पिताके आज्ञानुसार राज्यकार्य करने लगा। अब रानीके सहित राजा विष्वक्सेन समय-समयपर महात्माजीका सत्सङ्ग करने लगा और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार तत्परतासे चेष्टा भी करने लगा।

एक दिन राजा विष्वक्सेनने महात्माके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे विनय और करुणाभावपूर्वक प्रार्थना की—'महाराजजी! मुझे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मेरी भी स्थिति जनार्दनकी भाँति नित्य-निरन्तर अटल हो जाय।'

तब महात्माजीने जो शिक्षा विस्तारपूर्वक जनार्दनको दी थी, वही राजाको भी दी। महात्माजीकी शिक्षा सुनकर राजा और रानी—दोनोंने श्रद्धा और प्रेमपूर्वक बड़ी लगनके साथ उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप राजा और रानी दोनोंको ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी शरीर और संसारसे विरक्त राजकुमार जनार्दनकी भाँति ऊपर बतलाये हुए साधनके अनुसार अपने बचे हुए जीवनको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें लगाकर सफल बनावें।

भगवद्भजनका स्वरूप

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीभगवान् कहते हैं—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।'

—इस भगवद्वचनके अनुसार हमें तुरंत भगवद्भजनमें लग जाना चाहिये । श्रीभगवान्‌ने इस श्लोकार्धमें बतलाया कि 'अनित्यम् असुखम् इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व ।' अनित्य कहनेका तात्पर्य यह कि देर न करो, क्या पता है—

दम आया न आया खबर क्या है ?
दम आया न आया खबर क्या है ?

यदि अभी श्वास बंद हो जाय तो फिर कुछ भी न हो सकेगा । विचारी हुई बातें सब वैसी-की-वैसी ही रह जायँगी, सब गुड़ गोबर हो जायगा । क्योंकि शरीर क्षणभङ्गुर है, यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, प्रतिक्षण बड़ी तेजीसे जा रहा है और जा रहा है उस मृत्युकी ओर, जिसको कोई नहीं चाहता । वही मृत्यु प्रतिक्षण समीप आ रही है । प्रतिघंटा ९०० श्वास जा रहे हैं, २४ घंटोंमें २१६०० श्वास चले जाते हैं । जरा इस ओर ध्यान देना चाहिये । खर्च तो यह हो रहा है और कमाई क्या कर रहे हैं ? किस बातकी प्रसन्नता है ?

**छः सो सहस इकीस दम जावत हैं दिन रात ।
एतो टोटो ताहि घर काहेकी कुसलात ॥**

दूसरा पद कहा है—'असुखम्' यानी यहाँ इस लोकमें सुख नहीं है । यह लोक सुखरहित है । इतनी ही बात नहीं है, भगवान् तो कहते हैं कि 'दुःखालयमशाश्वतम्' । दुःखालय है । किंतु हम तो इसमें ठीक इसके विपरीत सुख ढूँढ़ते हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है । जैसे कोई आदमी विद्यालयमें धोती जोड़ा आदि कपड़ा खोजे, औषधालयमें मिठाईका भाव पूछे, ऐसे ही हम इस दुःखालयमें सुख ढूँढ रहे हैं । इस संसारमें सुखकर वस्तुएँ मानी जाती हैं—धन, स्त्री, पुत्र, घर और भोग । इन सबमें विचार करके देखें तो वास्तवमें सुख है ही नहीं, आदि-अन्तमें सर्वत्र दुःख-ही-दुःख है ।

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि हमें वही वस्तु सुख दे सकती है, जिसका हमारे पास अभाव है और हम जिसे चाह रहे हैं । उसके लिये चाहना जितनी ही बलवती होगी, उतना ही उस वस्तुके मिलनेपर सुख अधिक होगा । अभाव रहते हुए भी यदि उसके अभावका अनुभव नहीं है यानी उसके लिये छटपटाहट नहीं है तो वह वस्तु प्राप्त होकर भी हमें सुखी नहीं बना सकती । अतः धन आदि पदार्थोंसे सुख प्राप्त करनेके लिये पहले धनके अभावका दुःख अत्यावश्यक है । यह तो हुआ उनसे होनेवाला पहला दुःख । फिर वे धनादि पदार्थ मनोरथके अनुसार प्रायः मिलते नहीं हैं । यह हुआ दूसरा दुःख । मिल भी जायँ तो हमसे दूसरेको अधिक मिल जाते हैं तो वह एक नया दुःख खड़ा हो जाता है और मिलनेपर उसके नाशकी आशङ्का बनी ही रहती है, जो महान् चिन्ताका कारण है । एवं होकर नष्ट हो जानेपर तो बहुत ही कष्ट भोगना पड़ता है । उस समय जो दुःख होता है, वह उसके अभावके समय नहीं था । श्रीपतञ्जलिने कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख— ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं ।'

मायाकी मोहिनी वृत्तिसे ही यह अनुभव होता है कि धनादि पदार्थोंके इतने रूपमें प्राप्त हो जानेपर हम बहुत सुखी हो जायँगे। ऐसी आशा और कथन तो हम सुनते आ रहे हैं पर अभीतक ऐसा संसारी मनुष्य कोई नहीं मिला जो कि यह कह दे कि हम पूर्ण सुखी हो गये हैं, प्रत्युत यह कहते तो प्रायः सभी देखे जाते हैं कि 'हम तो पहलेसे भी अधिक दुखी हैं।' कहा भी है—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवाणवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति॥

'जबतक समुद्रको पार करनेकी तरह एक दुःखका अन्त नहीं होता कि उसी बीचमें दूसरा दुःख आ धमकता है; ठीक ही तो है, अभावोंमें तो अनर्थोंकी बहुलता होती ही है।'

एक वस्तुके अभावका अनुभव होनेपर उसकी पूर्तिके लिये चेष्टा करते हैं, किंतु प्रायः उसकी सिद्धि होती नहीं; कहीं दैवसंयोगसे हो भी जाती है तो फिर उसमें कई अन्य नये-नये अभावोंकी सृष्टि होने लगती है, जिनकी कि पहले कभी सम्भावना ही नहीं थी। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

'विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले जितने भी सांसारिक सुख हैं, सब-के-सब ही दुःखयोनि यानी दुःखोंकी प्रसवभूमि—दुःखोंको पैदा करनेवाली हैं; एवं उत्पत्ति और विनाशसे संयुक्त हैं, अतः हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमता।'

विचार करके देखा जाय तो किसी भी सांसारिक प्राणीको अपनी परिस्थितिमें पूर्ण सुख और सन्तोष नहीं है, क्योंकि वह उससे भी और अधिक सुखके लिये सदा लालायित तथा प्रयत्नशील रहता है। शास्त्रमें बतलाया है—

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
तत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः॥

किसी राजस्थानी कविने भी बड़ा ही सुन्दर कहा है—

ना सुख काजी पण्डितां ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजां ही आवसी तृष्णा-रोग गयाँ॥

तीसरी बात कहते हैं कि 'इमम् लोकम् प्राप्य'। यहाँ 'इमम् लोकम्'—इन पदोंसे संकेत है मनुष्य-शरीरकी ओर; भगवान् कहते हैं कि इस मानव-शरीरको प्राप्त करके तो मेरा भजन ही करना चाहिये, क्योंकि—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

अतएव इस मानवदेहको प्राप्त करके तो केवल भगवद्भजन ही करना चाहिये, क्योंकि दूसरे-दूसरे काम तो अन्यान्य शरीरोंमें भी हो सकते हैं। पर भजनका अवसर तो केवल इसी शरीरमें है। देवादि शरीरोंमें तो भोगोंकी भरमार है तथा वहाँ अधिकार न होनेसे भी भजन कर नहीं सकते; और नरकोंमें केवल पापोंके फलोंका भोग होता है, वहाँ नया कर्म करनेका न अधिकार है और न उनको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान ही है। इसी प्रकार अन्य चौरासी लाख योनियोंमें भी कर्तव्याकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, तथा साधन-सामग्री नहीं और अधिकार भी नहीं। अधिकार, ज्ञान और सामग्री—ये तीनों केवल इस मानव-शरीरमें ही हैं। (कहीं-कहीं पशु-पक्षी आदिकोंमें जो भगवद्भक्ति आदि देखनेमें आती हैं तो वे अपवादस्वरूप ही हैं।)

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

> सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
> कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

इस कथनपर हमें ध्यान देकर विचार करना चाहिये। जो मनुष्य-शरीर पाकर साधन नहीं करते, वे कहते हैं—'यह कलियुग है। समय बड़ा बुरा है। इस समय चारों ओर पाप-ही-पापका प्रचार हो रहा है, सत्य, अहिंसा आदि धर्मोंका पालन तथा भगवद्भजन हो ही नहीं सकता। यह कलिकाल बड़ा विकराल युग है, सबकी बुद्धि अधर्ममें लग रही है, क्या करें, समयकी बलिहारी है। जब सब-का-सब वायुमण्डल ही बिगड़ा हुआ है तब एक मनुष्य क्या कर सकता है। यदि हम समयके अनुसार न चलें तो निर्वाह होना कठिन है और उसके अनुसार चलें तो पारमार्थिक साधन नहीं बन पाता।' किंतु इसपर हमें विचार करना चाहिये; क्या हम सचमुच समयके अनुसार चलते हैं ? कभी नहीं। जब शीतकाल आता है तब गर्म कपड़े बनवाते हैं, आग आदिका यथोचित प्रबन्ध करते हैं, घरमें कमरा बंद करके रहते हैं—क्या यह समयके प्रतिकूल चलना नहीं है? ऐसे ही गर्मीके दिनोंमें ठंडे जल आदिका प्रयोग करते हैं, गर्मीसे बचनेके लिये सतत सावधान रहते हैं और वर्षामें भी यथायोग्य उपायोंसे उससे भी त्राण पानेकी चेष्टा करते ही रहते हैं। अर्थात् सभी समय शरीरकी प्रतिकूलताके निवारण, उससे रक्षा एवं शरीरके अनुकूल सामग्री जुटानेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। इसी प्रकार हमें कलिकालसे आध्यात्मिकताको बचानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जैसे शरीरकी रक्षा न करनेपर शरीरका नाश हो जाता है, ऐसे ही आध्यात्मिक जीवनकी रक्षा न करनेसे उस लाभसे सर्वथा वञ्चित रहनेके लिये बाध्य होना पड़ेगा।

अतः समयको दोष देना मिथ्या है, क्योंकि इसमें भगवद्भजनका मूल्य बहुत मिलता है, बड़े सस्तेमें मुक्ति मिल जाती है, जैसी कि दूसरे युगोंमें सम्भव नहीं थी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

> कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
> गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

इसलिये बिना प्रयास ही जिसमें संसारसमुद्रसे पार पहुँचा जा सके, ऐसे कलियुगको दोष देना सरासर भूल है।

इसी प्रकार जिन कर्मोंके फलस्वरूप मुक्तिका साधनरूप मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, उन कर्मोंको दोष देना भी मिथ्या है। क्योंकि—

> बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
> बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा॥

ईश्वरने भी बड़ी भारी कृपा कर दी कि जिससे कर्मोंका सब सम्बन्ध जुटाकर यानी इस समय मानव-शरीरके योग्य कम न रहनेपर भी मानव-शरीर देकर आत्मोद्धारके लिये सुअवसर दे दिया। एक राजस्थानी कविने कहा है—

> करुणाकर कीन्ही कृपा दीन्ही नरवर देह।
> ना चीन्ही कृतहीन नर खल कर दीन्ही खेह॥

'करुणानिधि भगवान्‌ने कृपा करके श्रेष्ठ मनुष्यशरीर दे दिया, परंतु मूर्ख और कृतघ्न मनुष्यने उस शरीरको पहचाना नहीं, प्रत्युत उसे यों ही मिट्टीमें मिला दिया।'

ऐसे अकारण कृपालुको यह कहकर कि 'क्या करें, भगवान्‌ने हमें ऐसा ही बना दिया, उन्होंने हमको संसारी बनाकर घरके काम-धंधोंमें फँसा दिया, कैसे भजन करें, भगवान्‌की मर्जी ही ऐसी है, वे कराते हैं तभी हम ऐसा करते हैं'—इत्यादि दोष देना मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य उद्योग तो स्वयं करता नहीं और दोषारोपण करता है दूसरोंपर, तथा आप रहना चाहता है निर्दोष। ऐसे काम कबतक चलेगा—'कैसे निबहै रामजी रुई लपेटी आग ?'

अतः विवेकपूर्वक विचार करके अपनी वास्तविक

उन्नतिके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतासे खूब उत्साहके साथ लग जाना चाहिये ।

भगवान्ने चौथी बात कही है—'माम् भजस्व ।' मुझको भजो । अब विचारना यह है कि भगवान् क्या है और भगवान्का भजन क्या है । आजतक जैसा देखा, जैसा सुना और पढ़ा तथा उसके अनुसार भगवान्का साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि जैसा स्वरूप समझा, वही भगवान् है । और इस प्रकारके भगवान्के स्वरूपको सर्वोपरि तथा परम प्रापणीय समझकर एकमात्र उनके शरण हो जाना ही भजन है अर्थात् जिह्वासे भगवान्के नामका जप, मनसे उनके स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उनका निश्चय करना; तथा शरीरसे उनकी आज्ञाओंका पालन करना; एवं सब कुछ उन्हींके समर्पण कर देना; और उनके प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना; यह है भगवद्भजन ।

अब भगवद्भजनरूप शरणागतिके उक्त चारों प्रकारोंका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है ।

भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करते हुए उनके परम पावन नामका नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे परम श्रद्धापूर्वक जप करना और उन्हीं भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन, चिन्तन, श्रवण और कथन करते रहना एवं चलते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते हर समय भगवान्की स्मृति रखना—यह शरणका पहला प्रकार है ।

दूसरा प्रकार है—भगवान्की आज्ञाओंका पालन करना । इसमें केवल इस बातकी ओर ध्यान देना है कि कहीं मन इन्द्रियोंके और शरीरके कहनेमें आकर केवल उनकी अनुकूलतामें ही न लग जाय; बल्कि यह विचार बना रहे कि भगवान्की आज्ञा क्या है—और यही विचारकर काम करता रहे । भगवदाज्ञा क्या है ? और वह कैसे प्राप्त हो ? इसका उत्तर यह है कि एक तो श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे भगवान्के श्रीमुखके वचन हैं ही । दूसरे भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके वचन भी भगवदाज्ञा ही हैं क्योंकि जिस अन्तःकरणमें स्वार्थ और अहङ्कार नहीं रहा, वहाँ केवल भगवान्की आज्ञासे ही स्फुरणा और चेष्टाएँ होती रहती हैं । तीसरे उन महापुरुषोंके आचरण ही हमारे लिये आदर्श हैं, क्योंकि भगवान्ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।'

चौथे, साधकके अपने राग-द्वेषरहित अन्तःकरणकी स्फुरणा भी भगवदाज्ञा समझी जा सकती है । पाँचवें, कोई भी मनुष्य अपने स्वभावके अनुकूल ही आज्ञा देता है, अतः उन परम दयालु प्रभुके स्वभावको समझना चाहिये कि श्रीभगवान् आज्ञा देंगे तो अपने स्वभावके अनुसार ही तो कहेंगे, क्योंकि वे सर्वसुहृद् हैं । इससे जिस कार्यमें अपने स्वार्थका त्याग और जीवमात्रका परम कल्याण हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो, वह श्रीभगवान्की आज्ञा है । इस प्रकार उनकी आज्ञाका रहस्य समझकर उसके अनुकूल चलनेमें कभी कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये, बल्कि उसीको अपना परम धर्म समझकर उसीके अनुसार प्राणपर्यन्त चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः ।'

तीसरा प्रकार है—सर्वस्व प्रभुके समर्पण कर देना । वास्तवमें तो सब कुछ है ही भगवान्का । क्योंकि न तो हम जन्मके समय कुछ साथ लाये और न जाते समय कुछ ले ही जायँगे; तथा न यहाँ रहते हुए भी किसी भी वस्तु तथा शरीरादिकोंको हम अपने मनके अनुसार चला

ही सकते हैं । इससे यह बात स्पष्ट समझमें आती है कि हमारा कुछ भी नहीं है, सब कुछ केवल भगवान्‌का ही है और उन्हींके अधीन है । फिर भी हमने उन सबमें भ्रमसे जो अपनापन बना रक्खा है, उसे उठा लेना है ।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।'

चौथा प्रकार है—भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न रहना । उसमें भी अनुकूलतामें तो प्रसन्नता रहती ही है, प्रतिकूलतामें वैसी नहीं रहती । वास्तवमें तो अनुकूलतामें जो प्रसन्नता रहती है, वह भगवद्विधान मानकर होनेवाली प्रसन्नता नहीं है, वह तो मोहपूर्वक है । भाव यह कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तः-करणकी अनुकूलताको लेकर जो प्रसन्नता होती है, वह मोहजनित है । उसे विवेकके द्वारा हटाकर 'भगवान्‌ने ही यह विधान किया है और यह मेरे लिये परम मङ्गलमय है'—इस प्रकार समझनेपर जो प्रसन्नता होगी, वही भगवान्‌के नाते होगी । फिर प्रतिकूलतामें भी दुःखकी बात नहीं रह जायगी । इस प्रकार भगवान्‌का विधान मान लेनेपर अनुकूल-प्रतिकूल सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की स्मृति बढ़ती रहेगी, क्योंकि वह परिस्थिति भगवान्‌की ही बनायी हुई है; यह प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर फिर मनुष्य भगवान्‌को कैसे भूल सकेगा । ऐसा हो जाय तभी यह समझा जा सकता है कि हमने सभी अवस्थाओंको भगवान्‌का विधान समझा है ।

विचारकर देखनेसे मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी प्रतिकूल घटनामें एक लाभ और अधिक है । अनुकूल घटनासे पुण्य क्षीण होते हैं और प्रतिकूल घटनासे पाप नष्ट होते हैं । तथा पापोंका विनाश ही हमारे लिये हित है एवं पुण्योंका विनाश ही हमारे लिये अहितकर है । दूसरी बात यह है कि प्रतिकूलतामें ही मनुष्यका विकास होता है, अनुकूलतामें तो उन्नतिकी रुकावट होती है । अतः प्रभु जितनी ही प्रतिकूलता भेजते हैं, उतना ही वे हमारा परम हित कर रहे हैं । बच्चेके जैसे मैला लग जाता है तब मा उसे धोती है तो बालकको वह स्नान कराना बुरा लगता है, वह रोता है, चिल्लाता है, किंतु मा उसकी चाहकी कोई परवा न करके उसे साफ कर ही देती है । ऐसे ही पापोंका विनाश करनेमें प्रभु हमारी सलाह न लेकर हमारे रोने और चिल्लानेकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर हमें शुद्ध कर ही देते हैं । और जैसे सुनार जिस सोनेको अपनाना चाहता है, उसको अधिक साफ करता है, ऐसे ही प्रभु जिस भक्तको पूर्वपापोंके अनुसार अधिक कष्ट देते हैं तो उसे यह समझना चाहिये कि अब प्रभु मुझे अपना रहे हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष ही मेरे पापोंका विनाश कर रहे हैं । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति ॥

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, धीरे-धीरे उसका समस्त धन हर लेता हूँ । तथा उसका बन्धु-बान्धवोंसे वियोग कर देता हूँ, जिससे वह दुःखपूर्वक जीवन धारण करता है ।'

एक बात और विचारनेकी है । भगवान् जब हमारे मनकी सुन लेते हैं अर्थात् हमारे अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं तब हमें संकोच होना चाहिये कि कहीं भगवान्‌ने हमारा मन रखकर हमारे लिहाजसे तो ऐसा नहीं कर दिया है । यदि हमारा मन रखनेके लिये किया है तो यह ठीक नहीं होगा । क्योंकि मन माफिक करते-करते तो बहुत-से जन्म व्यतीत कर दिये, अब तो ऐसा नहीं होना चाहिये । अब तो वही हो, जो भगवान् चाहते हैं । बस, भक्तकी यही चाह रहती है । अतः वह भगवान्‌के विधानमात्रमें परम प्रसन्न रहता है, फिर चाहे वह विधान मन, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल हो या अनुकूल । क्योंकि केवल प्रभुका विधान मानकर चलनेपर तो अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें परम मङ्गल-

ही-मङ्गल भरा है । अतः वह अपना मनोरथ भगवान्‌से अलग नहीं रखता, भगवान्‌की चाहमें ही अपनी चाह-को मिला देता है ।

इस प्रकार भगवान्‌का चिन्तन, भगवदाज्ञापालन, सर्वस्व भगवत्समर्पण और भगवद्विधानमें परम प्रसन्न रहना ही भगवद्भजन है ।

अतएव हम सबको चाहिये कि बहुत शीघ्र भगवद्भजनके ही परायण हो जायँ । ऐसे परायण हो जायँ कि भगवान्‌का भजन करते-करते वाणी गद्गद हो जाय, चित्त द्रवित हो जाय, मन भगवान्‌में ही लग जाय । फिर भजन करना न पड़े, स्वाभाविक ही होने लग जाय, तभी भजन भजन है, नहीं तो भजनकी नकल है; क्योंकि जो भजन किया जाय, वह नकली होता है और जो स्वतः बनने लग जाय, वह असली होता है । न होनेसे तो भजनकी नकल भी बड़ी अच्छी है, नकलसे भी आगे जाकर असली बन सकता है । इसलिये—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।

सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये ।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४७)

एक दिन यही अघदैत्य शङ्खासुरका पुत्र था; देखनेमें अत्यन्त सुन्दर था । कामदेव-जैसी शोभा इसके अङ्गोंसे झरती रहती थी । पर था यह अतिशय अभिमानी । रूपके गर्वने इसे अंधा बना दिया था । बाह्य सौन्दर्यके अभावमें भी कोई आदरणीय, वन्दनीय हो सकता है—यह विवेकशक्ति यौवनके उन्मादने हर ली थी । ऐसे रूपमदोद्धत युवक असुरको अष्टावक्र मुनिकी आकृति देखकर हँसी न आवे, यह भी कभी सम्भव है ? मुनिपर दृष्टि पड़ते ही वह हँस पड़ा । उसकी विकट हँसी मलयाचलशृङ्गोंमें प्रतिनादित हो उठी, मानो चन्दन वनसे नित्य शीतल मलयगिरिके अन्तस्तलमें भी इस महदपराधसे रोषका आविर्भाव हो गया हो, और वह महीधर गरज उठा हो ! अष्टावक्रका ध्यान तो उस ओर था ही नहीं, वे तो अपनी धुनमें अपने टेढ़े-मेढ़े शरीरकी स्वाभाविक वङ्किम गतिसे नीची दृष्टि किये चलते जा रहे थे । सहसा कानोंमें घृणाभरी ध्वनि आयी—'अरे, यह महाकुरूप है !' फिर तो मुनिके नेत्र ऊपर उठ गये । इस उक्तिका लक्ष्य कौन है, यह समझते उन्हें देर नहीं लगी । उनकी आँखें लाल हो आयीं । उनके-जैसे वीतराग मुनिजनोंमें भी क्रोधका अवकाश है, यह कल्पना नितान्त निरर्थक है । उनका यह क्षोभ तो—स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्य-लीला महाशक्तिने सुदूर भविष्यकी भगवदीय लीलाका आयोजन करने जाकर मुनिके मनको अपना यन्त्र बना लिया—इसका एक निदर्शनमात्र है । जो हो, अन्तरका यह रोष वाग्वज्र बनकर बाहर निकला । मुनिश्रेष्ठ अष्टावक्र बोल उठे—

……………………त्वं सर्पो भव दुर्मते ।
कुरूपा वक्रगा जातिः सर्पाणां भूमिमण्डले ॥

'रे दुष्टबुद्धि, जा, सर्प बन जा । भूमण्डलपर सर्पोंकी जाति ही कुरूप एवं कुटिल गतिवाली होती है ।'

शङ्खासुर-तनयके रूपगर्वको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये इतना पर्याप्त था । तत्क्षण ही वह मुनिके चरणोंमें लोट गया । अब अग्रिम कृपाप्रसाद प्राप्त होनेमें विलम्ब क्यों हो ? अष्टावक्रने प्रच्छन्न अनुग्रहकी सूचना दे

दी—'जिस दिन कोटिकन्दर्पलावण्य श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हारी उदरदरीमें प्रवेश करेंगे, उस दिन तुम्हारी सर्पयोनि छूट जायगी।'

कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीकृष्णस्तु तवोदरे।
यदा गच्छेत् सर्परूपात्तदा मुक्तिर्भविष्यति॥

इस प्रकार शङ्खासुर-पुत्रके सर्पकलेवरका आरम्भ हुआ। पर आगे चलकर किसी अचिन्त्य कारणवश पुनः उसमें असुरोंकी मायाशक्ति जाग्रत् हो उठी, यथेच्छ रूप धारण करनेकी क्षमता आ गयी और अघ दैत्यके रूपमें वह कंसका विशिष्ट परिकर बना। अवश्य ही सर्पाभिनिवेश उसमें निरन्तर जाग्रत् रहा। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं; अतीतकी घटनाको वह सर्वथा भूल चुका था। मुनिके शापकी, वरदानकी उसे विस्मृति हो गयी थी। नामके अनुरूप ही चेष्टाशील होकर वह अघासुर अपने पापोंका घड़ा भर रहा था। और अन्तमें तो अपने त्राताको ही सदलबल वह मुखका ग्रास बना बैठा। फिर भी परिणाम जितना सुन्दर हुआ, उसका तो कहना ही क्या है—

मुनि दुर्लभ गति दीन, प्रभु परसै कौ फल मिल्यौ।

मुनिकी बात मिथ्या होनेकी ही नहीं थी। सत्य होकर ही रही। अस्तु,

जब श्रीकृष्णचन्द्र अघासुरके मुखसे बाहर निकल आये, फिर तो देववर्गके आनन्दका क्या कहना है! अपना इतना महान् कार्य करनेवाले—अघ-जैसे दैत्यका विनाश कर अभयदान देनेवालेके प्रति उन अन्तरिक्षवासियोंका हृदय न्यौछावर हो गया। उनके अन्तरका भाव-प्रवाह विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होने लगा। आनन्दविह्वल हुए देववृन्दने नन्दनकाननके अतिशय सुरभित कुसुमोंकी अञ्जलि भर-भरकर अजस्र सुमन-वृष्टि आरम्भ की। अप्सराएँ छम-छम करती नृत्य करने लगीं। गन्धर्वोंके सुमधुर कण्ठकी स्वरलहरी, विद्याधरोंके वाद्ययन्त्रकी मनोहारिणी झङ्कृति सर्वत्र परिव्याप्त हो उठी। विप्रकुलका भक्तिपूरित स्तवन, भगवत्पार्षदोंका 'जय-जय' निनाद गगनके कण-कणको मुखरित करने लगा। जिनके पास जो वस्तु थी, जो कला थी, उसकी भेंट समर्पित कर वे श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने लगे—

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३४)

लखि प्रभु चरित देव हरषाने।
बरषि सुमन हिय अति सुख माने॥
गान करहिं गंधर्व प्रवीने।
अप्सर करहिं नृत्य रस भीने॥
बिबिध भाँति के बजे बधाए।
द्विजवर करत विनय मन लाए॥
शंख शब्द जय शब्द अनेका।
दुंदुभि सुबर एक तें एका॥

भेरीका 'भम् भम्' रव, पटहपर निरन्तर आघात-जनित घोर शब्द, डिण्डिमका अति प्रचण्ड घोष, अविरल दुन्दुभिनाद, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर प्रभृतिका सम्मिलित गान, ऋषियोंका स्तोत्रपाठ—ये सभी परस्पर ऐसे मिल गये कि कुछ क्षण तो देवसमुदायकी श्रोत्रशक्ति अन्य किसी भी शब्दको ग्रहण करनेमें सर्वथा कुण्ठित हो गयी—

भेरीभाङ्काररावैः पटुपटहघनाघातसंघातघोरै-
रुच्चण्डैर्डिण्डिमानां ध्वनिभिरविरलैर्दुन्दुभीनां प्रणादैः।
गानैर्गन्धर्वविद्याधरतुरगमुखप्रेयसीनां मुनीनां
स्तोत्रैः शब्दान्तरेषु क्षणमिव बधिराः स्वर्गिणस्ते बभूवुः॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

सचमुच अमरनगरी मानो इस प्रमोद-प्रवाहमें निमग्न होकर मत्त हो उठी—

मत्तेवासीदमरनगरी सागरीयप्रमोदैः।

अमरावतीका यह आनन्दोच्छ्वास जनलोक, महर्लोक, तपोलोकको मुखरित करते हुए सत्यलोकको

स्पर्श करने लगा। जगत्स्रष्टा पितामहकी सृजन-समाधि टूटी। आठों कर्णरन्ध्र देवोंके इस तुमुल आनन्द-कोलाहलसे पूर्ण हो उठे। पितामहके आश्चर्यका पार नहीं। अकस्मात् विबुधवृन्दकी इस आनन्दद्युतिके कारणका अनुसन्धान पानेके लिये वे चञ्चल हो उठे। परम अद्भुत स्तव-पाठ, सुमनोहर वाद्यवादन, रमणीय सङ्गीत-स्वर, जय-जयका विपुल नाद—इन सबसे सब ओर संपुटित महामहोत्सव एवं मङ्गलध्वनि, तथा यह भी अपने धामके अत्यन्त सन्निकट देशमें ही हो—फिर पद्मयोनि स्थिर कैसे बैठे रहें ? वे तुरंत वहाँसे नीचे उतर आये, सबसे अलक्षित रहकर ही नीचे उतरे। पर आ पहुँचे वहीं, उसी आकाशमें, जहाँ—जिसके अञ्चलमें वृन्दाविपिनविहारीके अघासुर-उद्धारका कौतुक अभी-अभी सम्पन्न हो चुका है। आते ही स्रष्टाको कारण ज्ञात हो जाता है तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी ऐसी महिमा प्रत्यक्ष निहारकर उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती—

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद्
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३५)

अत्यन्त कलुषपूर्ण महाघृणित जीवन, एकमात्र परपीड़नका ही व्रत निभानेवाले अघासुरको ऐसी योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ गति मिली ! क्षणोंमें ही तो उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु श्रीचरणोंका स्पर्श प्राप्त हो गया, समस्त कल्मषराशि ध्वस्त हो गयी और अभक्तोंके लिये सुदुर्लभ सौभाग्य—भगवत्सारूप्य गतिकी प्राप्ति हो गयी ! किसे विस्मय नहीं होगा ? पर वास्तवमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं। जो सर्वस्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वावतारावतारी हैं, उन स्वयं भगवान् नरबालकलील श्रीकृष्णचन्द्रके लिये ऐसी अयाचित कृपाका दान सर्वथा सम्भव है—

नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः ।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३८)

जिनके श्रीविग्रहकी मानस-प्रतिमाको ही केवल एक बार क्षणकालमात्रके लिये हृदयमें धारण कर लेनेके कारण न जाने कितनोंको परमभक्तजनोचित गतिकी प्राप्ति हो चुकी है, जिनकी मानसिक मूर्तिमें अपनी भावनासे कल्पित, ध्यानपथमें क्षणमात्रके लिये उतरी हुई प्रतिकृतिमें ही ऐसी सुदुर्लभ गति दे देनेकी सामर्थ्य है, वे श्रीकृष्णचन्द्र, नित्यसिद्ध परमानन्दघनविग्रह व्रजेन्द्र-नन्दन, स्वरूपानन्दास्वादनपरायण मायातीत श्रीहरि जब स्वयं उस अघासुरके मुखविवरमें प्रविष्ट हो गये, तब फिर अवशिष्ट ही क्या रहा ? स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रको ही मुखमें धारण करनेवाले अघको यदि ऐसी परम सुन्दर गति मिले तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी विचित्रता नहीं—

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३९)

जो अखिलेस परावर स्वामी । सकल नियंता अंतरजामी ॥
माया मनुज तोक तनु धारी । कर्‍यो कर्म निज जन हितकारी ॥
नहि आचरज मानियहु कबहू । भयो अघासुर पावन अजहू ॥
महा अघी पाँवर सब भाँती । परसि अंग लहि सुगति सुहाती ॥
प्रतिमा जासु मनोमइ कोऊ । ध्यान करै कैसो किन होऊ ॥
लहै सुगति सो बिनहि प्रयासा । कंचन बपु सुत से अनयासा ॥
सदा नित्य सुख प्रभु भगवंता । सो प्रख्यात तोक श्रीकंता ॥
तासु अंग परसत भा पावन । महा अघी यह देव सतावन ॥
तौ आचरज कहा एहि माही । नाम लेत अघ कोटि नसाही ॥

और तो क्या, अघका वह महामलिन शरीर भी व्रजराजनन्दनकी सेवाका उपकरण बना। ऋषि-महर्षि केवल क्षणभरके लिये ध्यानपथमें ही जिनकी चरणरज-कणिकाका स्पर्श पानेके लिये लालायित रहते हैं, वे

श्रीकृष्णचन्द्र अघके उस सर्पकलेवरमें बहुत दिनोंतक सखाओंके साथ क्रीड़ा करते रहे, श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणप्रिय सखाओंके खेलनेके लिये वह सर्प-शरीर शुष्क होकर गुफा-सा बन गया, वृन्दावनमें उन शिशुओंको विहारके उपयुक्त मानो एक परम सुन्दर अद्भुत गिरि-कन्दरा प्राप्त हो गयी—

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३६)

हे नृप अजगर चर्म सुखाना। व्रज बालन कहँ खेल सुथाना॥
क्रीडा हेतु महा बिल मानी। खेलहि बालक अति सुख मानी॥

किंतु सर्पगुफाकी क्रीड़ा आज अभी आरम्भ नहीं हुई। यह तो आजसे एक वर्षके अनन्तर प्रारम्भ होगी। ऐसी क्रीड़ा तभी सम्भव है जब श्रीकृष्णचन्द्रके सखा उनके साथमें हों। पर सखामण्डली तो आज अभी कुछ घड़ीके अनन्तर ही ठीक एक वर्षके लिये विश्राम करेगी, वर्षव्यापी निद्रासुखका अनुभव करने जायगी, सदाकी भाँति आज सन्ध्या-समय शिशुओंका व्रजप्रवेश नहीं होगा, अघासुर-उद्धारकी इतनी बड़ी घटनाकी गन्धतक किसी भी व्रजगोप, गोपसुन्दरीको एक वर्षके लिये न मिलेगी। गोपशिशु श्रीकृष्णचन्द्रकी इस कौमारलीला—अघमोक्षणकी चर्चा व्रजमें करेंगे अवश्य, पर करेंगे उस समय जब बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्ण-चन्द्रकी आयुका पौगण्ड आयेगा। आजकी घटित घटनाको वे सब एक वर्षके पश्चात् व्रजमें जाकर सुनायेंगे; और ऐसे सुनायेंगे मानो उस दिन ही अभी-अभी अघका विनाश हुआ हो, आज ही अघको सदाके लिये विदा कर वे सब सन्ध्यासमय व्रज लौटे हों; इतनी नवीन घटना हो—

एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे॥
(श्रीमद्भा० १०। १२। ३७)

यह कुमार वय कृत हरि करमा। अहि मोचन रक्षन जन धरमा॥
कृत कुमार वय कर्म सब अहि मोचन प्रभु कीन।
सो पौगंड विषे कही लरिकन्ह अबहि नवीन॥

इसी एक वर्षमें—श्रीकृष्णचन्द्रके कौमार-पौगण्डके मध्यकालमें विश्वको चमत्कृत कर देनेवाली ब्रह्ममोहन-लीला होगी। और अब उसीकी प्रस्तावना करने श्रीकृष्णचन्द्र तरणितनया श्रीयमुनाके प्रवाहकी ओर चल पड़ते हैं। इसी समय श्रीकृष्णचन्द्रके स्तवनसे—ऐश्वर्य-कीर्तनसे अपने आपको कृतार्थ कर लेनेके लिये गिराधिदेवी गोपशिशुओंके कण्ठका आश्रय ग्रहण करती हैं, अपनी अमित शक्ति वहाँ भर देती हैं। पर शिशुओं-के अन्तस्तलसे अनर्गल प्रवाहित सख्यरसकी प्रबल धारामें सुरसुन्दरीके भाव कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। वे सब तो अपनी धुनमें अपने भावसे अपने कोटि-कोटि प्राणप्रतिम सखा कन्हैया भैयाके बल-वीर्यकी प्रशंसा करना चाहते हैं, कर रहे हैं, करते अघाते नहीं और सरस्वती उनके गीति-प्रवाहमें श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य बिखेरने लगती हैं। इसीलिये रह-रहकर बालकों-के मुखसे रससिक्त ऐश्वर्यकणके कुछ छींटे भी गिर ही जाते हैं। शिशु ही तो ठहरे। वे सब कितनी बार देख चुके हैं, जननी यशोदाके समक्ष उनकी माताएँ किस भाँति उनके नीलमणिकी प्रशंसा करती हैं। उस प्रणालीका अनुकरण तो इनके लिये स्वाभाविक है, वे करेंगे ही। और वहीं हंसवाहिनीको अवकाश भी मिल ही जाता है। जो हो, परमानन्दमें विभोर, श्रीयमुनाकी ओर अग्रसर होते हुए बालक अपने कन्हैया भैयाकी कीर्ति परस्पर एक दूसरेको सुना रहे हैं—

धन्य कान्ह, धनि नंद, धन्य जसुमति महतारी।
धन्य लियौ अवतार, कोखि धनि जहँ दैतारी॥
गिरि-समान तन अगम अति, पन्नगकी अनुहारि।
हम देखत पल एक मैं मार्‍यौ दनुज प्रचारि॥

और श्रीकृष्णचन्द्र? ओह! जय हो लीलामयकी लीलाकी! वे तो अघासुर-विजयका सम्पूर्ण श्रेय अपने सखाओंको ही देते जा रहे हैं—

हरि हँसि बोले बैन, संग जौ तुम नहिं होते?
तुम सब कियौ सहाइ, भयौ तब कारज मोंते॥

सुख किस ओर ?

(लेखक—श्रीब्रह्मानन्दजी)

संसारमें जितने भी भौतिक पदार्थ मनुष्यको उसके उपयोगके लिये मिले हैं, उनकी एक परिमित मात्रा ही उसे अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये काममें लानी है। यदि किसीके पास अपनी आवश्यकताओंसे अधिक जमा हो जाय तो उसे वहाँ लगा देना चाहिये, जहाँ उसकी कमी हो, जहाँ उसकी आवश्यकता हो; क्योंकि सारा मनुष्य-परिवार तो एक ही है। किसीकी आवश्यकताको पूरा करनेके लिये उस वस्तुको लगा देना वास्तवमें अपनेको ही देना है। हमारा आत्मा हमारे ही व्यक्तिगत शरीर और हमारे ही परिवारतक सीमित नहीं है; बल्कि सारा जगत् उसका विराट्-शरीर है। अतएव किसी 'और' को देना वास्तवमें अपनेको ही देना है। यही हमारे पास अपनी साधारण आवश्यकताओंसे अधिक एकत्रित हुई वस्तुओंका सदुपयोग है।

औरोंको भी यदि हम अपने ही समझते हुए उनके सुख-दुःखमें भाग लेते हैं तथा अपने तन, मन, धनसे आवश्यकतानुसार उनकी सहायता करते हैं तो हम अपनेको ही विस्तीर्ण करते हैं—फैलाते हैं, सीमासे असीमकी ओर प्रगति करते हैं; पञ्चभूतोंकी बनी इस साढ़े तीन हाथकी काल-कोठरीके कैदखानेसे अपनेको मुक्त कर उस असीम साम्राज्यके मालिक बन जाते हैं जिसमें सबको ध्वंस करनेवाला बली काल भी सदाके लिये समा जाता है। अपनेको मिली हुई वस्तुओंका सर्वात्मभावपूर्वक इस प्रकार सदुपयोग करना ही परम आनन्दके, परम शान्तिके, सच्चे सुखके उस अखण्ड और एकच्छत्र साम्राज्यको जीत लेनेका सनातन रहस्य है।

पर इसके विपरीत यदि हम अपने ही पास वस्तुओंका संग्रह (यहाँतक कि अनीति-अन्यायसे भी) करते जाते हैं तो हम अपना ही दम घोंटनेवाली सीमा बाँधते जाते हैं, लोहेके सीखचोंमें अपनेको ही जकड़ते हुए स्वयं अपने ही हाथों अपनी हत्या कर डालते हैं। सुख-शान्ति ढूँढ़ने जाकर दुःख तथा अशान्तिके अतल गर्तमें गिर पड़ते हैं। यही है महामोहका निश्चित परिणाम! अवश्य मिलनेवाला अन्तिम फल!

आखिर हम ऐसा करते ही क्यों हैं? वह कौन-सी भावना है जो इस अनर्थके मूलमें काम करती है? अपने पास आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंको संग्रह करनेका एक कारण तो यह है कि हम समझते हैं कि हमारे आसपासके अभावग्रस्त निर्धनलोग हमें धनी समझेंगे, बाबूजी कहेंगे, हमारा सत्कार करेंगे, समाजमें हम प्रतिष्ठित समझे जायँगे और हमारा झूठ भी सत्यके भाव बिकने लगेगा! पर जरा हम विचार करके देखें तो हम इस प्रकार सर्वनाशके मूल अहङ्कारको ही बढ़ावा दे रहे हैं। सबके साथ घुल-मिल जानेके, सबके साथ एकीभूत हो जानेके सर्वव्यापक, अनन्त और असीम हो जानेके विलक्षण सुखको पानेके बजाय सब ओरसे अपनेको समेटकर सबसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर क्रमशः अपनेको सङ्कुचित करते हुए हम दुःखोंका ही आवाहन करते हैं! अहंता-ममताका यह भूत हमारे ऊपर सवार होकर हमें प्रकाशसे अन्धकारकी ओर, जीवनसे मृत्युकी ओर, आनन्दसे दुःखकी ओर तथा मुक्तिसे बन्धनकी ओर ले जाता है! जो सबके साथ एकत्व स्थापित करता है; सर्वात्मभावसे प्रेरित होकर सबका अपना बनना चाहता है वह अपना आधार विस्तृत करता जाता है। विस्तृत आधारपर ठहरी हुई कोई चीज गिरती नहीं। पर जो अपनेको औरोंसे समेटते हुए, सिकोड़ते हुए, अलग करते हुए, अपने आधारको घटाते-घटाते एक बिन्दु (Point) मात्र कर डालता है वह आवश्यक, अनावश्यक पदार्थोंके संग्रहसे पोषण पाये हुए अपने अहंरूपी सिरेके भारी हो जानेके कारण गिर पड़ता है। इस प्रकार बोझल चोटी (Top.heavy) हो जानेसे यही परिणाम हो सकता है।

हमें इस बातका या तो ज्ञान ही नहीं होता या हम इसे जाननेके कष्टसे बचना चाहते हैं कि जिन अभाव-ग्रस्त निर्धन लोगोंमें (जिनको निर्धन बनानेका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कारण हम भी हैं) बड़े कहलाकर हम पूजा-प्रतिष्ठा चाहते हैं, उनमें बहुत-से तो ऊपरसे भले ही हमारा सम्मान करते हुए प्रतीत हों पर उनके अंदर हमारे प्रति विद्वेषकी अग्नि सुलग रही होती है ! हम उनकी सहानुभूति खो बैठते हैं ! यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है ! बिना एक दूसरेकी सहानुभूतिके कोई किसी बातमें कितना ही बड़ा क्यों न हो, दीर्घकालतक सुखी नहीं रह सकता । हम उनकी सहानुभूति ही नहीं खो बैठते, बल्कि अवसर मिलते ही उनमेंसे बहुत-से तो हमें भूमिसात् कर देनेके लिये, मिटा देनेके लिये तैयार हो जाते हैं ! इस प्रकार हम धनके साथ-साथ अपने शत्रु भी पैदा करते जाते हैं जिनके कारण हमें रात-दिन भयभीत रहना पड़ता है ! धनिकोंके तो अपने ही घरके लोग अपने नहीं होते । उनके साथ उनके घरके लोगोंका जो प्रेम और सहानुभूति होती है, उसकी बुनियाद गहरी नहीं होती, ऐसा प्रायः देखनेमें आता है । ऐसे अभागे लोग क्या सच्चे सुखकी गोदमें बैठ सकते हैं ?

दूसरा कारण अपने पास औरोंकी अपेक्षा अधिक संग्रह करनेका यह हुआ करता है कि हम इन्द्रिय-भोगोंको ही एकमात्र सुखका हेतु समझकर उन्हें बटोरने लगते हैं । कुछ लोगोंपर तो बटोरनेका यह भूत इस हदतक सवार हो जाता है कि उन्हें नीति-अनीतिसे बटोरे हुए इन भोगोंके एक अल्प अंशको भी भोगनेकी फुरसत नहीं ! उन्हें खाने-सोनेतककी भी फुरसत नहीं होती ! अपने प्रेमीजनोंसे (यदि कोई सच्चा प्रेमी हुआ तो) मिलनेका अवकाश नहीं मिलता । सत्सङ्ग-स्वाध्यायकी तो बात ही दूर रही । वे तो तृष्णाकी अग्निमें जलते हुए बटोरते ही जाते हैं ! तृष्णाकी इस अग्निने मनकी शान्ति (Peace of mind) को तो जला ही डाला, इसके साथ-साथ भोग भोगनेवाले इस शरीरपर भी इसका घातक प्रभाव पड़ता है ।

और यदि किसीने भोगको ही अपने जीवनका लक्ष्य बनाया तो उसकी भी एक हद होती है । हदसे अधिक करनेपर भोग भोगनेकी क्षमता ही नष्ट हो जाती है । इन्द्रियाँ निर्बल और निस्तेज हो जाती हैं; मन बेकाबू हो जाता है; बुद्धिका नाश हो जाता है; शरीर नाना प्रकारके भयङ्कर रोगोंका शिकार बन जाता है । सुखके लिये तरसते-तरसते सुखकी वासना लेकर समयसे पहले ही कालका ग्रास बन जाना पड़ता है । और यदि ऐसा होनेसे पहले ही दैव-विधानसे हमारा धन, हमारे सुखके साधन हमसे छिन जाते हैं तो अकस्मात् हमारे ऊपर वज्र-सा टूट पड़ता है ! इस प्रकार सब तरहसे सुखके बदले दुःख ही पल्ले पड़ता है । जो सुख अपनेको पहले मिला था, वह भी हम खो बैठते हैं ! पर इसके स्थानपर यदि हम अपनी आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंको औरोंकी आवश्यकताओंको पूरा करनेमें लगा दें तो हमारा हृदय उदार होकर हमें अपने अंदरके अक्षय सुखके खजानेका पता लग जाय; उनके प्रेम और सहानुभूतिको पाकर हम सुखसे रहने लगें और भोगोंमें अति न कर सादा जीवन बितानेसे हमारा स्वास्थ्य भी बना रहे । जिस सुखको हम भोगोंकी प्रचुरतासे प्राप्त करनेकी आशा करते हैं वह तो हमें औरोंके साथ अपने खोये हुए सम्बन्धको पुनः स्थापित करनेसे अनायास ही मिलने लगता है । इस सत्यको हमें देर-सबेर जानना ही होगा । यदि हम ऐसा न करके औरोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करते हुए विपरीत दिशामें जाने लगें तो सारे विश्वको एक सूत्रमें ग्रथित करनेवाले विश्वनियन्ता भगवान्‌की विश्वशक्तिका कठोर आघात हमारी घोर मोह-निद्राको भंग कर देगा और हमें नतमस्तक होकर उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा ! मेरे पास-पड़ोसके लोग कठिन परिश्रम करनेपर भी जीवनकी मौलिक आवश्यकताओंको

पूरा न कर सकें और मैं आवश्यक-अनावश्यक पदार्थोंके प्रचुर संग्रहमें ही अपना सुख समझूँ, यह विषम स्थिति भला कबतक रह सकती है ? परस्पर आदान-प्रदानसे ही जगत्का व्यवहार—जगच्चक्र चला करता है। मैं केवल लेने-ही-लेनेका व्यापार करूँ और किसी-न-किसी रूपमें भी देना अपना कर्तव्य न समझूँ, अपने ही परम हितका साधन न समझूँ तो मेरे सुख-स्वप्नको कठोरतापूर्वक भी नष्ट करके मुझे ठीक रास्तेपर लानेवाली विश्वकी ओटमें काम कर रही विश्वात्माकी वह प्रचण्ड शक्ति किसी भी प्रकार भुलायी नहीं जा सकती ! वह अपना काम करके ही रहेगी ।

येन सर्वमिदं ततम्

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चटर्जी)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके मुखकमलसे निकले हुए जितने महावाक्य हैं उनमें 'येन सर्वमिदं ततम्' अन्यतम है। ये शब्द सहज और सरल हैं। इनका अर्थ भी सरल है—येन=जिसके द्वारा; इदम्=यह; सर्वम्=सम्पूर्ण (जगत्); ततम्=व्याप्त है। अतः इस वाक्यका अर्थ हुआ—'जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।'

अब इस सरल अर्थपर यह प्रश्न होता है कि किसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ! सम्पूर्ण जगत्को जो व्याप्त किये हुए है वह कौन है ! कैसे उसका अनुसन्धान किया जाय ! उसको कौन जानता है ! इन प्रश्नोंका उत्तर सरल नहीं दिखायी देता। यदि यह भलीभाँति ज्ञान हो जाय कि वह कौन है, तो जिज्ञासु मनुष्यकी अधिकांश शंकाएँ सहज ही दूर हो जायँ। उसका पता लगानेके लिये हमें श्रीगीताका ही आश्रय लेना है और प्रति अध्यायमें इन शब्दोंका अन्वेषण कर उनपर ध्यानपूर्वक विचार करना है।

इनका प्रथम प्रयोग हुआ है द्वितीय अध्यायमें। इस अध्यायके १७ वें श्लोकमें श्रीभगवान् भक्त अर्जुनसे कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

'उसको तू 'अविनाशी' जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस अविनाशीका कोई भी नाश नहीं कर सकता ।'

तो यहाँ यह ज्ञात हुआ कि सम्पूर्ण जगत्को जो परिव्याप्त किये हुए है वह नाशरहित है; भूत, भविष्य, वर्तमान—कोई काल ऐसा नहीं है जब कि वह न हो, अर्थात् वह कालातीत है; परंतु श्रीमन् मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—

विनाशो देशतः कालतो वस्तुतेन वा परिच्छेदः, सोऽस्य अस्तीति विनाशि परिच्छिन्नं, तद्विलक्षणम् 'अविनाशि', सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यम् ।

भावार्थ यह कि 'जो देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है, सीमित नहीं है, वह 'अविनाशी' है, केवल नाशरहित कहना पर्याप्त नहीं ।'

यहाँसे आगे बढ़कर अष्टम अध्यायके २२ वें श्लोकमें मिलता है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

श्रीभगवान् कहते हैं,—'हे अर्जुन ! जिसके अन्तर्गत सब भूत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्य है ।' इस श्लोकसे जिसको हम ढूँढ़ रहे हैं उसका इतना परिचय मिला कि वह (१) परम पुरुष है; (२) सब भूत उसके अन्तर्गत हैं; (३) उसीसे जगत् व्याप्त है और (४) वह भक्तिसे प्राप्य है। तात्पर्य यह कि जिससे ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है वही परमात्मा है और वही सब भूतोंका कारण है, क्योंकि सब उसीमें अवस्थित हैं; कार्यमात्र कारणके ही अन्तर्गत होता है। और अनन्य भक्तिसे—जिस भक्तिका दूसरा कोई विषय नहीं है—वह परम पुरुष प्राप्य है।

इसी यात्रामें अध्याय ९ श्लोक ४ में श्रीभगवान्की वाणी यों सुननेमें आती है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

'अपने अतीन्द्रिय स्वरूपद्वारा मैं समग्र चराचरको

व्याप्त किये हुए हूँ; स्थावर-जङ्गम समस्त भूत मुझमें स्थित हैं, परंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

यहाँ दो बातोंपर ध्यान देना है। प्रथम यह कि यहाँ भगवान्‌ने 'प्रथम पुरुष' छोड़कर 'उत्तम पुरुष'का व्यवहार किया है और कहते हैं कि मेरेद्वारा सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। यहाँ 'जिसके द्वारा' ऐसा नहीं कहते हैं। सुतरां यह निश्चय है कि श्रीकृष्ण वासुदेव ही सब जगत्‌को परिपूर्ण किये हुए हैं। दूसरी बात यह जो श्रीमधुसूदन सरस्वती अपनी टीकामें लिखते हैं—

त्वया वासुदेवेन परिच्छिन्नेन सर्वं जगत् कथं व्याप्तं प्रत्यक्षविरोधादिति नेत्याह—अव्यक्ता सर्वकरणागोचरीभूता स्वप्रकाशाद्वयचैतन्यसदानन्दरूपा मूर्तिर्यस्य तेन मया व्याप्तमिदं सर्वं न त्वनेन देहेनेत्यर्थः।

अर्थात् 'आप वासुदेव परिच्छिन्न जीव हैं; आपसे सब जगत् कैसे परिव्याप्त हो सकता है? यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है।' इस प्रश्नके उत्तर जैसे भगवान् कहते हैं—'अव्यक्तमूर्तिना'—अर्थात् सब इन्द्रियोंके अगोचर, स्वयं-प्रकाश, अद्वितीय, चैतन्य और सदानन्दस्वरूप जो मेरी मूर्ति है, उस मूर्तिसे मैंने जगत् व्याप्त कर रक्खा है, मेरी इस व्यक्त मूर्तिसे नहीं।' अतः लेखके प्रारम्भमें जो प्रश्न किया गया था—'जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है वह कौन है?' उसके उत्तरमें स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं अविनाशी, परम पुरुष अपनी अव्यक्त मूर्तिसे समग्र ब्रह्माण्डको व्याप्त करके विद्यमान हूँ और समग्र भूत मुझमें स्थित हैं।'

इसी तथ्यका भगवान्‌ने अध्याय १३ श्लोक १३ में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। ज्ञेय पदार्थका विषय अर्जुनको समझाते हुए वे कहते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

'वह (आत्मा) सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर, मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है तथा समस्त संसारको व्याप्त कर स्थित है।' एक महात्मा इस श्लोकपर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति जितने प्रकार प्राणी हैं, उनके हस्त, पद, नयन, मस्तक, मुख और श्रवणादि इन्द्रियगण जो सचेतन भावसे अपनी-अपनी क्रियाएँ करते हैं, इसका कारण वे ही हैं, वे ही यह देह-इन्द्रियादि एवं समस्त जगत्‌में अनुस्यूत भावसे अवस्थित हैं। लोहा जैसे अग्निका संयोग पाकर प्रज्वलित भावसे प्रकाशित होता है, तुमलोगोंके मन, बुद्धि और इन्द्रियगण भी उसी प्रकार उनके साथ लिपटे रहनेके कारण भीतर-ही-भीतर प्रकाश पाते हैं—चेतन होते हैं—और चेतन होकर नियमित भावसे अपना-अपना कार्य निष्पन्न करते हैं। कहना यह है कि जगदीश्वर न केवल सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त किये हुए हैं, परंतु अन्तर्यामीरूपसे जीव और जडके अन्तर रहकर सबको नियन्त्रित भी करते हैं।

(२)

अब हमारे प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके शरणागत शिष्य अर्जुनके वाक्योंमें हमको जो प्रकाश प्राप्त होता है उसपर विचार करना है। एकादश अध्यायके ३६ से ४० श्लोकोंमें अर्जुनने भगवान्‌की महिमामें एक अति उच्चस्तरके स्तोत्रका पाठ किया। इसीको 'विष्णुपञ्जर मन्त्र' भी कहते हैं। उसमें हमको सबसे पहले ये शब्द मिलते हैं—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

अर्जुन कहते हैं—हे अनन्तरूप! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्‌के परम आधार हैं, आप ज्ञाता और ज्ञेय हैं, आप परमधाम हैं और यह जगत् आपसे व्याप्त है।

४० वें श्लोकमें अर्जुन पुनः कहते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

'हे सर्वात्मन्! मैं आपको सम्मुखसे, पश्चात् भागसे और सब ओरसे नमस्कार करता हूँ; हे अनन्त पराक्रमशाली! आप यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप सर्व-स्वरूप हैं।'

यहाँ शब्द कुछ भिन्न हैं, परंतु मर्म वही है—जगत् आपसे व्याप्त है। उसके साथ अब यह भाव युक्त हुआ है कि वे ही सर्वस्वरूप हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस वाक्यको कठोपनिषद्‌में वर्णित तत्त्वका दिग्दर्शन कहें तो अप्रासंगिक न होगा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठ० २। २। ९-१०)

अर्थात् 'जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट एक ही अग्नि और एक ही वायु नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, वैसे ही सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपोंमें उन्हींके-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी वही स्थित है।'

(३)

हमारे प्रश्नोंके उत्तरमें एक बार और श्रद्धा-भक्तिसहित भगवान् श्रीकृष्णके एक गहन महावाक्यको सुनकर इस लेखका उपसंहार किया जायगा। अध्याय १८, श्लोक ४६ में भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उसको अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।'

अबतक तो जगत्-परिव्याप्त करनेवालेका पता लगाया जाता था, अब उसके साथ यह समस्या उपस्थित है कि जगत्की उत्पत्ति करनेवाला कौन है? दोनों क्रियाओंका एक ही कर्ता है या भिन्न-भिन्न? भगवान्ने जब एकवचन प्रयोग करके कहा कि 'उसको' पूजकर, तो यह सिद्धान्त निश्चय है कि दोनों कार्योंका कर्ता एक ही है। एक ओर वे अपने कार्यके कर्ता हैं—सृष्टिकी रचना करते हैं और उसमें अनुप्रविष्ट होकर अधिष्ठान करते हैं; और दूसरी ओर वे ही हमारे कार्यके फलदाता हैं। यदि हम अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुयायी कर्मोंके द्वारा उनकी उपासना करें तो हमारे कर्मोंका फल वे ही प्रदान करेंगे। इन बातोंके विश्लेषणसे यह ज्ञात होता है कि यह श्लोक श्रीगीतारत्न-भण्डारकी कुंजी है। ध्यानपूर्वक इसकी पुनः-पुनः आवृत्ति करनेसे इसके गम्भीरतम भावोंके चिन्तन और मननसे और इसके मार्मिक अर्थोंके ग्रहणसे, गीताशास्त्रका मूल उद्देश्य उद्घाटित हो सकता है। अतएव इस श्लोकके पदोंका पृथक्-पृथक् अध्ययन करना चाहिये जिससे सारा गूढ़ रहस्य स्पष्ट हो जाय।

यहाँपर श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी विचारधारापर अवश्य ध्यान देना चाहिये। उन्होंने लिखा है—

यतो मायोपाधिकचैतन्यानन्दघनात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानान्निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयीस्वप्नरथादीनामिव भूतानां भवनधर्मकानामाकाशादीनां येन चैकेन सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वमिदं दृश्यजातं त्रिष्वपि कालेषु ततं व्याप्तं स्वात्मन्येवान्तर्भावितं कल्पितस्याधिष्ठानानतिरेकात्। तमन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादादैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दति मानवः देवादिस्तूपासनामात्रेणेति भावः।

अर्थात्—यतः=जिससे अर्थात् मायोपाधिक चैतन्यानन्दस्वरूप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत्का उपादान और निमित्त कारणस्वरूप जिस अन्तर्यामीसे; भूतानाम्=भवन-धर्मक अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील आकाशादिकी; प्रवृत्तिः=स्वप्नकालमें रथादिकी तरह मायामयी उत्पत्ति होती है; येन=सत्स्वरूप और स्फुरणस्वरूप जिसके द्वारा; सर्वम् इदम्=यह सम्पूर्ण दृश्यपदार्थसमूह; ततम्=भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें परिव्याप्त हैं अर्थात् जिसके स्वरूपमें ही यह सब अन्तःस्थित है, जिसके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है, क्योंकि कल्पित पदार्थ भी अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं है। 'यतः' और 'येन' कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे जगत् कारणका उपादानभाव और निमित्तभाव दोनों व्यक्त हुए हैं, वैसे ही उसका एकत्व भाव भी प्रकट हुआ है। तम्=उस अन्तर्यामी भगवान्को; स्वकर्मणा=प्रत्येक वर्णाश्रमके लिये जो स्वतन्त्र भावसे कर्म नियत हैं उनके द्वारा; अभ्यर्च्य=पूजकर, उनके प्रसादसे; सिद्धिम्=एकात्मज्ञान-निष्ठाकी योग्यता जो सिद्धि है जिसको अन्तःकरणकी शुद्धि कहते हैं उसको; विन्दति=लाभ करता है; मानवः=मनुष्य; मनुष्य ही इस तरह (स्व स्व अधिकारानुरूप कर्मके द्वारा ईश्वरकी पूजाके प्रसादसे चित्तशुद्धि प्राप्तकर) उसको लाभ करता है, परन्तु देवता प्रभृति केवल उपासनाके द्वारा ही उसे प्राप्त करते हैं; 'मानवः' प्रयोग करनेका यही अभिप्राय है।

सारांश यह है कि मायाधीश अपनी मायासे जगत्-प्रपञ्च रचकर उसमें अनुप्रविष्टपूर्वक विराजते हैं। वे ही जगत्स्रष्टा परमेश्वर परमात्मा हैं; वे ही हमारे उपास्य देवता हैं। उनकी उपासनासे हमें अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा ही उनकी अर्चना शास्त्रविहित विधि है। अवश्य ही ये कर्म निष्काम हैं जो कि श्रीगीताका प्रतिपाद्य विषय है।

इस श्लोकमें जिस सिद्धिकी आशा भगवान् दे रहे हैं, वह 'अपरा' सिद्धि है। इसकी प्राप्तिका फल ४९वें श्लोकमें वर्णित है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

व्याख्या—जो कर्मफलादिमें वा पुत्र-कलत्रमें आसक्त न हो, जिसने विषयसे प्रत्याहार किये हुए अन्तःकरणको वशमें कर लिया हो, जो देह, जीवन वा भोग्य पदार्थोंमें कामना-वासना न रखता हो, जिसका काम्यकर्म पूर्णतया त्याग हो गया हो (इसीको भगवान्ने अध्याय १८ के आरम्भमें 'संन्यास' कहा है), वह विचारपूर्वक सम्पादन किये हुए ब्रह्म विषयका ज्ञानरूप नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त करता है ।

यह 'परा' सिद्धि है और यहाँ इसकी केवल प्राथमिक अवस्थाका निर्देश है । इसके उपरान्त जिस तपस्यासे नैष्कर्म्य-लब्ध पुरुष परम पद प्राप्त होता है, उसका भगवान्ने क्रमसे वर्णन किया है । यथा—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(१८ । ५०–५५)

इन श्लोकोंका यथार्थ अर्थ तो वही जानते हैं जिन्होंने इनपर यत्नशील होकर आचरण किया हो । गीता योगशास्त्र है । ये श्लोक उस शास्त्रके योगसूत्र हैं । महर्षि पतञ्जलिने कहा है कि योगयुक्त होनेके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ।'
(योग० १ । १४)

'वह अभ्यास दीर्घकाल, निरन्तर श्रद्धासहित करते-करते क्रमशः दृढ़भूमिमें स्थित होता है ।' उसी प्रकार जो साधक इन श्लोकोंपर निरन्तर श्रद्धासहित आचरण करता है, उसको पहले परा भक्ति प्राप्त होती है, परा भक्तिसे तत्क्षण तत्त्वज्ञान प्रस्फुटित होता है और तत्त्वज्ञान होते ही वह उस अनिर्वचनीय ब्रह्मतत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है—

येन सर्वमिदं ततम् ।

(४)

अन्तमें योगिराज श्रीअरविन्दने इस श्लोक (१८।४६) की व्याख्या करते हुए जो गम्भीर निबन्ध लिखा है, वह प्रणिधान करने योग्य है । उसमें सम्पूर्ण गीताशास्त्रमें प्रतिपादित साध्य-साधनपर एक विहङ्गम दृष्टिकी रेखा है—

The Gita's philosophy of life and works is that all proceeds from the Divine Existence, the transcendent and universal spirit. All is a veiled manifestation of the Godhead, Vāsudeva, *yataḥ pravṛttirbhūtānām yen sarvamidam tatam*, and to unveil the Immortal within and in the world, to dwell in unity with the soul of the universe, to rise in consciousness, knowledge, will, love, spiritual delight to oneness with the supreme Godhead, to live in the highest spiritual nature with the individual and natural being delivered from shortcomings and ignorance and made a conscious instrument for the works of the divine Śakti is the perfection of which humanity is capable and the condition of immortality and freedom. But how is this possible when in fact we are enveloped in natural ignorance, the soul shut up in the prison of ego,......mastered by the mechanism of Nature, cut off from our hold on the reality of our own secret spiritual force? The answer is that all this natural action contains the principle of its own evolving freedom and perfection. A Godhead is seated in the heart of every man and is the Lord of this mysterious action of Nature. And although this spirit of the Universe, this One who is all, seems to be turning us on the wheels of the world

as if mounted on a machine by the force of Māyā, shaping us in our ignorance by some skilful mechanical principle. Yet is this spirit our own greatest self and it is according to the real idea, the truth of ourselves that, birth after birth, as our opened eyes will discover, we are progressively shaped by this spirit within us in its all-wise omnipotence. This machinery of ego, this tangled complexity of the three Guṇas,—mind, body, life—emotion, desire, thought—interaction of pain and pleasure, sin and virtue—myself and others—is only the outward imperfect form taken by a higher spiritual Force in me which pursues the progressive self-expression of the reality and greatness I am secretly in spirit and shall overtly become in nature.

जीवन और कर्मके विषयमें गीताका सिद्धान्त यह है कि सबका प्रादुर्भाव एक सर्वोपरि एवं सार्वभौम तत्त्वात्मक भागवत-सत्तासे है। सब कुछ भगवान् वासुदेवकी ही सावरण अभिव्यञ्जना है (यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्)। अन्तःस्थ एवं विश्वस्थ इस अमरतत्त्वको प्रकट करना, विश्वात्माके साथ एकात्मता स्थापित करना, भगवान्‌के साथ चेतना, ज्ञान, इच्छा, प्रेम और आध्यात्मिक सुखमें एकता प्राप्त करना तथा भागवती शक्तिके कार्य-सम्पादनार्थ साधनभूत एवं त्रुटियों और अज्ञानसे मुक्त सहजस्वरूप जीवके साथ उच्चतम आध्यात्मिक स्वरूपमें अवस्थित होना ही वह पूर्णत्व है जो मानवताके लिये अभिगम्य तथा अमरत्व और मुक्तिकी आधारशिला है; परंतु वस्तुतः स्वाभाविक अज्ञानमें हमारे आवृत होते हुए, अहंकारके पिंजरेमें आत्माके बंद होते हुए, प्रकृतिसे नियन्त्रित होकर अपनी ही गुप्त आध्यात्मिक शक्तिकी सत्यतापर विश्वासके स्वामित्वसे वञ्चित होते हुए यह स्थिति सम्भव कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकारकी प्रत्येक स्वाभाविक क्रियामें उसकी अपनी मुक्ति एवं पूर्णत्वके विकासका बीज निहित है। प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें भगवान् आसीन हैं; वे ही प्रकृतिकी इस रहस्यमयी क्रियाके विभु हैं। और यद्यपि यह विश्वात्मा, यह सर्वरूप मायाके द्वारा हमें यन्त्रारूढ़की भाँति संसारचक्रपर घुमाता हुआ-सा प्रतीत होता है, तथापि यही परमात्मतत्त्व हमारा उच्चतम स्वरूप है, और वास्तविक तथ्यके अनुसार हमारे विषयमें—जैसा कि हम जन्म-जन्मान्तरमें देखते जायँगे—सच्चा ज्ञान यही है कि अपने अन्तःस्थ इस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् आत्माके द्वारा हमारी सदा उन्नति होती जा रही है। यह अहंकारका जाल, यह मन, शरीर, जीवन, भाव, इच्छा, विचार—सुखदुःखात्मक संघर्ष, पाप, पुण्य—मैं और पराये आदि त्रिगुणोंके जटिल प्रपञ्च, सभी मुझमें स्थित एक उच्चतर आध्यात्मिक शक्तिके बाह्य और अपूर्ण रूपमात्र हैं। यही शक्ति मेरी उस वास्तविकता तथा महत्ताका निरन्तर अधिकाधिक विकास किया करती है जो प्रच्छन्नरूपसे मेरी आत्मामें अधिगत है और प्रकटरूपसे मेरे प्राकृतिक स्वरूपमें मूर्त्त होगी।

प्रार्थना

(रचयिता—महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल, 'सिरस', साहित्यरत्न)

विद्या-बुद्धि सों सबल, ते अबल धन सों हैं, धन, धी के बली वश-माया-बल पाऊँ मैं।
राजा-राग-रंग-रँगे, रंकता की शंक करैं, राज्य-अंगभंग-भय-चक्रवर्ति गाऊँ मैं॥
सुख सों, अधिक दुख दबे दीन दुखित वे, योगी सिद्धि-हेतु भ्रमैं, भ्रमी के न धाऊँ मैं।
'सिरस' सो जाचक अजाचक कियो है जिन, राम सों बड़ो है कौन ताके पास जाऊँ मैं॥
वासना-विषय-वीची उठतीं उतंग-बहु, परिकै प्रवाह इतै उत धाइयतु है।
पातो नाहिं पार, परिवार-पोतहू कौं पाय, हाय, दुख दूनो सगो संग लाइयतु है॥
करम कौं कोष है करोरन कौं जन्म झुरो, परतो न कम कवौं, बढ़ो जाइयतु है।
प्रभु-गुन-गान सों 'सिरस' हू सरस भयो, चंदन-सुगन्ध, निंब मैं हूँ पाइयतु है॥

सत्सङ्ग-माला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्कसे आगे]

(८८) शरीर (स्थूल) तो जड है, विकारी है, नाशवान् है और आत्मा चेतनस्वरूप, सदा निर्विकार, नित्य और अविनाशी है; फिर यह संसारका गड़बड़झाला किसको लेकर है ?—चित्तको लेकर । चींटीसे लेकर ब्रह्मातक सब शरीरोंके चित्त त्रिगुणमय होते हैं । उनमें किसीमें सत्त्वगुण अधिक, किसीमें रजोगुण अधिक और किसीमें तमोगुण अधिक होता है । पर ऐसा कोई चित्त नहीं जिसमें गुण न हो । इन तीन गुणोंवाले जीवोंके कल्याणके लिये तीन श्रेयके मार्ग शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं—कर्ममार्ग, उपासनामार्ग और ज्ञानमार्ग । जिस प्रकार चित्तमें तीन गुणोंमें एक मुख्य होता है और दो गौण होते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक साधकको अपने कल्याणके लिये कर्म, उपासना और ज्ञानमेंसे एकको मुख्य और दूसरे दोनोंको गौणरूपसे निश्चय करना चाहिये । इन तीनों मार्गोंसे सांसारिक सुख या किसी प्रकारकी कामनाकी प्राप्ति चाहनेवाला मनुष्य संसारके चक्रसे छूट नहीं सकता । परंतु निष्कामभावसे केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये इन तीनों मार्गोंका सेवन करनेवाला साधक प्रभुको प्राप्त करता है । क्रियाका स्वरूप वही रहता है परंतु जिस आशयसे क्रिया होती है उसी हिसाबसे फल मिलता है । जो चित्त कर्म, उपासना और ज्ञानका सेवन करके जगत्के सुखकी इच्छा करता है उसे उसकी प्राप्ति होती है और जो भगवान्‌की इच्छा करता है, मोक्षकी इच्छा करता है उसे वह मिलता है । जैसी इच्छा वैसा फल । तब यह प्रश्न होता है कि समान परिश्रमके होते हुए भी फलमें इतना अन्तर है तो सब लोग मोक्षकी या भगवान्‌की इच्छा क्यों नहीं करते ? इसका कारण यह है कि जीवको इन्द्रियजनित सुख प्रत्यक्ष है, अतएव वह उसकी सहज ही इच्छा करता है । भोग-सुख प्रत्यक्ष है, परंतु वह परिणाममें दुःखरूप है, यह बात जैसे-जैसे विचारद्वारा मनुष्यकी समझमें आती है वैसे-ही-वैसे उसके प्रति उसे अरुचि हो जाती है । जबतक इन्द्रियोंके भोगोंमें रुचि है और रस मिलता है तबतक मनकी इच्छाएँ दूर नहीं होतीं । भोगकी इच्छासे ही चित्त एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करता है, अनेकों कर्मोंको करता है और उनसे दुःख, क्लेश और चिन्ता आदि भोगता है । अपने व्यक्तिगत अनुभव, विचार और सत्सङ्गके बिना चित्त भोगकी इच्छाओंको नहीं छोड़ता । भगवान्‌की शरण लेनेसे, भगवान्‌की भक्ति करनेसे, संतजनोंके सहवाससे और विचारसे भोगनेकी इच्छा धीरे-धीरे शान्त होती है । इसलिये भाई शान्तिसे, धीरजसे लगे रहो । चित्तमेंसे इच्छामात्रका नाश हुए बिना जन्म-मरणके चक्करसे जीव नहीं छूट सकता ।

(८९) चित्त जिसकी लालसा करता है उसे पाता है । जगत्‌में दो हैं—एक भोग-पदार्थ और दूसरे भगवान् । चित्त भोगका चिन्तन करता है तो भोग मिलता है । भगवान्‌का चिन्तन करता है तो भगवान् मिलते हैं । चित्त भोगका या भगवान्‌का चिन्तन क्यों करता है ? इसका उत्तर यह है कि शाश्वत सुखके लिये, अखण्ड आनन्दके लिये । जो सुख या आनन्द अखण्ड नहीं है, बल्कि परिणाममें श्रम, क्लेश, भय, चिन्ता और दुःख प्रदान करता है उसको उसी प्रकार ठीक-ठीक जान लेनेपर चित्त उसकी इच्छा नहीं करता । जगत्के अनेकों संस्कार चित्तको भुलावेमें डालते हैं, उनसे कभी चित्तमें भोगकी इच्छा जाग्रत् होती है, और फिर भोगके प्रति इच्छाका अभाव होकर भगवान्‌की इच्छा जाग उठती है । इस प्रकार चित्तका गड़बड़-घोटाला चला ही करता है । चित्तका यह भ्रम चिरकालसे है, इसलिये यह सहज ही दूर नहीं होता ।

चित्त एक बार सोचता है कि भोगकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, भोगका चिन्तन भी नहीं करना चाहिये, केवल भगवान्‌की ही चाह करनी चाहिये । इस प्रयत्नमें उसकी परीक्षाएँ होती हैं । उसके सामने अनेकों भोग आकर खड़े हो जाते हैं । उसीकी इन्द्रियाँ उनको भोगनेके लिये उसे ललचाती हैं । इस अवस्थामें यदि उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई होती है तो दीर्घकालसे हठपूर्वक भोगमेंसे रुचि हटाकर भगवान्‌में रुचि रखनेवाला मन भगवान्‌को छोड़कर भोगमें फँस जाता है । और एक बार भोगमें पड़ा हुआ मन सहज ही नहीं निकलता । तपस्वी विश्वामित्र तथा दूसरे अनेकों तपस्वी जिन्होंने भोगमात्रका त्याग कर दिया था, सहज ही भोगमें फँस गये । हठपूर्वक भोगसे हटाया हुआ मन भोगके लिये प्रबल आकर्षण होनेपर तुरंत ही उसमें फँस जाता है ।

अतएव भोगका त्याग करनेके लिये भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये । भगवान्‌की प्राप्ति करनेके लिये और भोगकी इच्छाका त्याग करनेके लिये जो भगवान्‌की शरण लेते हैं उनकी रक्षा भगवान् स्वयं करते हैं । इसी कारण भगवान्‌का भक्त भोगका सहज ही त्याग करके आसानीसे भगवान्‌को पा लेता है । क्योंकि भक्तका चित्त भोगका त्याग करनेके लिये अपने बलका भरोसा नहीं करता । बल्कि उन भगवान्‌का बल ही उसका आधार होता है कि जिसका बल अपार है । और जो भगवान्‌की शरण न लेनेवाले हठयोगी, विचारशील तथा अन्यान्य साधक चित्तकी भोगेच्छाको छुड़ानेकी चेष्टा करते हैं, वे अपने ही अल्प बलका भरोसा करते हैं, और इसी कारण उनकी चेष्टा निष्फल हो जानेकी अधिक सम्भावना होती है । इसलिये मोक्षकी कामना करनेवालोंको चाहिये कि भगवान् जो सर्वत्र व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबके आधार, दयालु और भक्तवत्सल हैं, उनकी शरण लेकर उनकी ही प्रार्थना करके, उन्हींकी दयाके द्वारा मुक्ति पानेके लिये प्रयत्न करे ।

(९०) शरीरमें चित्त है । चित्तके द्वारा ही जीव सुख-दुःखका अनुभव करता है, चित्त ही इच्छाएँ करता है । क्लेश, भय, चिन्ता, क्रोध, लोभ, द्वेष सबका करनेवाला चित्त ही है । इन सभी चित्तके भावोंका समावेश दोमें होता है—कामना और घबराहट । कामना और घबराहटसे चित्त अपनी जगहको छोड़कर इधर-उधर भटकता है । चित्तका आश्रय आत्मा है । आत्मा नित्य, अविकारी, अविनाशी, अनादि और आनन्दस्वरूप है । यदि चित्त शुद्ध आत्माके आश्रयमें रहे तो उसको शान्त, सुखस्वरूप और आनन्दस्वरूपका अनुभव हो । परंतु उसमें कामना और घबराहट जाग्रत् होती है, इससे वह आत्माके आश्रयको छोड़कर जगत्‌की ओर दौड़-धूप करता है, और इसीसे अपार दुःखका अनुभव करता है । जबतक आत्माके आश्रयमें रहता है तबतक अखण्ड सुख रहता है, और उसको त्याग करनेसे अपार दुःख होता है, इसलिये यह विचारना चाहिये कि ऐसा होते हुए भी कारण क्या है जो चित्त आत्माका आश्रय त्यागकर जगत्‌की ओर भटकता है । चित्तमें किसकी कामना जाग्रत् होती है ? किससे जाग्रत् होती है ? इस चित्तमें संस्कार भरे हैं और वे संस्कार सङ्गसे प्रविष्ट हुए हैं । चित्तको कामना तो सुखकी ही है । परंतु वह सुख किससे किस प्रकार मिलेगा, इसका निर्णय उसमें दूसरोंको देखने, सुनने, जानने और अनुभव करनेसे प्रविष्ट हुए संस्कार करते हैं । स्त्रीसे सुख मिलेगा, धनसे सुख मिलेगा, विद्यासे सुख मिलेगा, भोगसे सुख मिलेगा, यशसे सुख मिलेगा, राज्यसे सुख मिलेगा, ऐश्वर्यसे सुख मिलेगा, स्वर्गसे सुख मिलेगा, लोक-परलोक या उनके आधिपत्यसे सुख मिलेगा, ऐसे अनेकों संस्कार चित्तमें सङ्गके द्वारा घुसे हुए हैं । वे संस्कार चित्तको आत्मासे विमुख करके उन-उन इच्छाओंके लिये प्रयत्न करनेकी प्रेरणा करते हैं । और इच्छा पूरी करनेके लिये आत्मासे दूर होकर उसने जैसे ही इच्छा पूरी की कि तुरंत चित्त आत्माके आश्रयमें आकर खड़ा हो जाता है, क्योंकि सुख तो आत्मामें ही है । इसी कारण आत्माके आश्रयमें आते ही उसे सुखका अनुभव होता है । इस प्रकार आत्माके आश्रयसे इच्छित वस्तु मिलनेसे उसे सुखका अनुभव हुआ । यह सुख मिला आत्मासे ही, पर इससे चित्तने जाना कि अमुक वस्तुसे मुझे सुख मिला है । यह बिल्कुल भूल है । जिस प्रकार राजाके द्वारा किसी कामके लिये भेजा हुआ नौकर काम पूरा करके राजाके पास आकर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार चित्त किसी वाञ्छितसे सुख प्राप्त करनेके लिये वाञ्छितको प्राप्त करके आत्माके पास हाजिर हो जाता है ।

आत्मासे दूर गया चित्त जबतक आत्मासे विमुख रहता है तबतक श्रम, क्लेश, दुःख, चिन्ता, भय तथा ऐसे अनेकों प्रकारके कहे जानेवाले दुःखोंका अनुभव करता है । जिस प्रकार कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते समय अपने ही दाँतोंसे निकले हुए रक्तको हड्डीमेंसे निकला हुआ मानकर सुखी होता है, उसी प्रकार जगत्‌के भोग्य-पदार्थोंको प्राप्त कर शान्त होनेसे आत्मामें अनुभव होनेवाले सुखको चित्त ऐसा मान लेता है कि यह सुख भोगसे मिला है, अमुक भोगसे सुख मिलेगा । इस प्रकार पूर्वसे ही कल्पना करके जो उसके लिये यत्न करता है, उसीको उस भोगसे सुखका अनुभव होता है, दूसरेको नहीं । कामनासे चित्त आत्मासे विमुख हो जाता है । ज्ञानीका यह लक्षण है कि सुखके लिये उसका चित्त आत्माको छोड़कर दूसरे किसीका आश्रय नहीं लेता । सुखके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता । जिसे अखण्ड आनन्द कहते हैं, वह तो आत्मामें ही है । अतएव उसके लिये वह किसी औरका आश्रय नहीं लेता । इसीलिये अखण्ड आनन्दकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि सुखके लिये कामनामात्रका त्याग कर दे । जो कामनाओंका कभी सेवन नहीं करता, वह नित्य आनन्दित रह सकता है । घबराहट भी चित्तको आत्मासे

विमुख कराती है। अथवा कह सकते हैं कि आत्मासे विमुख चित्त घबड़ाता है और दुखी होता है। अतएव कभी घबड़ाना नहीं चाहिये। परंतु घबड़ाहट किससे होती है! कामनाके भङ्ग होनेसे। चित्तने यह कामना कर रक्खी है कि जगत्के प्राणी और पदार्थोंसे सुख होगा। और इस कामनाकी पूर्तिमें जब विघ्न पड़ता है तब उसे घबड़ाहट होती है। अतएव उचित तो यह है कि मनकी समस्त कामनाओंका त्याग करे। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'तो क्या कुछ भी न करे? विना कुछ किये कैसे बैठा रहा जा सकता है?' उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। अपने शरीरकी प्रकृतिके अनुसार सारे काम—अर्थात् जो कर्तव्य-कर्म हों वे सब करने चाहिये। परंतु सुखकी आशासे नहीं। यह तो निश्चय कर ही लेना चाहिये कि सुख जगत्के किसी भी पदार्थमें नहीं है। वह तो केवल आत्मामें ही है। वह आत्मा मुझसे अभिन्न है और उसका अनुभव शान्त चित्तसे होता है।

तब चित्तको कामना छोड़कर और बिना घबड़ाहटके सुखके लिये नहीं, बल्कि कर्तव्यके लिये जो करना हो, उसे करना चाहिये। शर्त एक ही है कि जो कुछ करो बिना घबड़ाये करो। जो कुछ करो बिना सुखकी कामनाके करो। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'मोक्षके लिये यत्न किया जाय या नहीं? भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न किया जाय या नहीं?' इसका उत्तर यह है कि मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न करना तो मानव-जीवनका प्रधान कर्तव्य ही है; परंतु यह समझना चाहिये कि सबका आत्मा ही तो भगवान् है। और वह नित्य प्राप्त है। अपना सच्चा स्वरूप है। प्रयत्न इतना ही करना है कि मन शान्त रहे। चित्त समाहित रहे। क्रिया चाहे जो करे परंतु शान्त चित्तसे करे, इसका नाम योग है। इस योगके अभ्यासीका लक्ष्य सदा चित्तकी ओर रहता है। जिसका चित्त सदा शान्त है वह सदा सुखी है। कोई पूछ सकता है कि 'वह क्या भोग भोगता है—खाता-पीता है?' हाँ, वह सब कुछ करता है पर शान्त चित्तसे। अधीर होकर नहीं, लोलुपता या आसक्तिसे नहीं। सुख प्राप्त करनेकी बुद्धिसे नहीं। भोगमें सुख नहीं है। पर सुखका अनुभव तो आत्मामें शान्त समाहित चित्तसे होता है। ऐसा पक्का निश्चय होना चाहिये। कैसा भी प्रसङ्ग आवे और कुछ भी किया जाय, शर्त एक ही है कि शान्त चित्तसे किया जाय। आत्माकी छायामें रहकर किया जाय। विकारहीन चित्तके द्वारा किया जाय। मुँहपर विकार न आने पावे, इस प्रकार किया जाय। अनेक जन्मोंके द्वारा प्राप्त की जानेवाली वस्तु यही है।

(११) चित्तको भगवान्में जोड़नेका नाम योग है। यहाँ जो कुछ है सब परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। परमात्मा सर्वत्र अव्यक्तरूपमें व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अविनाशी, अनादि आदि गुणोंवाले हैं, उनको भजकर मैं उन्हें प्राप्त करूँगा। वे मेरे सर्वस्व हैं, मुझे वे तारेंगे—इस भावनासे चित्तको भगवद्भक्तिसे भगवान्में जोड़नेका नाम योग है। चित्त जिसके लिये उत्सुक होता है उसे पाता है। इस प्रकार चित्त भगवान्के लिये उत्सुक होकर भगवान्में लीन हो जाता है। और आत्मा तो परमात्मस्वरूप यानी भगवत्स्वरूप है ही, इसलिये कह सकते हैं कि चित्त आत्मामें लीन हो जाता है। इस मार्गके साधकका जब चित्त व्याकुल होता है या उसे कोई इच्छा होती है तब उसके लिये वह अपने उपास्य भगवान्की शरण लेता है। और परमात्मा तो कल्पतरु है। उसका आश्रय लेकर जो इच्छा करता है वह पाता है। अतएव इस प्रकार भक्तियोगवाला अस्त-व्यस्त होकर काम करता हुआ भी आखिर भगवान्को प्राप्त करता है। दूसरा सांख्योंका मार्ग है। भक्तियोगमें भाव और श्रद्धा प्रधान होती है, तो सांख्यमें विचार और वैराग्यकी प्रधानता है। जिसमें भाव और श्रद्धाकी अधिकता हो, उसे भक्तिमार्ग ग्रहण करना चाहिये। जिसका वैराग्य अभी कच्चा है और भोगसे रस मिलता हो उसके लिये भक्तिमार्ग उचित है। भक्तिमार्गका फल विचार और वैराग्य है। इसलिये सांख्यमार्गवालेको भी, जब वह बीचमें कहीं आ पड़े तो, भक्तिका सेवन करते रहना चाहिये। सांख्यमार्गवालेको जान पड़ता है कि यह शरीर मैं नहीं हूँ। यदि मैं शरीर होता तो इसके मुर्दा होनेपर भी इसे व्यक्तित्व मिलता। परंतु तब तो सभी कहते हैं कि मुर्देको जला डालो, इसमें रहनेवाला चला गया। अतएव यह स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ। उसी प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धि भी मैं नहीं हूँ। भूले हुए मनको मैं उलाहना देता हूँ बुद्धिको मैं जानता हूँ, मैं जिसको जानता हूँ वह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार चित्तसे विचार करते हुए और शास्त्रके अभ्यास तथा सत्संगसे मैं कौन हूँ, इसका सूक्ष्म बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ज्ञात होता है कि मैं आत्मा हूँ, नित्य हूँ, मुक्त हूँ, परमात्मस्वरूप, शुद्ध चेतन-स्वरूप हूँ।

भक्तियोगमें भक्त भगवान्के सिवा दूसरे किसीकी भी इच्छा न करे, इससे उसका चित्त निष्काम बनता है। और

जो विघ्न या कठिनाई आती है उसको दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है, अथवा भगवान्ने इसमें भी मेरा हित समझा होगा, नहीं तो ये नहीं आते—ऐसा समझकर आनन्दसे उनका सहन करता है । इस प्रकार भक्त कामना और घबड़ाहट दोनोंका त्याग करके चित्तको भगवान्में जोड़ देता है । सांख्यवादी 'मैं आत्मा हूँ, असङ्ग हूँ, चित्त नहीं हूँ, मुझे भोग या मोक्षकी इच्छा नहीं, क्योंकि मैं नित्य मुक्त हूँ'—इस ज्ञानके बलसे चित्तमें होनेवाली इच्छाओंका शमन करता है । वह चित्तसे कहता है, 'तू मेरे लिये कोई इच्छा न कर । मैं भोक्ता नहीं हूँ । इसी तरह नित्य मुक्त होनेके कारण मुझे मोक्षकी भी इच्छा नहीं है ।' इस प्रकार कामनाका त्याग करता है । और घबड़ाहटका त्याग इस प्रकार करता है कि 'देहका दण्ड देहको भोगना चाहिये । चित्तने जो कुछ पहले किया है उसको भोगे बिना छुटकारा नहीं—हँस करके भोगे या रोकर भोगे, भोगना तो पड़ेगा ही । इसलिये शान्तिसे भोगना चाहिये ।' इस प्रकार ज्ञानमार्गवाला कामना और घबड़ाहट दोनोंका त्याग करता है । भक्त और ज्ञानी दोनोंके मन्द और मध्यम प्रारब्ध नष्ट हो जाते हैं, और तीव्र प्रारब्ध रहता है । उसका भोग दोनोंको ही करना पड़ता है । इस प्रकार दोनोंके चित्त अनेकों प्रयत्न करते हुए अन्तमें परम पदमें लीन हो जाते हैं । चित्तका सदाके लिये परमात्मामें लीन होनेका नाम मुक्ति है, और चित्तका भोगके लिये एक शरीरमेंसे दूसरे शरीरमें भटकनेका नाम जन्म-मरणरूपी संसार है । अब तुम्हें जो रुचे वही मार्ग ग्रहण करो ।

(९२) यह जो सारी अनन्त सृष्टि दिखलायी दे रही है, सो आत्मा-परमात्मारूपी कल्पवृक्षके नीचे रहकर चित्तके सङ्कल्पसे ही तो उत्पन्न हुई है न ? अनेकों जीवोंकी कल्पनासे यह सृष्टि खड़ी है । कोई जीव छोटे हैं, कोई बड़े हैं । कोई ब्रह्मा आदि देवता कहलाता है, तो कोई असुर कहलाता है । सब देहधारी हैं । सबके चित्त हैं । एकाग्र-चित्त जो सङ्कल्प करता है, वह प्रत्यक्ष होता है (आत्माकी छायामें रहनेके कारण) । तपके बिना कोई सङ्कल्प नहीं फलता । तप करनेपर जो इच्छा होती है, उसकी पूर्ति होती है । इच्छाके हिसाबसे तप करना पड़ता है । इसीलिये जो इच्छा सहज होती है, वह शीघ्र फलित होती है, और कोई कालक्रमसे फलती है । तपका अर्थ है इन्द्रियोंका निग्रह । चित्तको, इन्द्रियोंको जगत्की ओरसे खींचकर परमात्माकी ओर लगानेका नाम 'तप' है । और चित्त जभी परमात्मामें लीन हुआ कि सङ्कल्प फलित हुआ । जिस प्रकार बारूद-खानेमें आगका स्पर्श होते ही वह भड़क उठता है, उसी प्रकार चित्तमें रहनेवाली इच्छा, चित्तके भगवान्में लगते ही फलित हो उठती है, परंतु भोगकी इच्छा चित्तको सहज ही भगवान्में लगने नहीं देती । इसलिये भोगकी इच्छाकी अपेक्षा मोक्षकी इच्छा शीघ्र फलती है । परन्तु चिरकालके संस्कारके कारण भोगकी इच्छाको निकाल डालना कठिन लगता है । तुम दो ही काम करो—चित्तमें कामना न जागे और चित्त घबड़ाये नहीं । इस अभ्यासको कमर कसकर करो । परंतु ऐसा करते समय चित्त कभी बेकार न बैठने पाये, इसलिये उसको या तो भगवान्का नाम जपना सौंपो—बेकार होते ही भगवान्का नाम रटे—या मैं आत्म-स्वरूप हूँ, इसका चिन्तन करे ।

(९३) चित्तमें प्राण और वासना दोनों हैं । और वह त्रिगुणात्मक है । निष्काम भक्ति करनेपर ज्ञानके उदयके साथ वासना पतली होकर नष्ट हो जाती है । चित्तमें जो प्राण है, उसमें क्रियाशक्ति भरी है । यह क्रियाशक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकती । अतएव भक्तियोगका साधक हो या ज्ञानमार्गका अभ्यासी हो, दोनोंको ही हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये । अपने प्राणकी क्रिया-शक्तिके अनुसार निष्काम भावसे कर्म करना चाहिये । यह प्राणमें रहनेवाली क्रिया-शक्ति भी त्रिगुणात्मिका होती है और सबकी एक-सी नहीं होती । अतएव जिसके प्राणमें जैसी क्रिया-शक्ति हो उसीके अनुसार ही उसे कर्म करना चाहिये । परंतु दूसरोंको देखकर उनके हिसाबसे कर्म नहीं करना चाहिये । गीतामें जो कहा है कि 'परधर्मो भयावहः' उसका यही अभिप्राय है । सूक्ष्म प्राणकी क्रिया-शक्तिके मुख्य गुणोंके आधार चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । उनके कर्म भी गीतामें कहे गये हैं, उसके अनुसार ही कर्म करना उत्तम है । ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भारतवर्षमें ही हों, ऐसी बात नहीं है । ये तो सारे जगत्में हैं । सृष्टि त्रिगुणात्मिका होनेके कारण, जिसमें सत्त्वगुण प्रधान हो उसे ब्राह्मण समझना चाहिये । और इसी प्रकार दूसरे गुणोंके अनुसार दूसरे वर्ण । कर्म किये बिना चित्त नहीं रह सकता । इसी प्रकार प्राणके भीतरकी क्रिया-शक्ति जो प्रकृति कहलाती है उसके विरुद्ध कार्य करनेसे चित्तमें अस्वस्थता रहती है । इस समय जीव प्रकृतिके अनुसार कर्म नहीं करते । इसीसे चित्त व्यग्र, अप्रसन्न और दुखी रहता है । पुस्तकें

पढ़कर और उनसे ज्ञान प्राप्तकर तुम निष्क्रिय मत बन जाना। भगवान्‌ने कहा है—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'। अर्थात् बिना कामके रहनेमें तुम प्रीति मत करो। शरीरको आग्रहपूर्वक बिना क्रियाके रखनेपर मन सङ्कल्प-विकल्प करता है और उससे अनर्थ होता है। इसलिये तुम अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करो और भगवान्‌का भजन करो।

(९४) गीता किसी सम्प्रदायका ग्रन्थ नहीं है। जगत्‌के मनुष्यमात्रके ऊपर लागू होनेवाला ग्रन्थ है। इसमें कही हुई बातें स्वाभाविक हैं। और शरीरमात्रमें रहकर क्रिया करनेवाले चित्तका निदान ठीक-ठीक समझाकर गीताने यह बतलाया है कि चित्तको स्थायी शान्ति कैसे प्राप्त हो। गीताको सदा श्लोक और अर्थके साथ पढ़ना चाहिये, विचारना चाहिये, उसका नियमित पाठ करना चाहिये। पाठ करनेसे मुख्य श्लोक कण्ठस्थ हो जायँगे। और उन श्लोकोंका अर्थ जब चित्त फुरसतमें होगा, तब स्फुरित होगा। उसमें कहे हुए साधनके प्रति श्रद्धा होगी और उस साधनके लिये प्रयत्न करनेमें उत्साह होगा। गीतामें बतलाये हुए साधनोंके करनेसे ही सिद्धि मिल सकती है। दूसरे अध्यायमें बतलाये हुए स्थितप्रज्ञके लक्षण, तीसरे अध्यायमें बतलाया हुआ काम-क्रोधके नाश करनेका आग्रह, बारहवें अध्यायमें बतलाये हुए भक्तके लक्षण, तेरहवें अध्यायमें बतलाये हुए ज्ञानके लक्षण, चौदहवें अध्यायमें बतलाये हुए गुणातीतके लक्षण, सोलहवें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षण तथा इनके अतिरिक्त सारी गीतामें यत्र-तत्र कहे गये साधनोंको यदि साधक करें तो जरूर शान्ति प्राप्त हो। छठे अध्यायमें बतलाया हुआ चित्त-निरोधका उपाय आग्रहपूर्वक करने योग्य है। साधन किये बिना कुछ नहीं मिलता।

(९५) जगत्‌में जो दिखलायी दे रहे हैं, उन प्राणियों या पदार्थोंसे हमें आनन्द मिलनेवाला नहीं है। इसपर विचार करके सबसे पहले इसे निश्चय कर लेना आवश्यक है। जिस प्रकार लकड़ीके बनाये हुए पक्के आमका रंग और रूप सच्चे आमके-जैसे होता है, परंतु उसमें रस नहीं होता, उसी प्रकार जगत्‌के किसी भी प्राणी-पदार्थमें आनन्द नहीं है। जिस प्रकार रसकी इच्छावालेको बनावटी आमकी जरूरत नहीं होती, उसी प्रकार आनन्द—अखण्ड आनन्दकी इच्छावालेको इस जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंके सेवनकी जरूरत नहीं है। फिर चित्त इनकी इच्छा क्यों करता है? इसलिये करता है कि चित्तको यह भ्रम हो गया है कि इनसे आनन्द मिलेगा। परंतु इनके सेवनसे आनन्द मिलता नहीं। मन और इन्द्रियोंके अनुकूल विषयोंसे मन हर्ष प्राप्त करता है। परंतु वह हर्ष आनन्द नहीं है; क्योंकि वह हर्ष आगे चलकर ग्लानिमें परिणत हो जाता है। यदि भोगोंमें आनन्द होता तो भोग भोगते ही रहनेमें आनन्द-ही-आनन्द लगता। परंतु वैसा लगता नहीं। उलटे जी ऊब जाता है। आनन्द तो आत्मामें है। चित्त उस आत्मा या परमात्मामें डुबकी मारता है तो आनन्दका अनुभव करता है, प्रसन्न होता है। और उससे हटनेका मन ही नहीं करता। चित्त दीर्घकालका संस्कार होनेके कारण इस बातको सहज ही समझता नहीं। पर सदाचार, सत्सङ्ग, भक्ति और विचारसे धीरे-धीरे समझता है। चित्त जबतक जगत्‌के भोगोंके लिये प्रयास करेगा, तबतक कभी उसे शान्ति मिलनेवाली नहीं।

(९६) जैसे एक व्यसनी यद्यपि जानता है कि अमुक व्यसनसे उसकी हानि होती है। अतएव उसका त्याग करना चाहिये। तथापि वह उसका त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि उसे बहुत दिनोंकी आदत पड़ी होती है। उसी प्रकार मनने भोगोंमें रस मान लिया है और उसकी आदत पड़ गयी है। इसीलिये, भोगोंमें आनन्द नहीं, बल्कि दुःख है—यह जानकर भी वह उनको त्याग नहीं सकता। आदतको निकाल डालनेके लिये सत्सङ्ग, विचार, भगवान्‌की अनन्य शरण और उद्यमकी विशेष आवश्यकता है। और इनका सेवन करके तथा धीरज रखनेसे धीरे-धीरे उनका त्याग हो सकता है।

(९७) कुछ लोग प्राणायाम सीखने और करनेके लिये कहते हैं, और दूसरे सब जप, ध्यान, पूजा-पाठ आदि साधनोंको गौण बतलाते हैं। कोई कान बंद करके नाद सुनने और उसका अभ्यास करनेके लिये कहते हैं। कोई आँखें बंद करके अँधेरेमें जो कुछ दीख पड़े उसमें वृत्ति लगानेके लिये कहते हैं। इसके तथा इसी प्रकारके अनेकों उपायोंसे अनेक दृश्य दिखलायी देते हैं। अनेकों राग तथा बाजे सुन पड़ते हैं। तदनन्तर बहुत-सी दूसरी सिद्धियाँ आती हैं—ऐसा कहा जाता है और यह बात भी सच्ची है। हम ऐसे लोगोंसे पूछते हैं कि इन सबसे क्या लाभ है?—संसारमें यश फैले, सम्पत्ति मिले। इससे विशेष लाभ क्या हुआ? क्या मन मारा गया? भगवान् मिले?—उत्तर मिलता है—नहीं। ये सारे रास्ते भयङ्कर हैं। सुन लेना

सहज है, शुरू करना सहज है, परंतु ठेठ पहुँचना कठिन है । इन सब साधनोंको करने जाकर कितने ही लोग तो रोगी हो जाते हैं, कई मर जाते हैं और कितने ही पागल हो जाते हैं। इसलिये आजकलके युगमें भूलकर भी ऐसे मार्ग नहीं ग्रहण करने चाहिये । ईश्वरके नामका जप, इष्टदेवकी प्रेमसे पूजा, उनका ध्यान, पाठ, सदाचार, सत्सङ्ग और हरिकथा तथा अपना उद्यम करते रहनेपर सहज ही मन शान्त हो जायगा तथा भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी। अतएव लबार, दम्भी, ठग, धूर्तोंके वाग्-विलासके जालमें न पड़कर सर्वभावसे भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये। भगवान् तुम्हारे हैं, सबके हैं । भगवान् सर्वसमर्थ हैं । भगवान् तार देंगे । भगवान्‌में श्रद्धा रक्खो और सदाचार तथा सत्सङ्गको कभी न भूलो ।

(९८) बुढ़ापेमें कुछ नहीं होता । हो सके तो अभीसे करना शुरू कर दो । उम्रके बढ़नेके साथ शरीरकी, मनकी तथा इन्द्रियोंकी शक्ति घट जाती है । जठराग्नि मन्द हो जाती है । कानोंसे कम सुनायी देता है । आँखोंसे कम सूझता है । बहुत देरतक बैठा नहीं रहा जाता । माला फेरनेमें हाथ दुखता है । उठा-बैठा नहीं जाता । शरीरमें अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं । इसलिये अभीसे जबतक कि शरीरमें, इन्द्रियोंमें और मनमें शक्ति स्फूर्ति और उत्साह भरा है, तबतक भगवान्‌के नामका जप खूब करो, व्रत-नियम करनेका यही समय है। परोपकार, लोकसेवा तथा प्राणियोंके उपयोगी कार्य करनेका यही समय है । तीर्थयात्रा करनेका यही समय है । मन और इन्द्रियोंके संयमकी साधनाका यही समय है। भगवान्‌की भक्ति और सत्सङ्गका यही समय है। सद्गुणोंके धारण करने और दृढ़ करनेका यही समय है। ज्ञान प्राप्त करनेका यही समय है। सब प्रकारके सुकृतोंके करनेका यही समय है । परलोकके पाथेय तैयार कर लेनेका यही समय है । मुक्तिके लिये साधना करनेका यही समय है । ऐसा समय आयेगा जब आँखें अन्धी हो जायँगी, कान बहरे हो जायँगे, घरमें कोई पूछेगा नहीं, कोई कहा नहीं करेगा, भूख बहुत लगेगी पर खाया हुआ पचेगा नहीं, कोई बात करना नहीं चाहेगा, कोई पास नहीं बैठेगा, तुमसे कुछ होगा नहीं और दूसरे कहा करेंगे नहीं, कोई गिनेगा नहीं, चिढ़ावेंगे, दिल्लगी उड़ायेंगे । परिवारके लोग तिरस्कार करेंगे, पैसा पास होगा नहीं । दान-पुण्य होगा नहीं, तप-तीर्थ होगा नहीं, मरनेके समय मल-मूत्रका ठिकाना रहेगा नहीं, होश रहेगा नहीं, सन्निपात हो जायगा, न बोलने योग्य बातें मुँहसे निकलेंगी, कुछ पहचानमें नहीं आयेगा, मन बेचैन हो उठेगा, कण्ठमें कफकी घरघराहट होने लगेगी। इस समय सशक्त अवस्थामें यदि भगवान्‌की आराधना की हुई होगी, सुकृत किये हुए होंगे, भगवान्‌को अपनाकर भगवान्‌की अनन्य शरण ग्रहण की हुई होगी, तो चौदहों लोकोंके नाथ भगवान् आकर सामने खड़े हो जायँगे और बेहोशीकी हालतमें भी भगवान् अपने जनकी बाँह पकड़कर अपने धाममें ले जायँगे । इसलिये भाई ! तुम अपनी सशक्त अवस्थामें ऐसी कमर बाँधो कि (१) भगवान्‌का नाम-स्मरण खूब करो, (२) जब मौका लगे तभी परोपकार करते रहो, दूसरोंका भला करते चलो, (३) कभी किसीकी बुराई मत करो और (४) सगे-सम्बन्धी तथा इस संसार एवं संसारके भोगोंमेंसे मनको हटाकर उसे भगवान्‌में जोड़ते रहो । आये अवसरमें चूक जाओगे तो पछताओगे । ऐसा समय फिर नहीं आनेका । उठो । जागते हो या सो रहे हो ? कल्याणके मार्गपर कमर कसकर डट जाओ !

मनमोहनकी छबि

कानन कुंडल भानु न द्वै सम,
आनन पै बलि कोटि ससी ।
मृदु मंजरि मंजुल-सी तुलसी-
दल-फूलन-माल हियें हुलसी ॥

कटि के तट पै कल पीत-पटी,
दु-पटी ति-पटी लपटी-सी लसी ।
पंकज-से पग पै मनि-नूपुर-
की बिलसी छबि नैन बसी ॥

—बाबा हितदास

उत्तररामचरितमें सीताजी

(लेखक—पं० श्रीजयशङ्करजी त्रिपाठी)

उत्तररामचरितमें श्रीसीताजीका लोकोत्तर चरित्र भारतीय नारीके जिस महत्तम आदर्शकी सृष्टि करता है, उसकी कामना ही देशकी मनुता और गौरवका प्रतीक है। भगवान् श्रीरामके साथ उनका वनमें जाना और लङ्काकी यातना ऐसे स्थलोंपर सीताजीका वह परम पावन चरित्र, जिसकी कल्पना भी आजकी नारीमें नहीं कर सकते, महत्तमताकी जिस पराकाष्ठापर पहुँच गया है, श्रीरामभद्रके उत्तरचरितमें वह अलौकिकसे भी अलौकिक है। उनकी उस लोकलीलाका गान वाल्मीकि और कालिदासने भी किया है किंतु उसका प्रत्यक्ष दर्शन कविकुलगुरु भवभूतिके द्वारा ही हुआ है। उनके उत्तररामचरित नाटकमें भगवान्की लोक-लीलाके साथ पति-पत्नीके जिन श्रेष्ठतम आदर्शों-की सृष्टि हुई है वह मनुकी सन्तानके मनुजत्वके लिये अति आवश्यक है।

भगवान् लङ्काविजय करके अयोध्या लौटे और सभीकी अभिलाषा पूर्ण करते हुए राजसिंहासनका भार उन्होंने अपने ऊपर लिया। लोकोत्तर आनन्दके साथ प्रजाके दिन बीतने लगे; सीता गर्भवती हुईं जिसके कारण भविष्यकी आनन्दकल्पनामें राजकुल डूब गया और प्रजा भावी सनाथतासे सम्पन्न हुई। इसी समय किसी क्षुद्र नागरिककी सीताके लङ्का-निवासकी अपवाद-कल्पना महाराजा श्रीराघवेन्द्रके कानोंतक पहुँची। यद्यपि ऋषि, महर्षि, लोक सभी जानते थे कि सीताजीकी शुद्धता अग्निके द्वारा प्रमाणित है फिर भी यह लोकापवाद लोकवत्सल रामके लिये चिन्तनीय हो गया। उन्होंने सीताजीके यह कहनेपर कि 'मैं इस प्रत्युत्पन्न-दोहदावस्थामें पुनः उन पूर्व-परिचित वनोंकी सघन, गम्भीर वनराजियोंमें विहरना चाहती हूँ, पुनः शीतलतरङ्ग भगवती भागीरथीमें मज्जन करना चाहती हूँ,' जंगल भेजनेका अच्छा बहाना पाकर प्रजाकी वत्सलताके लिये बड़े खेदके साथ लक्ष्मणके द्वारा सीताको निर्वासित कर दिया।

सीताको जब वन-निवासकी वास्तविकता ज्ञात हुई, तब उन्होंने इसे रामका दोष नहीं वा रामके वात्सल्य भाजन प्रजागणका दोष नहीं, किंतु अपने दुर्विपाकोंका फल समझा। एक बार जब रामने बातों-ही-बातोंमें कहा था कि लोकके स्नेह, दया और सौख्यके लिये जानकी-को त्यागते हुए भी मुझे व्यथा नहीं, तब सीताने कहा इसीलिये तो आप रघुकुलश्रेष्ठ हैं; वह दिन सीताके सामने आ गये, आसन्नप्रसवा सीताने पुनः वनवासके दिन देखे। कितना दारुण कष्ट था, उन्होंने खूब रुदन किया और अपने भाग्यको कोसा; रघुकुलवंशवर्द्धक कुश-लवको जन्म देकर माता धरतीके आश्रित हुईं। इस प्रकार वनवास लेकर राममें एकात्मता रखते हुए सीताने भगवान्के लोककार्योंमें उनका पूर्ण साथ दिया। पतिमें स्त्रीको वामाङ्गताका परिचय सीताके चरित्रमें ही होता है।

इतना सब होनेपर भी भगवान् राममें सीताकी एकनिष्ठता थी, रामके प्रति उनमें अलौकिक पूज्यभाव थे। वे वनवास सेवन करती हुई पतिके विरहका कष्ट भोग रही थीं; किंतु इससे भी बढ़कर कष्ट उन्हें यह था कि भगवान् उनके विरहमें व्यथाका भार ढो रहे होंगे; क्योंकि भगवान्का उनके प्रति जो प्रेम था उसे वे ही जानती थीं, बिना सीताके भगवान्का एक क्षण भी व्यतीत होना कठिन था।

उत्तररामचरितके दूसरे, तीसरे अङ्कमें कविने राम और सीताके अनन्य अपार प्रेमका दर्शन कराया है।

शम्बूकको दण्ड देनेके लिये भगवान् श्रीरामभद्र पूर्व-परिचित दण्डकारण्यमें पहुँचते हैं और शम्बूकको दण्ड दे चुकनेपर दण्डकवनमें जीवनकी पुरानुभूत स्मृतियाँ उनके मनमें जगने लगती हैं । सीताका स्मरण करके वे मूर्च्छित हो जाते हैं; क्योंकि आज सीताका दर्शन तो दूर रहा वे इस लोकमें अब जीवित भी कहाँ हैं? भगवान् रोते हुए कहते हैं—

त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता !
(३ । २८)

'हा ! भयभीत एकवर्षीय मृगशावकके समान चञ्चल आँखोंवाली, आपन्नगर्भसे अलसायी हुई सीता, जिसे मैंने लोकापवादके भयसे वनवास दे दिया उसका मुखचन्द्रसे युक्त कोमल कमलके नालके समान सुन्दर शरीर अब इस संसारमें न रह गया होगा, जंगलमें जंगली जानवरोंने खा डाला होगा !'

भगवान्ने तो यह निश्चय कर लिया था कि जंगलके हिंसक पशुओंद्वारा सीताकी जीवन-लीला समाप्त हो चुकी होगी; किंतु बात ऐसी नहीं थी । सीताजी अभी जीवित थीं । जब उन्हें यह मालूम हुआ कि भगवान् दण्डक वनमें शम्बूकको दण्ड देने आये हैं, तब वे उनका दर्शन करने अपनी सखी तमसाके साथ गुप्त रूपमें वहाँ पहुँचती हैं । भगवान् श्रीराम वनवासके समयकी सीताकी प्रिय सखी वासन्तीके साथ वनकी अनुपम शोभा, पुराने निवासस्थान, क्रीडाभूमि आदि देखते हुए सीताकी विरहव्यथासे मूर्च्छित हो रहे थे, उधर तमसाके साथ रघुकुलश्रेष्ठ भगवान्को देखनेके लिये आयी हुई सीता उनकी यह दशा देखकर प्रियतमके दुःखसे कातर होकर अचेतन अवस्थाको प्राप्त होने लगीं ।

भगवान् राम 'हा ! प्रिये जानकि क्वासि ?' आदि कहते हुए अपने उसी विश्वासमें निमग्न थे और उनके साथ वासन्ती भी—

किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ ! कथं बत मन्यसे ?

—कहकर उनके कथनके समर्थनद्वारा उन्हें और व्याकुल करती है । सीताजी भगवान्की इस दारुण अवस्थाको वासन्तीद्वारा बढ़ते हुए देखकर प्रियके दुःखसे दुखी

'त्वमेव सखि वासन्ति दारुणा कठोरा च या एवमार्यपुत्रं प्रदीप्तं प्रदीपयसि ।'

—कहकर मन-ही-मन कोसती हैं । भगवान् श्रीराम बार-बार सीताका स्मरण करके मूर्च्छित होते हैं और सीता भी उनके इस दुःखको देखकर उनसे दूनी संज्ञाहीन होती हैं । इतना सब होनेपर भी भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन सीता नहीं करतीं; क्योंकि सीताको यह डर है कि इस प्रकार करनेपर भगवान्का प्रजाधर्म कहीं नष्ट न हो जाय । इधर सीताकी पतिमें एकनिष्ठता, इधर रामका उनके प्रति असीम अनुराग—दोनोंकी विरहज्वालाको दूने रूपसे प्रदीप्त कर रहा है, दोनों उस विरहव्यथामें संज्ञाहीन हो रहे हैं; किंतु प्रजावत्सल भगवान्का कार्य था प्रजारञ्जन और भगवान्की मनोवृत्तियोंका अनुसरण सीताके लिये अनिवार्य था । अहो ! धन्य है वह चरित्र ! उसके बलपर पत्थर पानीमें क्या हवामें भी तैर सकते हैं । गुप्तरूपसे खड़ी सीता भगवान्के इस दारुण कष्टमें अत्यन्त दुखी हो रही हैं; किंतु कहीं भगवान्का धर्मभङ्ग न हो । उनकी मनोवृत्तियोंको समझकर उस भयसे सीता कष्ट सहती हैं पर प्रकट नहीं होतीं; ऐसी दारुण अवस्थामें भी प्रियके धर्मपालनमें इतना अनुराग ! अपनी स्मृतिमें प्रियको दुखी देखकर जब सीता कहती हैं—

'एवमस्मि मन्दभागिनी पुनरपि आयासकारिणी आर्यपुत्रस्य ।'

उस समय दुःखदायिनी रामकी अपराधिनी सीताके अनुरागकी पराकाष्ठा होती है।

सातवें अङ्कमें जब सबका सम्मेलन होता है, वशिष्ठकी धर्मपत्नी अरुन्धती पुत्र रामको आदेश देती हैं—

जगत्पते रामभद्र !

नियोजय यथा धर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यप्रकृतिमध्वरे॥

तब सीता मनमें कहती हैं—

'जानाति आर्यपुत्रः सीतादुःखं प्रमार्ष्टुम्।'

—अर्थात् कहनेकी आवश्यकता नहीं। रामके प्रति सीताकी कैसी अनन्य भावना है ! रामके पूर्व-चरित्रमें लङ्कामें 'सो भुज कंठ कि तव असि घोरा' की प्रतिज्ञा करनेवाली सीताका जैसा असामान्य चरित्र प्रकट हुआ है, वैसा ही उत्तररामचरितमें असाधारण स्वरूप दिखायी पड़ता है।

ऐसी ही पुत्रीके पिता होकर जनकने अपनी जनकता-को धन्य माना है। चौथे अङ्कमें पुत्रीके निर्वासनसे दुखी होकर पुरवासियोंके मर्यादा-उल्लङ्घन तथा रामकी अविचारशीलताके अपराधमें राजर्षि जनकके क्रोधकी चाप या शापके द्वारा प्रज्वलन-वेला देखकर सभी भयभीत हो जाते हैं और उनसे प्रजाके प्रति वात्सल्यभावकी याचना करते हैं।

कञ्चुकी दुःख प्रकट करती हुई कहती है—

'रामभद्रस्यापि दैवदुर्नियोगः कोऽपि यत्पौरजान-पदा नाग्निशुद्धिम् अल्पकाः प्रपिपद्यन्ते इत्यतो दारुण-मनुष्ठितम्।'

यह सुनकर राजर्षि जनक सन्तापसे विह्वल होकर कहते हैं—

'आः कोऽयमग्निर्नाम असत्प्रसूतिपरिशोधने ? कष्टम् ! एवंवादिना जनेन रामपरिभूता अपि वयं पुनः परिभूयामहे।'

'मेरी प्रसूतिका परिशोधन करनेवाला अग्नि नामका कौन है ? उसकी क्या सत्ता है। अहा कष्ट ! ऐसे कहनेवाले व्यक्तिसे रामसे अपमानित किये गये हमलोग पुनः अपमानित हुए।' यह सुनकर अरुन्धतीने कहा—अवश्य अग्नि यह वत्सा सीताके प्रति बहुत लघुतर अक्षर हैं और एक निःश्वास लेते हुए बोलीं—हा वत्से !

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं जनयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः॥
(४।११)

'सीते ! मेरे सम्बन्धसे तुम शिशु हो या शिष्या हो, जैसी भी हो किंतु तुम्हारे चरित्रका उत्कर्ष तुम्हें मेरेलिये वन्दनीय बना रहा है। शिशुत्व हो या स्त्रीत्व हो, तुम जगत्के लिये पूज्या हो। गुण ही पूजाके स्थान होते हैं, उसमें लिङ्ग और अवस्थाका भेद नहीं होता।'

धन्य है सीताका परम पवित्र चरित्र, जिसके गुण-गानमें माता अरुन्धती भी विह्वल हैं।

निश्चय ही भारतीय नारीके आदर्शनिरूपणमें महा-कवि भवभूतिको अनन्य सफलता मिलती है। उनके द्वारा निर्दिष्ट सीताका चरित्र भारतीय नारी-समाजके लिये सञ्चित निधि है।

करत रोष नहिं काहु सन, नहिं काहू सन प्रीति। तुलसी देखु बिचारि किन, यह वर नरकी रीति॥
खेदत काहू कहँ नहीं, नहिं बुलाइ कै लेत। माँगत काहू तें न कछु, नहिं काहू कछु देत॥

—मनोबोध

अजामिल-उद्धार और नाम-महिमा*

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज)

दो०-बोले शुक-नृप ! चित चपल, काहूमहँ लगि जाय ।
तौ सोवत बैठत उठत, सब थल वही लखाय ॥
चित्त अजामिलको फँस्यो, नारायन सुतमाहिं ।
नाम नरायन प्रिय लगत, सुनत नयन भरि जाहिं ॥

छ०-नारायनमहँ चित्त फँस्यो, नारायन नितदिन ।
सेवै प्रान समान रहै छिनहू नहिं वा बिन ॥
वेश्यापति यों फँस्यो मोहमहँ मृत्यु बिसारी ।
परि निरबार कराल कालकी आई बारी ॥
मृत्यु समय यमकिंकरनि, पकर्‌यो पापी अजामिल ।
'नारायन' मुखतें कह्यो, खेलत सुतकूँ लखि बिकल ॥
सुनि नारायन नाम विष्णु-पार्षद तहँ आये ।
यमदूतनिकूँ पकरि गदातें मारि गिराये ॥
डरिकें पूछैं 'दूत कौन तुम हमें भगाओ ।
मोल भाव बिनु किये तड़ातड़ मार लगाओ ॥
धर्मराजके दूत हम, पापीकूँ लै जात हैं ।
कर्‌यो न हम अपराध कछु, काहे आप खिस्यात हैं' ॥
विष्णु पारषद कहैं—'धरमको मरम बताओ ।
दंड जोग जिह नाहिं जाइ क्यौं व्यरथ सताओ' ॥
बोले यमके दूत 'धरम जो वेद बखान्यो ।
है अधरम बिपरीत बेद हरि रूपहि मान्यो ॥
हिंसक पापी सुरापी कूँ यमपुर लै जायँगे ।
नरक अगिनिमें डारिकें जाकूँ बिमल बनायँगे' ॥
हरि-पार्षद पुनि कहें—'दूत ! तुम कछु नहिं जानों ।
व्यरथ बजाओ गाल बिज्ञ अपनेकूँ मानों ॥
नारायन यह कह्यो अन्तमहँ मुखतें जानें ।
तौ हम ताकूँ फेरि परम पावन नर मानें ॥
चोर, जार, हिंसक, कुटिल, पापी चाहें होय अति ।
नाम उचारनतें तुरत, होइ शुद्ध पावै सुगति ॥
प्रायश्चित मनु आदि पापके विविध बतावें ।
तिनतें छूटें पाप किन्तु जड़तें नहिं जावें ॥
रहै बासना बनी फेरि हू पाप करिंगे ।
पुनि पुनि करिकें पाप नरकमहँ मनुज परिंगे ॥
प्रायश्चित सब पापको, पुरुषोत्तमको नाम है ।
तुम उच्चारन भर करो, फेरि नामको काम है ॥
लेवें जाको नाम यादि गुन ताके आवें ।
पुन्य कीर्ति भगवान नाम गुन ज्ञान करावें ॥
हरि गुन मनमहँ धँसे फेरि क्यौं पाप रहिंगे ।
बहुतक होवें हिरन सिंहकूँ देखि भगिंगे ॥
इत उत भटकै जीव क्यों, करे ब्यर्थके काम तू ।
सब प्रपञ्चकूँ छाँड़िकें, क्यौं न लेइ हरि-नाम तू ॥
कैसे हूँ हरिनाम लेत, फल निश्चय देवै ।
चाहें मनतें लेइ भले बेमनके लेवै ॥
हरिको लैकें नाम मार्गमें आवै जावै ।
कृष्ण कृष्ण संकेत करें सब बस्तु मँगावै ॥
मोदक घी बूरो सन्यो, दिनमें खाओ रातिमें ।
सब थल मीठो लगेगौ, घर खाओ या पाँतिमें ॥
भक्त न करें बिनोद बिषय सम्बन्ध जोरिकें ।
रहें उदासी सदा जगत सम्बन्ध तोरिकें ॥
लै लै हरिके नाम प्रेमतें हँसें हँसावें ।
रामभक्त करि हँसी कृष्णकूँ चोर बतावें ॥
कृष्णभक्त हँसि रामकूँ, बानर-भालूपति कहत ।
बनि बैरागी राम तो, बन बनमें रोवत फिरत ॥
राग अलापन हेतु रामको नाम उचारें ।
चाहें कहि कहि रामभक्तकूँ ताने मारें ॥
राम कहत लड़ि जायँ राम कहि प्रेम जतावें ।
ते नर कबहूँ भूलि नरककी गैल न जावें ॥
बिनु इच्छा ऊ रुईपै, चिनगारी पावक परै ।
जरे रुई तो अवसि ही, नाम नास अघ त्यौं करै ॥
गिरत परत मग चलत रपटि कीचड़ महँ जावै ।
अंग भंग ह्वै जायँ जीव हिंसकहु सतावै ॥
काटे कोई आइ देहमहँ पीड़ा होवै ।
ज्वर को होवै बेग चेतनाकूँ नर खोवै ॥
कैसेहू नर विवश ह्वै, हरि उच्चारन करिंगे ।
नाम प्रतिष्ठाके निमित, अघ तिनके हरि हरिंगे ॥

* श्रीब्रह्मचारीजीका 'भागवत-चरित' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ छप रहा है । लगभग ८०० पृष्ठका ग्रन्थ होगा । प्रायः सौ चित्र होंगे । मूल्य ५।) होगा । पुस्तक 'सङ्कीर्तन-भवन, झूसी'से प्रकाशित होगी । यह अंश उसी पुस्तकसे लिया गया है।

निज शुककूँ करि प्यार नित्य गनिका पुचकारै ।
मनविनोदके निमित रामको नाम उचारै ॥
स्वयं कहै हरि नाम और खगतें कहवावै ।
शुकमुखतें अति मधुर नाम सुनि हिय हरषावै ॥
मरन समय अब सुमिरिकें, वेश्या अति व्याकुल भई ।
संत चितायो अंत हरि, नाम कह्यो हरिपुर गई ॥

हरिकीर्तन वा श्रवन करें श्रद्धा बिनु प्रानी ।
निश्चय तेऊ तरैं, वेद-संतनिकी बानी ॥
राम विमुख लखि संत जीवपै यदि ढुरि जावें ।
बिनु इच्छाऊ देहिं नाम तोऊ तरि जावें ॥
कृष्ण नाम भव रोगकी, है अचूक ओषध सुगम ।
चाहें ज्यों सेवन करो, निश्चय देगी पद परम ॥

संत अनुग्रह करी बिमुखकूँ नाम सुनायौ ।
मर्यो अधम जब दूत तुरत यमपुर पहुँचायौ ॥
नाम श्रवनको पुण्य सुन्यो सब सुर घबराये ।
ब्रह्मलोक शिवलोक फेरि सब हरिपुर आये ॥
सुनि सब हरिने अंकमहँ, प्रेम सहित वाकूँ लयो ।
भवबन्धनतें मुक्त ह्वै, प्रभु पार्षद वह बनि गयो ' ॥

सुनिकें यमके दूत नाममहिमा हुलसाये ।
पाशमुक्त सो कर्यौ दौरि संयमनी आये ॥
इत सुनि शुभ संवाद नामकी महिमा जानी ।
निज पापनिकूँ सुमिरि अजामिल मन अति ग्लानी ॥
करि पापनिकूँ यादि जो, पछितावें दुख अति करैं ।
तिनके अघ सन्ताप प्रभु, जानि हृदय भल सब हरैं ॥

बारबार धिक्कार अजामिल देवै मनकूँ ।
हाय ! पापमहँ फँस्यो भुलायो निज द्विजपनकूँ ॥
तजे पिता अरु मातु दुःख जिन सहि सुख दीन्हों ।
तजी सती निज नारि मोह वेश्यातें कीन्हों ॥
करे पाप अति भयानक, करूँ न ऐसे काम अब ।
बिगरी मेरी बात तो, किन्तु बनाई नाम सब ॥

यों करि पश्चाताप मोह ममता सब त्यागी ।
वेश्या अरु सुत त्यागि राग तजि भयो बिरागी ॥
हरिद्वारमहँ जाइ योगको आश्रय लीन्हों ।
बिषयनितें मुँह मोरि युक्तितें मन बस कीन्हों ॥
दृश्यवर्गतें पृथक करि, आत्मा ज्ञान स्वरूपमहँ ।
फेरि अजामिल भक्तियुत, भये पारषद रूपमहँ ॥

आयौ दिव्य बिमान निहारे पार्षद तेई ।
पहिचाने ततकाल नाम दाता गुरु येई ॥
पंचभूतकी देह त्यागि पार्षद बपु धार्यो ।
तब फिर चल्यो विमान दिव्य वैकुण्ठ सिधार्यो ॥
अधम अजामिल हू तर्यो, नारायन कहि पुत्रहित ।
ते फिर क्यौं नहिं नर तरें, लेहिं नाम जे शुद्धचित ॥

संयमनी-पति निकट गये यमदूत खिस्याने ।
बिना भावके मार पड़ी सब अंग पिराने ॥
हाथ जोरि सब कहें—'प्रभो ! तुमई जगस्वामी ।
या तुमतें हू अपर ईश बड़ अन्तरयामी ॥
लावत हे हम नरकमहँ, जा पापीकूँ पकरिकैं ।
चारि पुरुष आये तहाँ, छुड़वायो अति झिरकिकैं ॥

शङ्ख चक्र बनमाल गदाभृत सेवक किनिके ।
काके हैं वे दूत कौन स्वामी हैं तिनिके ॥
सबके शासक आप जीव प्राननिके हरता ।
शासन सबको करैं शुभाशुभ निरनय करता ॥
इतने पै ऊ आपकी, आज्ञा उलंघन भई ।
बिना बातके बीचमें, हमरी दुरगति ह्वै गई ॥

नारायन है मन्त्र जंत्र वा जादू टौना ।
काहू नरने मृत्यु समय जिह नाम कह्यो ना' ॥
सुनि नारायन नाम भयो तनु पुलकित यमको ।
प्रेम मगन ह्वै कर्यौ ध्यान भगवत-चरननिको ॥
'जलद सरिस अति बिमलबर, जो हरि नित्य नवीन हैं ।
शिव विरंचि इन्द्रादि हम, तिनके नित्य अधीन हैं ॥

गुह्यभागवत धरम देवता सिद्ध न जानें ।
फिर नर, दानव, दैत्य ताहि कैसे पहिचानें ॥
अज,शिव,नारद,जनक,कपिल,मनु,बलि,शुक,ज्ञानी ।
भीष्महु, सनत्कुमार, धरम, प्रहलाद अमानी ॥
जानि भागवत धरमकूँ, परम भागवत ये भये ।
अन्य भक्त हू भक्तितें, नाम लिये हरिपुर गये' ॥

दूत कहें—'अब, नाथ ! नियम हमकूँ बतलावैं ।
जाइँ न किनके पास पकरि किनकूँ हम लावैं' ॥
धरमराज तब कहें 'नाम हरि जे न उचारैं ।
चितमें कबहूँ चरनकमल हरिके नहिं धारैं ॥
नहीं नवैं सिर कृष्णकूँ, हरिचर्यातें जे विमुख ।
लाओ तिनकूँ पकरिकैं, आइ उठावैं नरक दुख ॥

नाम गान सम जगत माहिं साधन नहिं दूजो ।
करो यज्ञ व्रत दान भले प्रेतनिकूँ पूजो ॥
नाम उचारत तुरत मलिनता मनकी जावै ।
माया मोह नसाय प्रेम प्रभुको हिय आवै ॥
नामकीरतन जे करहिं, जाउ न तिनके ढिंग कबहुँ ।
पहिले पापी रहे वे, आवें मम गृह नहिं तबहुँ ॥
कृष्ण कीरतन गुन गौरव जे गान करहिं नर ।
वे कबहूँ नहिं भूलि निहारें नीरस मम घर ॥
सब पापनिको एक प्राइचित मुनिनि बखानों ।
होयँ नामके रसिक उनहिं मेरो गुरु मानों' ॥

यम आज्ञा दूतनि सुनी, शिरोधार्य सबने करी ।
हरिकीर्तन करिकें चले, सब मिलि बोली जय हरी ॥
सो०–ता दिनतें मम दूत, नाम सुनत भगि जात झट ।
होत नामतें पूत, वा दिनतें निश्चय भयो ॥
छ०–पुन्य अजामिल चरित महापापी हू गावें ।
गाइ हियेमहँ धरें पाप पुनि चित्त न लावें ॥
तिनके पाप पहाड़ भस्म सबरे ह्वै जावें ।
जीवत सब सुख लहें अन्तमहँ प्रभुपद पावें ॥
अरथबाद याकूँ कहैं, ते नर कोरे रहिंगे ।
जीवत जग निन्दा लहैं, मरि नरकनिमहँ परिंगे ॥

सत्यमेव जयते नानृतम्

(लेखक—पं० श्रीरघुवर मिट्ठूलालजी शास्त्री, एम्० ए०, विद्याभूषण)

'सत्यमेव जयते नानृतम्' यह वाक्य स्वतन्त्र भारतका स्मारकसूत्र (Motto) है । इसका अर्थ यह है कि सत्यवादी पक्ष ही जीतता है, झूठा नहीं । यह वाक्य अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में आया है । इस प्रकरणके दो मन्त्र ये हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
(३ । १ । ५-६)

उपनिषदोंका विषय तो है आत्माका वर्णन । अतः अन्य प्रासङ्गिक विषय जो आत्माकी गुत्थी सुलझानेके लिये आख्यायिकादिके रूपमें समाविष्ट किये गये हैं वे अर्थवाद-वाक्य हैं जिनका तात्पर्य उस-उस विषयकी स्तुति वा निन्दाके द्वारा मुख्य विषयकी सङ्गतिमें होता है । इनमेंसे प्रथम मन्त्रमें तो आत्माकी उपलब्धि करानेवाले चार मुख्य निवृत्तिप्रधान साधनोंकी स्तुति की गयी है और द्वितीयमें उन चारोंमें भी प्रधान सत्यकी । शरीरके भीतर यह प्रकाशमय और शुद्ध आत्मा, जिसको वे संन्यासी देखा करते हैं जिनके चित्तके क्रोधादि मल क्षीण हो गये हैं, नित्य सत्यके सेवनसे (अर्थात् अनृत=मिथ्याभाषणके त्यागसे) नित्य तपसे (अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताके अभ्याससे) सतत सम्यग्-ज्ञानसे (अर्थात् अपरिपक्व ज्ञानावस्थावाले वाक्यार्थज्ञानरूप यथार्थ आत्मदर्शनसे) और अखण्ड ब्रह्मचर्यके पालनसे प्राप्त होता है । इन साधनोंका नित्य (निरन्तर) प्रयोग न करके कदाचित् उपयोग करनेवालेको आत्मप्राप्ति होना असम्भव है । सत्य ही जीतता है, झूठ नहीं । कामना (तृष्णा) से रहित हुए ऋषि (तत्त्वदर्शी) लोग जिसपरसे चलते हैं वह देवयानमार्ग सत्यसे विस्तीर्ण (सतत चालू) है । वे जहाँ पहुँचते हैं वह परमार्थ-तत्त्व (ब्रह्म) सत्यका परम निधान है । अर्थात् उसका दर्शन उन्हींको होता है जो कुहक (पर-वञ्चना), माया (जो भीतर किसी अन्य रूपमें है उसे बाहर अन्य रूपमें प्रकाशन करने), शाठ्य (विभवानुसार दान न करने), अहङ्कार (मिथ्याभिमान), दम्भ (ढोंग रचने) और अनृत (जैसा देखा-सुना हो उससे विपरीत बोलने) से सर्वथा रहित हैं ।

यद्यपि सत्य और अनृत (झूठ) की यह चर्चा परमार्थतत्त्वके साधनरूपसे की गयी है तथापि यह वही सत्य [और अनृत] है जो वाणीका विषय होनेसे परमार्थ-तत्त्वका साधन (means to the Absolute Truth) होता हुआ भी आपेक्षिक सत्य (relative truth) के रूपमें सांसारिक संस्थाओं (मानव-समाज, न्यायालय, स्व-पर-राष्ट्र इत्यादि) से भी सम्बन्ध रखता है । अतएव

उक्त वाक्यका स्वतन्त्र भारतके लिये स्मारक-सूत्र बनाया जाना चरितार्थ और उचित है।

उपनिषदोंमें 'सत्य' शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें मिलता है—एक तो साध्य (उपेय ब्रह्म)-रूप और द्वितीय साधन (उपाय)-रूप । प्रथम वाणीका विषय नहीं है और द्वितीय वाणीका विषय है । ब्रह्मके स्वरूपलक्षणके प्रसिद्ध वाक्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द-वल्ली प्रथमानुवाक) में आया हुआ 'सत्य' शब्द तो प्रथम अर्थ (परमार्थरूप सत्य Absolute Truth) का उदाहरण है और (तै० शीक्षाध्याय प्रथमवल्लीके एकादश अनुवाकके) 'सत्यं वद' 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' वाक्योंका 'सत्य' शब्द द्वितीयार्थ (आपेक्षिक सत्य relative truth) का वाचक है । प्रथमार्थके सूचक कुछ स्थल ये हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

(ईश० १५; बृहदारण्यक० ५ । १५)

सत्य (आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म) का मुख (द्वार) ज्योतिर्मय ढक्कनसे आच्छादित है । 'तदेतत्सत्यम्' (मुण्ड० २ । १ । १; २ । २ । २; ३ । २ । ११) परविद्याका विषय यह अक्षरपुरुष परमार्थसत्य (Absolute Truth) है । एतद्भिन्न सभी कुछ अविद्याका विषय होनेसे अनृत है । जो अपरविद्याका विषय है वह कर्मफल आपेक्षिक सत्य (relative truth) है।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् । (मुण्डक० १ । २ । १३)

जिस ज्ञान (विद्या) से [शिष्य] अविनश्वर सत्य पुरुषको जाने [गुरु] उस ब्रह्मविद्याको यथावत् बतलाता है । 'एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति' (छान्दोग्य० ८ । ३ । ४) 'तत्सत्यं स आत्मा' (छान्दोग्य० ६ । ८ । ७, ९ । ४, १० । ३, ११ । ३, १२ । ३, १३ । ३, १४ । ३, १५ । ३, १६ । ३) इस ब्रह्मका नाम 'सत्य' है । वह सत्य है, वह आत्मा है।

'सत्य' शब्दकी निरुक्ति छान्दोग्योपनिषद् (८ । ३ । ५) में इस प्रकारसे की गयी है कि ये तीन अक्षर 'स-ती-यम' हैं। 'स' अमर है, 'ती' मरणशील है और 'यम' दोनों अक्षरोंको नियमित करता है । बृहदारण्यकोपनिषद् (५ । ५) में 'सत्य ब्रह्म है जिसकी देव उपासना करते हैं' यह बतलाकर 'सत्य' इसी उक्त निरुक्तिका अर्थ यों किया गया है कि 'स' और 'यम' तो सत्य हैं, मध्यका अक्षर 'ती' अनृत है, सो यह अनृत दोनों ओरसे सत्यसे जकड़ा (दबा) हुआ है, अतः अनृतकी मात्रा सत्यकी अपेक्षा हलकी पड़नेसे सत्यका ही पलड़ा भारी रहता है।

बृहदारण्यक (५ । ४) में सत्यको ब्रह्म कहा है। नारायणोपनिषद् (६८) में 'ॐ तत्सत्यम्' उस ब्रह्मको सत्य कहा है । तैत्तिरीयोपनिषद् (१ । ६ । २) में ब्रह्मको सत्यात्म (सत्यस्वरूप) कहा है।

आपेक्षिक सत्यके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग उपनिषदोंमें इससे कहीं अधिक स्थलोंमें मिलता है। उनमेंसे दिग्दर्शन-मात्र कुछ यहाँ दिखलाये जाते हैं—

मुण्डकोपनिषद्के पूर्वोक्त पूर्ण मन्त्रोंके अतिरिक्त 'अन्नात्प्राणो मनः सत्यम्' (१ । १ । ८) में 'सत्य' का वाच्य ५ भूत हैं। पुनः (१ । २ । १ में) 'तदेतत्सत्यम्' वाक्यका 'सत्य' अवितथ (झूठके विपरीत) के साधारण अर्थमें आया है । तैत्तिरीयोपनिषद्के प्रारम्भमें 'ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि' के भाष्यमें भगवान् श्रीशङ्कर-स्वामीने 'ऋत' का 'यथाशास्त्र यथाकर्तव्य बुद्धिमें सुपरिनिश्चित अर्थ' और 'सत्य' का 'वही जब वाणी और शारीरिकी क्रियामें उतरता है' ऐसा अर्थ किया है। वेदोंमें 'ऋत' शब्द बहुत आता है। इसका अर्थ पाश्चात्त्य विद्वानोंने 'नियम' (law) किया है। परंतु 'अनृत' जो 'ऋत' का उलटा है जब प्रायः झूठका ही अर्थ देता है तो 'ऋत' भी 'सत्य' का ही पर्यायविशेष होना चाहिये। 'ऋत' का आचार्य श्रीशङ्कर स्वामिकृत अर्थ ही युक्तिक्षम है; क्योंकि 'ऋत' भी उसी गमनार्थक 'ऋ' धातुसे बना है जिससे 'ऋषि' बना है अर्थात् जिसके हृदयमें वेदमन्त्र जायें (वा प्रकट हों)। सत्यका ही बुद्धिमें निश्चित (Subjective) पूर्वरूप 'ऋत' है, वही वाणी और शरीरद्वारा निष्पन्न (objective) होकर 'सत्य' कहलाता है। अतः बुद्धिमें आया हुआ और बाहर प्रकट होनेसे पूर्वकी अवस्थावाला सत्य ही 'ऋत' है।

केनोपनिषद् (४ । ८) में 'सत्य' तप, दम और कर्मोंके साथ उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्तिका उपाय (साधन) बतलाया गया है जैसे मुण्डकोपनिषद्में 'सत्य' तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यके साथ। यहाँ आचार्यपाद श्रीशङ्कर स्वामीने पद-भाष्यमें कहा है कि 'सत्य' वाणी, मन और शरीर तीनोंका माया-कुटिलतासे रहित होना है। और इन दोनों स्थलोंके भाष्यमें प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नके अन्तका—

'.........न येषु जिह्ममनृतं न माया च'

अर्थात् जिन [ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों और भिक्षुओं (संन्यासियों)] में [तप, ब्रह्मचर्य और सत्य (अनृत-वर्जन=झूठसे परहेज) प्रतिष्ठित (स्वभाव-सिद्ध) हो गया है और अनेक विरुद्ध संव्यवहार प्रयोजनवाले गृहस्थोंकी-सी] कुटिलता, अनृत और माया (मिथ्याचार अर्थात् बाहरसे अपनेको अन्यथा प्रकाशित करके उससे अन्यथा कार्य करना) नहीं है [क्योंकि इसके लिये कोई कारण ही नहीं रह गया है] उन्हींको यह शुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है—यह वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है।

ये ही साधन ऋत, सत्य, तप, दम, शम इत्यादि नामोंसे तैत्तिरीयोपनिषद् (१ । ९) में वर्णित हुए हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१ । १५) में भी—

'एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति'

अर्थात् इस प्रकार यह आत्मा शरीरके भीतर उसे प्राप्त होता है जो सत्य और तप [आदि साधनों] से इसे ढूँढ़ता है—ऐसा कहकर सत्य-प्रधान इन्हीं साधनोंका महत्त्व प्रदर्शित हुआ है।

इन साधनोंके द्वारा समस्त दृश्यमान जगत्‌में समानरूपसे व्याप्त एकमात्र सत्य ब्रह्म या आत्माकी प्राप्ति जिस उपायसे होती है वह अष्टाङ्गयोग पातञ्जलयोगदर्शनमें उपवर्णित है। इस योगके—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ अङ्ग हैं। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' और शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान—ये ५ 'नियम' आधार-शिला हैं जिनके अभावमें ऊपरकी उठायी हुई योगकी दीवारें और छतें टिक ही नहीं सकती हैं।

'यमों' वाले सूत्र (२ । ३०) पर व्यास-भाष्यमें कहा गया है कि सर्वथा सर्वदा समस्त प्राणियोंसे अनभिद्रोहका नाम 'अहिंसा' है। आगेवाले यमों और नियमोंका मूल यही है। इसीकी साधना पूरी करनेके अभिप्रायसे और इसीका प्रतिपादन करनेके लिये उनका प्रतिपादन किया गया है। यदि उनका अनुष्ठान न किया जाय तो अहिंसा असत्यादिकोंसे मलिन रह जायगी। अतः उसी (अहिंसा) का रूप उज्ज्वल करनेके लिये इन सबका ग्रहण किया है। कहा भी है—'जैसे-जैसे यह ब्राह्मण (अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिका अभ्यासी) बहुतसे [सत्यादि] व्रतों (यम-नियमों) को ग्रहण करता जाता है वैसे-वैसे (उसी अनुपातसे) प्रमादवश होनेवाले हिंसाके कारणोंसे निवृत्त होता हुआ उसी अहिंसाको अपनेमें उज्ज्वलरूपा बनाता है।' यथार्थ वाणी और मनको सत्य कहते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणोंसे जैसा यथार्थ निश्चयज्ञान प्राप्त किया अर्थात् जैसा देखा, अनुमान किया और सुना हो उसीके अनुसार वाणी और मनका प्रयोग होना चाहिये। अपना अनुभव दूसरेमें पहुँचानेके लिये वाणी बोली जाती है। वह यदि वञ्चना, भ्रान्ति या बोध-निष्फलतासे रहित हो तो सब प्राणियोंके उपकारके लिये प्रवृत्त होती है, न कि उनको पीड़ा पहुँचानेके लिये। यदि इस प्रकार बोली जाती हुई भी प्राणियोंकी पीड़ा ही करे तो सत्य नहीं किंतु सत्याभास और पापरूप ही होगी। ऐसे पुण्यविरोधी पुण्याभाससे बड़े अनर्थको ही प्राप्त होगा। इसलिये परीक्षण करके सब प्राणियोंके हितरूप सत्यको बोलना चाहिये। शास्त्रके विरुद्ध अन्यके पाससे द्रव्योंका अपनाना (ले लेना) स्तेय (चोरी) है। इसका उलटा अस्पृहा-रूप अस्तेय है। उपस्थ (गुप्त) इन्द्रियके संयमको ब्रह्मचर्य कहते हैं। विषयोंके अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा-सम्बन्धी दोष-दर्शनके कारणसे उनका स्वीकार न करना (अपने मनमें स्थान न देना) अपरिग्रह कहलाता है।

योगसूत्र (२ । ३१) के अनुसार ये साधारण व्रत यदि जाति, देश, काल और समय (अवस्थाविशेष) से सीमित न हों तो 'महाव्रत' कहलाते हैं। योगसूत्र (२ । ३६) 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' के अनुसार सत्यमें स्वाभाविक स्थितिलाभ हो जानेपर साधककी वाणी निष्फल नहीं जाती है अर्थात् जो कह देता है वही हो जाता है।

मनुजी (४ । २०४ में) कहते हैं कि यमोंका निरन्तर सेवन करे, नियमोंका भले ही सदा सेवन न करे; क्योंकि केवल नियमों (शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) का पालन करता हुआ और उक्त यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) का अनुष्ठान न करता हुआ पतित हो जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रायश्चित्ताध्याय (श्लोक ३१२-३१३) में यमों और नियमोंका विशद वर्णन है। मनु (१० । ६३) [और याज्ञवल्क्य १ । १२२] के अनुसार—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

तथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह— ये पाँचों तथा दान, दम, दया और सहनशीलता—सब मिलाकर ९ धर्म मनुष्यमात्रके लिये अनुष्ठेय हैं। मनुने (११ । २२२ में) अहिंसा, सत्य, अक्रोध और सरलभावका आचरण करनेका विधान किया है। (२ । ८३ में) मौनसे सत्यको विशिष्ट बतलाया है। (६ । ९२ में) चारों आश्रमोंके द्विजोंको दस लक्षणोंवाला धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—सेवन करनेका आदेश किया है और (६ । ९३-९४ में) कहा है कि इनका सेवन करनेवाला द्विज वेदान्तश्रवण करके संन्यास ले ले, इनकी पूर्णता [के आत्मज्ञानकी सहकारिणी होने] से मोक्ष होता है।

अन्य अनेक स्थलोंमें मनु और याज्ञवल्क्यने सत्यके महत्त्व और अनृतके दुष्फलका विशद निरूपण किया है। मनुने न्यायालयमें सत्यानृतकी परीक्षा कैसे करनी चाहिये तथा व्यवहारमें सत्यका क्या महत्त्व है यह अध्याय ८ श्लोक १४, ३५, ३६, ४५, ६१, ७४, ७६, ७८ से १०१, १०३ से १०५, १०९, ११३, ११६, ११८-११९, १६४, १६५, १६८, १७९, २१९, २५७, २७३-७४ में स्पष्ट किया है। सत्यसे रहित ब्राह्मण अपात्र (११ । ६९) हो जाता है और राजाका सत्यवादी होना मनु (७ । २६) का आदर्श ही है। मन सत्यसे शुद्ध (५ । १०९) होता है।

गीता (१७ । १५) में उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारक वचन तथा स्वाध्यायका अभ्यास—यह वाणीका तप कहा गया है। (१६ । १-२ में) अभय, सत्त्व, शुद्धि, दान, दम, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, दयादि दैवीसम्पत्‌के गुणोंमें गिनाये हैं। एवं (१६ । ७–८ के अनुसार) आसुरी प्रकृतिके लोगोंमें शौच, आचार, सत्य नहीं होता है। वे जगत्‌भरको ही सत्यरहित और स्थिति (मर्यादा)-रहित मानते हैं। (१० । ४–५ के अनुसार) सत्य, दम, शम, अहिंसा, तप, दान आदि प्राणियोंके भाव भगवान्‌से ही अनेक रूपोंमें आते हैं।

इस प्रकारसे इस लोक और परलोकमें अन्ततः सत्य ही विजयी होता है, अनृत नहीं। इस वाक्यको जब हमने स्वतन्त्र भारतके स्मारकसूत्रका पद दे रक्खा है, तब राष्ट्रके प्रत्येक बालककी शिक्षा-दीक्षामें यह वाक्य ऐसा घुल-मिल जाना चाहिये कि इससे हमारा राष्ट्र वास्तविक और स्थायी रूपसे उन्नत हो एवं आजकी बढ़ी हुई चरित्रहीनता दूर हो।

धारक और पालक

(लेखक—श्री'चक्र')

[कहानी]

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
(गीता १५ । १३)

आधिदैवत जगत्‌की बात—

वनस्पतिराज सोम आसनासीन थे। दूर्वा, लघु-तृणसे लेकर छोटे वीरुध, झबरे क्षुप, ठिंगनी झाड़ियाँ, लचीली लतिकाएँ, विशाल ऊँचे पादप सभी एकत्र हुए थे। सब खिन्न थे। सब दुखी थे। सब संकटसे परित्राण चाहते थे।

'हमें विलासोद्यानोंकी शोभा बना दिया गया है। तनिक लहरानेका मन करते ही काट दिया जाता है। न यज्ञकी सुरभि प्राप्त होती और न जगदाराध्यको आंपत होनेका सौभाग्य ही।' दूर्वाने अपना अभियोग उपस्थित किया। 'गायोंका पवित्र ग्रास बननेके स्थानपर हमें अश्वतरियों (खच्चरियों) और गर्दभोंका आहार बनाया जाता है।'

'मन्त्रोंके मङ्गलगानसे पूजाके पश्चात् वर्षमें एक दिन हमारा चयन होता था और हमारे महत्त्वसे वह अमावस्या कुशोत्पाटिनी कही जाती थी। यज्ञवेदियों-का हम शृङ्गार बनते, यज्ञोपवीतकी भाँति हमारी उपवीती बनायी जाती, हमारे ऊपर तपःपूत महर्षि आसीन होते। हमारे अग्रभागसे उठे बिन्दु उनका अभिषेचन करते।' कुशकी व्यथा समझने योग्य थी। काँस उसका साथी हो गया था कष्टमें। 'हमें कण्टक

माना जाता है। हमारी जड़ोंको दानवाकार यन्त्रोंसे उखाड़ा जा रहा है। हम निर्मूल किये जा रहे हैं। हमारे बन्धु उशीरकी भी यही दशा है। उसका दुर्भाग्य इसलिये बढ़ गया है कि उसकी जड़ोंमें थोड़ी सुगन्ध और शीतलता है। उसका उच्छेद करके मानव कृत्रिम शीतलता पानेमें सफल होता जा रहा है।'

'हमें सदा ओषधि कहा जाता था। पवित्र गोमयका आहार प्राप्तकर हम परिवर्धित होते थे। क्षेत्र-पूजनके अनन्तर हमारा संग्रह किया जाता। देवराज हमारी सुरभित आहुतियोंसे तुष्ट होते और हमें वह यज्ञीय सुरभिसे पूर्ण वर्षाके जलसे पुष्ट करते। हमारा सारतत्त्व शरीरोंमें मन बनकर जब आनन्दघन प्रभुका स्मरण करता तब हम कृतार्थ हो जाते!' अन्नोंका स्वर कम करुणापूर्ण नहीं था। 'आज हमें विद्युत्‌के बलपर विवश किया जाता है बढ़नेके लिये। अस्थि, भस्म, क्षार, मल····छिः। हमारे लिये समस्त बीभत्स मलिन वस्तुएँ आहार बनायी जाती हैं। कटुगन्धि, तीक्ष्णजल देवराज देते हैं, अन्ततः उनके घन भी तो पाषाणी कोयलेकी गन्धसे पूरित कर दिये गये। कृत्रिम सिञ्चनका जल भी क्या 'जीवन' कहलाने योग्य है! मनुष्य कहता है कि वह रोगी होता जाता है, उसका मन विकारपूर्ण हो गया है। हममें जो गंदगी वह भरता है, वही तो पावेगा। बेचारे जीव कितनी आशासे जलकी धारासे धरामण्डलमें आकर हममें प्रवेश करते हैं। यही मर्त्यलोक मोक्षधाम है; किंतु हमारा सारतत्त्व मन विषयोंमें—पापोंमें लगा दिया जाता है। हम अपने इस दुरुपयोगका कैसे निवारण करें?'

'हमारे पुष्प कुचले जाते हैं, उनका रक्त आज इत्र कहलाता है। हमारे काष्ठ किसी आर्तका कष्ट निवारण करनेके स्थानपर चर्म रँगनेके उपयोगमें आने लगे हैं। सबसे बड़ी बात यह कि हमें नष्ट किया जा रहा है। कहीं उत्पन्न होने और जीवित रहनेकी सुविधा नहीं!' लताओं, वीरुधों, क्षुपों—सबके एक ही कष्ट हैं।

'दन्तधावनके लिये तनिक-सी टहनी लेनेसे पूर्व कितनी नम्रतासे हमसे क्षमा माँगी जाती थी। हमसे फलोंकी भिक्षा माँगते थे वे तेजोमूर्ति जो जगत्‌को समस्त सिद्धि देनेमें समर्थ थे। हम शिशुकी भाँति स्नेह-सिञ्चन प्राप्त करते!' तरुओंने अपने भाग्यपर अश्रु बहाये। 'आज हमपर कुल्हाड़ी बजते देर नहीं लगती। तनिक कोई डाल शिथिल हुई या मनुष्यको अनावश्यक जान पड़ी, काट दी गयी। हमारे फलोंका उपयोग, हाय!—ऐसा मनमें आता है कि फल विषैले हो जायँ और ये सब क्रूर नष्ट हो जायँ! जिन पक्षियों, कीटोंको हम स्नेहसे शरण देते हैं, जो हमें पोषण देते और प्रसन्न रखते हैं, वे भुशुण्डी और विषसे मार दिये जाते हैं। हमारी सहज जाति भ्रष्ट करके हममें वर्णसंकरता उत्पन्न की जा रही है। मनुष्य आज स्वाद और आकार देखता है, गुण नहीं। हमारे अधिकांश बन्धु नष्ट कर दिये गये, हमें स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा नहीं।'

'भगवान् श्रीकृष्णने धरासे जैसे ही पदार्पण किया, अधर्ममूल कलिका साम्राज्य हो गया। सम्राट् जनमेजयके शासनकालतक कुछ भीत रहा वह, पर अब तो निरंकुश हो गया है!' राजाने देखा कि अभियोग उपस्थित करनेवालोंकी संख्या अपार है। यदि एक-एक वर्गके प्रतिनिधिको भी बोलने दिया जाय तो वर्षों लगेंगे। उन्होंने उपसंहार करना चाहा। 'मैंने महाराज विक्रमके साथ ही पृथ्वी छोड़ दी। मेरे प्रतिनिधियोंसे ही यज्ञ चलता रहा अबतक। ऐसे कृतघ्न मनुष्योंको पोषित करनेकी अपेक्षा सब लोग उन्हें मरनेके लिये छोड़ दें, यही उपयुक्त होगा।'

'वेनके अत्याचारके समय धरित्रीने हमें अपने अङ्कमें शरण दी।' वनस्पतियोंने कठिनाई निवेदित की। 'आप महान् हैं। अदृश्य होना आपके लिये सरल है।

आत्महत्या तो पाप है, फिर हम स्थूल जगत्को कैसे छोड़ सकते हैं.?'

'मैं भगवती धरासे प्रार्थना करूँगा !' राजाने आश्वासन दिया ।

[२]

'मैंने मनुष्यको सदा पकरत्न और धातुएँ दीं और इसीसे वह मुझे रत्नगर्भा कहता आया । हिमोज्ज्वल गौके नेत्र आँसुओंसे भीग गये । 'अब वह मेरी स्नायुओंका रस निकालता है, कच्ची धातुएँ खोदता है, मेरी जीवनी शक्तिका शोषण कर रहा है । उसके लिये यह कोयला, मिट्टीका तेल, धातुएँ अभिशाप बन रही हैं । मेरी शक्ति नष्ट हो रही है । मेरे शिशु दुर्बल, क्षीण हो रहे हैं । मैं उनका पालन करनेमें असमर्थ हूँ ।' श्रुति जिनको क्षमाकी प्रतिमा कहती है, उन जगद्धात्रीमें रोष नहीं, शोक ही था । अपनी ही सन्तानोंसे रुष्ट तो वे कैसे होंगी ।

'देवता उपोषित हैं, रुष्ट हैं । हमारी प्रजा विकृत हो रही है । वह नष्ट होनेके समीप है ।' वनस्पतिराज सोम बड़ी आशासे आये थे ।

'स्वयं मुझे अभिवादन एवं आहुतियोंके स्थानपर निरन्तर आघात मिल रहे हैं !' वसुन्धराने उसी खिन्न स्वरमें कहा—'मेरे चर्ममें घृणित क्षार, ज्वलनशील तत्त्व सम्मिलित करके उत्पादन बढ़ानेका यह अन्ध यत्न आप देखते ही हैं । मेरी व्यथाकी मुझे चिन्ता नहीं, पर त्वचा बंजर होती जा रही है । यह अतिरिक्त उत्पादन अपनी जड़ काट रहा है । उर्वी अब उर्वरा रहे कैसे, ये पदार्थ मेरे त्वक्की चेतनाको मृत कर रहे हैं । मनुष्य कृमिकी भाँति क्षुधाकुल होकर मरेंगे । मैं रक्षा नहीं कर सकती । अभी ही इन विकृत उत्पादनोंसे वह रोग एवं शोक पा रहा है । उसे मेरा दुग्ध नहीं, रक्त चाहिये ।'

'आप ही समस्त प्राणियोंको धारण करती हैं ।' सोमके स्वरमें क्रोध था ।

'यह ठीक है कि जब मैं संतप्त होकर निःश्वास लेती हूँ लक्ष-लक्ष प्राणी कालकवलित हो जाते हैं ।' भूकम्पका यह दैवी कारण यन्त्र आज चाहकर भी नहीं समझ सकते । 'बड़ा कष्ट होता है मुझे; किंतु जब उत्पीड़नकी सीमा होती है, सहज अङ्ग-कम्पको कैसे रोका जा सकता है !'

'उसे रोकनेकी नहीं, भली प्रकार हिला देनेकी आवश्यकता है ।'

'बेचारे नन्हे प्राणी !' भूमिने निःश्वास लिया 'तुम सोचते हो कि मैं उनका धारण करती हूँ । अब तो मानव भी जान गया है कि मेरे प्रभावक्षेत्रसे बाहर यदि वह अपने कृत्रिम विमानोंसे निकल जाय तो वहाँ फेंकी हुई वस्तु जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहेगी । वहाँ पदार्थ-में जो गति होगी, वह बनी रहेगी, जबतक कोई ग्रह उसे प्रभावित न करे ।'

'मनुष्य वहाँ निवास नहीं बना सकता !' प्रतिवाद किया सोमने ! 'उसे रहना आपकी ही गोदमें है, चाहे वह कितना भी ऊपर उड़े । इतना शक्तिशाली वह नहीं हो सकता कि स्वयं अपना धारण कर ले और आपकी उपेक्षा कर दे ! आप ही कुछ न करें तो बात दूसरी है ।'

'बेनके शासनकालमें मैंने तुम्हारी प्रजाको शरण दी, इसीसे तुम मुझसे आशा करते हो ।' बात ठीक ही थी । 'तुम भूलते हो कि मैं प्राणियोंका धारण करती हूँ । मैं भी यही समझती थी पर भगवान् पृथुने मेरा भ्रम दूर कर दिया !' अपने पिताके स्मरणसे पृथ्वीके नेत्र श्रद्धापूर्ण हो गये ।

'वह सत्ययुगकी बात थी !' सोमका सन्तोष हुआ नहीं ।

'उन्होंने कहा था कि वे स्वतः अपने प्रभावसे लोकोंका धारण करनेमें समर्थ हैं !' धरित्रीने सोम-की बात सुनी ही नहीं । वे ध्यानमग्न बोल रही थीं—

'निराधार जलनिधिके वक्षपर शेष होकर वे मेरा धारण करते हैं, शून्य गगनमें मैं उन्हींकी गोदमें उन्हींकी शक्तिसे स्थित हूँ। उन्हींका ओज मेरे कण-कणमें आकर्षण बना है। वही अपने ओजसे समस्त प्राणियों-का धारण करते हैं। यह तो उनका अनुग्रह है कि मुझे उन्होंने निमित्त बना लिया है। आकर्षणके स्वरूप वे मेरे नाथ!' पता नहीं धराको भगवान् श्वेतवाराहकी चन्द्रधवल दन्तकोटि स्मरण आयी या द्वापरके अन्तका वह श्रीकृष्णचन्द्रका कोमल पाद-स्पर्श, उनका रोम-रोम खड़ा हो गया। आनन्दपुलक था यह। अन्तरके आह्लादमें व्यथा विस्मृत हो गयी थी।

'मैं निराश ही जाऊँ?' वनस्पतियोंके सार्वभौम सम्राट्ने कुछ देर प्रतीक्षाके पश्चात् खिन्न स्वरमें पूछा।

'मैंने दीप्त रत्नोंको अन्तर्हित कर दिया! कोई स्वतःप्रकाश रत्न मनुष्यको उपलब्ध नहीं। संजीवनी-जैसी दिव्यौषधियाँ भी मेरे अङ्कमें सो गयीं' कुछ क्षण पश्चात् धराने कहा। 'बीजोंका सर्वथा तिरोभाव मेरे लिये शक्य नहीं। वे मेरे पिताकी पावन स्मृति हैं! उन्होंने अपने अरुण कोमल हाथोंसे मुझसे इनका दोहन किया। उनकी आज्ञाका अतिवर्तन करना अपमान है उनका।'

'बीजोंको तो मनुष्य स्वयं नष्ट कर देगा।' सोमने मन्तव्य स्पष्ट किया। 'वह मूल बीजोंको मिश्रित करके शक्तिहीन कर रहा है। उसके कलमी तरुओं एवं नवीन पौधोंके बीज अपनी सन्तति स्थिर करनेमें असमर्थ हैं। इस विकृतको आप पोषित न करें—बस।'

'मूर्ख मानव सचमुच अपना सर्वनाश कर रहा है। उसने ओषधि-बीजका तथ्य ही विकृत कर डाला।' खेद था धराके स्वरमें 'पर सोम, वनस्पतियोंको पोषण तो वे भगवान् सोम करते हैं, जिनके तुम वनस्पति जगत्में प्रतिनिधि हो!' पोषणमें भला धरित्री क्या करें?

× × × ×

[३]

'महाराज, कल एक अतिथि हमारे यहाँ ठहरा था! आज बड़े सबेरे वह चला गया।' गृहपतिके स्वरमें वेदना थी—'तीन भैंसें, चार बैल, दो गायें, तीन बछड़े वह मेरे यहाँ छोड़ गया!' हाथीके बच्चे-से बैल, दूध देनेवाली भैंसें और निकट भविष्यमें बच्चा देनेवाली गायें क्या कोई यों छोड़ जाता है। अपने प्राणोंसे प्रिय पशुओंको किसान जब दो चिटकी भूसा नहीं दे सकता, अपने खूँटेपर बँधे-बँधे मरते कैसे देखे?

'भाई! ये तो पशु ही हैं, मैंने सुना है लोग बच्चों-को बेच रहे हैं!' संन्यासीके स्वरमें अपार करुणा थी।

'पापी पेट क्या नहीं कराता!' गृहपतिके नेत्रोंमें आँसू भी नहीं बचे हैं। 'उन बच्चोंको खरीदनेवाले भी हैं। आज भी कोठियाँ अन्नसे भरी हैं। उनके मूल्य बढ़ रहे हैं। भूखोंकी दुर्बलतासे वासना तृप्त की जा रही है, तिजोरियोंका भार बढ़ रहा है। मनुष्यका रक्त ही जब मनुष्यको चाहिये तब परमात्मा पानी क्यों दे।'

वृक्षोंकी छाल और पत्तेतक मनुष्योंके पेटमें पहुँच गये। मैदानोंमें तृणके स्थानपर धूलि उड़ रही है। कूड़े-के ढेरों, नालियों और गलियोंमें जब अन्नके एक-एक कण और फलोंके छिलकोंके एक-एक टुकड़ोंके लिये मनुष्य कुत्तोंकी भाँति झगड़ रहे हों; पक्षियों, कीड़ों और पशुओंका जीवन कैसे चले। क्षुधा सर्वभक्षिणी होती है। मानव आज भूखा है। मर रहा है।

यह तीसरा वर्ष है, चतुर्मासेके दो महीने बीत चुके। जलकी बूँदतक पृथ्वीपर नहीं पड़ी। नदियोंमें नाममात्रको जल है। ट्यूबेलके कुओंने साधारण कुओंको पहले ही सुखा दिया था, अब उनमें भी मकड़ियाँ जाले लगा रही हैं। पानी स्तरमें ही नहीं तो यन्त्र क्या करें। सरकारने अनेक योजनाएँ बनायीं—बादल आते तो हवाई जहाज ऊपर उड़कर उनपर

बहुत बड़ा हिमखण्ड डालते । पानी बरस जाता । बादल ही जो नहीं आ रहे हैं ।

'परमाणु बमके समुद्रमें अंधाधुंध प्रयोगने पृथ्वी-पर अति वृष्टि की तीन वर्षोंतक और यह उसकी प्रतिक्रिया है । संन्यासीने कुछ गम्भीर होकर बताया 'थोड़े बहुत बादल उठते हैं तो तटके देश उन्हें बरसा लेते हैं कृत्रिम उपायोंसे । मनुष्य प्रकृतिके साथ बल-प्रयोग कर रहा है और वह बदला ले रही है !'

'मेरे गलेमें ये इतने प्राणियोंकी हत्या और अटकी !' गृहपति जानता कि अतिथि अपने पशु छोड़ जायगा तो उसे ठहरानेकी उदारता न दिखलाता । अपने ही प्राणोंके लाले पड़े हैं, इनको क्या खिलाये वह । 'आप संत हैं, प्रभु आपकी प्रार्थना सुनेंगे । हमारी वाणी स्वार्थसे इतनी कलुषित हो गयी है कि उसमें प्रार्थना प्रकट ही नहीं होती !' हृदयमें आस्था न हो तो प्रार्थना हो कैसे ।

'वे दयामय सबकी सुनते हैं !' संन्यासी स्वयं भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना करने ही पधारे हैं । प्राणियोंका इतना कष्ट उनसे देखा नहीं जाता । वे आशुतोष जो उनके आराध्य हैं, वही तो इसे दूर कर सकते हैं । 'आज रात्रि विश्वनाथ मन्दिरमें मेरे रहनेकी व्यवस्था कर देनी है आपको ।' पुजारियोंपर जिसका प्रभाव हो, उसीसे यह कहा जा सकता है । अकेले संन्यासीको कौन गर्भगृहमें रहने देता ।

'मेरे भगवान् सोया नहीं करते !' संन्यासीका यह समझाना पण्डोंके लिये कदाचित् ही पर्याप्त होता; किंतु उनके साथ जो गृहपति आये हैं ! आजकल यों ही मन्दिरकी आय कम हो गयी है । दर्शनार्थी थोड़ेसे आते हैं । जो आते भी हैं, जलकी धारा चढ़ाकर गाल बजा दिया और बस । बड़े-बड़े सेठ भी पुष्पोंतक ही रह जाना चाहते हैं । चढ़ावेके लिये बहुत सिर खपाना पड़ता है । ऐसे दिनोंमें एक अच्छे यजमानको रुष्ट कौन करे ।

'आप ब्राह्ममुहूर्तकी आरतीके समय निकल जायँगे न ?' एक ही आश्वासन आवश्यक था और वह मिल गया ।

'वे महात्मा कहाँ गये ?' दूसरे दिन प्रातः गृहपतिने भगवान्के दर्शनके अनन्तर मन्दिरमें इधर-उधर देखकर पूछा ।

'वे तो सवेरे ही चले गये !' पण्डाजीको संन्यासीसे अधिक चिन्ता यजमानकी थी । उनको कुछ विशेष दक्षिणा मिलनी चाहिये, जो प्रबन्ध उन्होंने किया था उसके बदले ।

'कदाचित् वे घर गये होंगे ।' गृहपतिने मन्दिरके द्वारकी ओर पैर बढ़ाये । 'सन्ध्याको पुनः दर्शन करूँगा ।'

'साधुको लज्जित किया हमने !' वे सोचते जा रहे थे । 'या तो वे बहाना बनावेंगे या मिलेंगे ही नहीं ।' सचमुच साधु तो उन्हें नहीं मिले; किंतु रात्रिमें बाहर सोनेके लिये उन्हें ऊपरकी छतसे बिछौना नीचेकी छतपर लाना अच्छा जान पड़ा । ऊपरकी छतपर कोई छाया नहीं थी । आकाशमें बादल न होनेपर भी ईशानकोण रह-रहकर चमक रहा था ।

× × ×

[४]

'मुझे थोड़ा शुद्ध घृत चाहिये ।' आजकल ग्रामोंमें भी मिलावट चल पड़नेसे विश्वस्त वस्तु कठिनतासे ही मिलती है ।

'लोग दाने-दानेको मर रहे हैं और आप पदार्थोंको फूँकेंगे !' आजकी विचारधाराका प्रतिनिधित्व किया गया ।

'मैं तुमसे भीख नहीं माँगता ।' संन्यासीने कुछ रोषसे कहा ।

'आपके पास पैसा भी तो हमारे ही घरोंसे पहुँचता है ।'

'डाक्टरोंकी, वैद्योंकी और स्वयं तुम्हारी फीस, जिसे मैंने चिकित्सा सिखायी, जनताका द्रव्य नहीं ! वह तो तुम्हारी निजी सम्पत्ति है । उसे तुम शराब और सिगरेट-में फूँकनेको स्वतन्त्र हो और मेरे लिये अग्निमें थोड़ा-सा हवन द्रव्य नष्ट करना हो गया । मैं अपने उपार्जन-पर स्वत्व नहीं रखता ?' घृणा हुई उन्हें अपने इस श्वेत वस्त्रधारी सुपठित चिकित्सक शिष्यसे ।

'आप संन्यासी हैं । आपको द्रव्य नहीं रखना चाहिये ।' मनुष्य जब अपनेको विश्वमें सबसे बड़ा बुद्धिमान् मान लेता है तब उसकी बेहयाई सीमातीत हो जाती है ।

'तू पहले ठीक गृहस्थ बन और तब उपदेश देना ।' वे वहाँसे उठ गये । पूर्वाश्रममें चिकित्सा करते थे । आयुर्वेदका उच्चज्ञान है । किसीको रुग्ण देखनेपर रहा नहीं जाता । ओषधियोंकी घोंट-पीस भी कर लेते हैं । एक पूरा झोला संग रहता है । कोई कुछ दे या न दे, पर जब रोगी कुछ देता हो तब न लेना उसके विश्वास-को चञ्चल करता है । इस प्रकार जो संग्रह होता है चार-पाँच महीनेपर उससे एक यज्ञ कर डालते हैं । अपना निर्वाह तो मधुकरीसे ही होता है । इसे व्यसन कहा जाय या और कुछ—पर यह है ।

'महाराज ! वर्षा कराइये ! जीवन दान दीजिये प्राणियोंको !' गङ्गास्नानसे लौटते शास्त्रीजीकी दृष्टि पड़ गयी स्वामीजीपर । उनकी बड़ी श्रद्धा है । जो असाध्य——मरणासन्न रोगियोंको जीवन-दान करनेमें सहज समर्थ हों, वे दैवी-शक्तिसम्पन्न महापुरुष तो होंगे ही ।

'चन्द्रदेव रुष्ट हो गये हैं । रसका पृथ्वी और गगन सब कहींसे आकर्षण कर लिया उन्होंने !' भगवान् विश्वनाथ-के मन्दिरमें साधुने रात्रिमें जो तन्द्राके समय स्वप्न-सा देखा है, बड़ा अद्भुत है वह । 'आज दूध अप्राप्य है, पर भगवती भागीरथीका ब्रह्मद्रव तो उपलब्ध ही है । आप ब्राह्मणोंको एकत्र कीजिये । भगवान् शशाङ्कशेखरका सहस्राभिषेक कीजिये ।'

'महाराजका आसन ?' शास्त्रीजीके विश्वासने उल्लास दिया ।

'मेरी चिन्ता छोड़िये ! ये रुपये ले जाइये ! छोटे भाईसे कहिये कि जहाँसे मिले, घी लेकर आ जायँ और उपाध्यायजीको भेज दीजिये । वेदियाँ बनाने और पूजनादिमें समय लगेगा ।' मैं तबतक शेष सामग्री संकलित करता हूँ ।' साधुको इतनी उमंगका अनुभव कभी यज्ञमें नहीं हुआ था ।

'यज्ञ कहाँ होगा ?' ग्रामीणोंकी श्रद्धा वाक्योंका मञ्जुल प्रस्तार नहीं कर पाती ।

'आप मन्दिरमें अखण्ड धारा चढ़ाइये और मैं नन्दीश्वरके सम्मुख भगवान्के तैजस रूपको आहुतियाँ अर्पित करता हूँ !' गङ्गातटके समीप कगारपर एक छोटा-सा भगवान् शङ्करका मन्दिर है । संन्यासीका संकेत उधर ही था ।

'बिल्वपत्र तो यही हैं !' तीनों दल स्पष्ट भी नहीं हुए थे । कुछ हरे-हरे अङ्कुरमात्र थे । वृक्षोंमें पत्ते ही नहीं तो मिलें कहाँसे ।

'यही क्या कम हैं !' संन्यासी आज पदार्थोंकी बहुलतासे ऊपर है । उनके हृदयमें जो है, वह क्या इन उपकरणोंकी अपेक्षा करता है । अक्षत, धूप, दीप, घृत, नैवेद्य जो मिल सका, आया । इस छोटेसे ग्रामके लिये ऐसे दुर्दिनमें इतना एकत्र करना कैसे शक्य हुआ, यही जानना कठिन है ।

'नमः शिवाय च शिवतराय च । नमः शम्भवाय च मयस्कराय च ।'

मन्दिरमें ब्राह्मणोंका कण्ठ अखण्ड गूँज रहा था । बाहर नर-नारी खड़े 'हर हर महादेव' का नाद कर रहे थे । तीसरे पहरके अन्तमें सर्वतोभद्र, नवग्रह, कलश-पूजन समाप्त हुआ और अरणिमन्थन प्रारम्भ हो सका ।

× × ×

'नाथ, यह हो क्या रहा है ? आपने मुझे वचन दिया है !' वनस्पतियोंके राजा सोम चन्द्रदेवके सम्मुख खड़े थे । पूर्णिमाका चन्द्रबिम्ब सघन मेघोंसे पृथ्वीपर अदृश्य हो चुका था ।

'भगवान् शङ्करकी धरा एक मूर्ति है !' चन्द्रदेवने बात ढंगसे कही 'उनके विग्रहको मानव अखण्ड अभिषिक्त कर रहा है । उनके अग्नि-विग्रहको आहुतियाँ मिल रही हैं, उनके धरा-विग्रहका गगन धाराभिषेक करने जा रहा है !'

'आपने कहा था कि कृत्रिम वनस्पतियोंको पोषण न देंगे !' सोमके स्वरमें निराशा थी !

'सोम ! मुझमें और तुममें भी जो रसरूपसे स्थित होकर सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता है, वह सन्तुष्ट है । उसकी इच्छाके विपरीत तुम कुछ कर सकते हो ?'

'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।' पृथ्वीपर श्रुति-पाठ चल रहा था । कौन है वह सोम ? वह तो श्रुति और उसके द्रष्टा ही जानते हैं ।

भक्त-गाथा

[भक्तिमती कुँअररानी]

कुँअररानी संभ्रान्त राजपूत माता-पिताकी एकमात्र लड़ैती सन्तान थी । सम्पन्न घर था, माता-पिता बहुत ही साधु-स्वभावके तथा भगवद्भक्त थे । कुँअररानीके अतिरिक्त उनके कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये माता-पिताके समस्त स्नेह-सौहार्दकी पूर्ण अधिकारिणी एकमात्र कुँअररानी ही थी । वह बहुत ही प्यार-दुलारसे पाली-पोसी गयी थी । उसने जैसे माता-पिताके स्नेहको प्राप्त किया, उसी प्रकार उनकी साधुता तथा भगवद्भक्तिका भी उसके जीवनपर काफी असर हुआ । वह लड़कपनसे ही भगवान्के दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यमय स्वरूपका ध्यान किया करती और भगवान्का मधुर नामकीर्तन करते-करते प्रेमाश्रु बहाती हुई बेसुध हो जाती । माता-पिताने चौदह वर्षकी उम्रमें बड़े उमंग-उत्साहके साथ उसका विवाह कर दिया । कुँअररानी बिदा होकर ससुरार गयी । विधाताका विधान बड़ा विचित्र होता है । उसी रात्रिको उसके माता-पिताने भगवान्के पवित्र नामका कीर्तन करते हुए विषूचिका रोगसे प्राण त्याग दिये । कुँअररानीको पाँचवें दिन एक कासीदने जाकर यह दुःखप्रद समाचार सुनाया । वह उसी दिन वापस लौटनेवाली थी और माता-पिताके भेजे हुए किसी आदमीकी प्रतीक्षा कर रही थी । उसके बदले माता-पिताका मरण-संवाद लेकर कासीद आ गया । अकस्मात् मा-बापके मरणका समाचार सुनकर कुँअररानी स्तब्ध रह गयी । उसको बड़ा ही दुःख हुआ परंतु लड़कपनमें प्राप्त की हुई सत्-शिक्षाने उसे धैर्यका अवलम्बन प्राप्त करनेमें बड़ी सहायता की । उसने इस दुःखको भगवान्का मङ्गलविधान मानकर सहन कर लिया और पीहर जाकर माता-पिताके श्राद्धादिको भलीभाँति सम्पन्न करवाया । माता-पिताके कल्याणार्थ अधिकांश सम्पत्ति सुयोग्य पात्रोंको दान कर दी तथा शेषकी सुव्यवस्था करके वह ससुरार लौट आयी । पति सांवतसिंह बहुत ही सुशील, धर्म-परायण तथा साधु स्वभावके थे, इससे उसके मनमें सन्तोष था परंतु विधाताका विधान कुछ दूसरा ही था । छः ही महीने बाद साँप काटनेसे उनकी भी मृत्यु हो गयी । घरमें रह गये बूढ़े सास-ससुर और विधवा कुँअररानी ! कुँअररानी अभी केवल चौदह वर्षकी थी । इस भीषण वज्रपातने एक बार तो उसके हृदयको भयानकरूपसे दहला

दिया । परंतु कुछ ही समय बाद भगवत्कृपासे उसके हृदयमें स्वतः ही ज्ञानका प्रकाश छा गया । उस प्रकाशकी प्रभामयी किरणोंने जगत्‌के यथार्थ रूप, जागतिक पदार्थों और प्राणियोंकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता तथा दुःखरूपता; मानव-जीवनके प्रधान उद्देश्य, मनुष्यके कर्तव्य, मनुष्यको प्राप्त होनेवाले समस्त सुख-दुःखोंमें मङ्गलमय भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपा, और भगवान्‌की शरणागति तथा भजनसे ही समस्त दुःखों-का नाश तथा नित्य परमानन्दस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति होती है—इन सारी चीजोंके प्रत्यक्ष दर्शन करा दिये । उसका दुःख जाता रहा । जीवनका लक्ष्य निश्चित हो गया और उसकी प्राप्तिके लिये उसे प्रकाशमय निश्चित पथकी भी प्राप्ति हो गयी ।

कुँअररानीने इस बातको भलीभाँति समझ लिया कि मनुष्यजीवनका परम और चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है । नारी हो या पुरुष— जीव मनुष्ययोनि प्राप्त करता है भगवान्‌को पानेके लिये ही; परंतु यहाँ विषय-भोगोंके भ्रमसे भासनेवाले आपातरमणीय सुखोंमें इस लक्ष्यको भूलकर विषयसेवनमें फँस जाता है और फलतः कामनाकी परवशतासे मानव-जीवनको पापोंके संग्रहमें लगाकर अधोगतिमें चला जाता है । विषय-सेवनसे आसक्ति और कामनादि दोष बढ़ते हैं और इसीलिये बुद्धिमान् विरागी पुरुष विषयोंका स्वेच्छापूर्वक त्याग करके संन्यास ग्रहण करते हैं । यद्यपि विवाह-विधान भी कामनाको संयमित करके भगवत्प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर होनेके लिये ही है । उसका भी चरम उद्देश्य विषयोपभोगमें अनासक्त होकर भगवान्‌की ओर लगाना ही है । इसीलिये गृहस्थीको भगवान्‌का मन्दिर और पतिको भगवान् मानने तथा गृहकार्यको भगवत्सेवाके भावसे करनेका विधान है । इतना होने-पर भी सधवा स्त्रियोंको विषयसेवनकी सुविधा होनेसे उनमें विषयासक्तिका बढ़ना सम्भव है । विधवाजीवन इस दृष्टिसे सर्वथा सुरक्षित है । यह एक प्रकारसे पवित्र साधुजीवन है, जिसमें भोगजीवनकी समाप्तिके साथ ही आत्यन्तिक सुख और परमानन्दस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले आध्यात्मिक साधनोंका संयोग स्वतः ही प्राप्त हो जाता है । कामोपभोग तो नरकोंमें ले जानेवाला और दुःखोंकी प्राप्ति कराने-वाला है । भोगोंसे आजतक किसीको भी परम शान्ति, शाश्वत सुख या भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई !

यह सब सोचकर कुँअररानीने मन-ही-मन कहा—मुझे यदि भोगजीवनमें ही रहना पड़ता तो पता नहीं आगे चलकर मेरी क्या दशा होती । बच्चे होते, उनमें मोह होता, मर जाते, दुःख होता, कामनाका विस्तार होता, चित्त मोहजालसे फँस जाता और दिन-रात नाना प्रकारकी चिन्ता-ज्वालाओंसे जलना पड़ता । मनको प्रपञ्चके अतिरिक्त परमात्माका चिन्तन करनेका कभी शायद ही अवकाश मिलता । भगवान्‌की मुझपर बड़ी ही कृपा है जो उन्होंने मुझको अनायास और विना ही माँगे जीवनको सफल बनानेका सुअवसर दे दिया है । पशुकी भाँति इन्द्रिय-भोगोंमें रची-पची रहनेकी इस पवित्र जीवनसे क्या तुलना है । भगवान्-ने मुझ डूबती हुईको उबार लिया । धन्य है उनकी कृपाको ।

उसने सोचा, मनुष्य भ्रमसे ही ऐसा मान बैठता है कि भगवान्‌ने अमुक काम बहुत बुरा किया । वास्तवमें ऐसी बात है, मङ्गलमय भगवान् जो कुछ भी करते हैं, हमारे मङ्गलके लिये ही करते हैं । समस्त जीवोंपर उनकी मङ्गलमयी कृपा सदा बरसती रहती है । उनकी मङ्गलमयता और कृपालुतापर विश्वास न होनेके कारण ही मनुष्य दुखी होता, अपने भाग्यको कोसता और भगवान्‌पर दोषारोपण करता है । फोड़ा होनेपर उसे चीर देना, विषमज्वर होनेपर चिरायते तथा नीमका कड़वा क्वाथ पिलाना और कपड़ा पुराना एवं गंदा

हो जानेपर उसे उतारकर नया पहना देना जैसे परम हितके लिये ही होता है, वैसे ही हमारे अत्यन्त प्रिय सांसारिक सुखोंका छीना जाना, नाना प्रकारके दुःखोंका प्राप्त होना और शरीरसे वियोग कर देना भी मङ्गलमय भगवान्‌के विधानसे हमारे परम हितके लिये ही होता है। हम अपनी बेसमझीसे ही उसे भयानक दुःख मानकर रोते-कलपते हैं। इन सारे दृश्योंके रूपमें, इन सभी स्वाँगोंको धारण करके नित्य नवसुन्दर, नित्य नवमधुर हमारे परम प्रियतम भगवान् ही अपनी मङ्गलमयी लीला कर रहे हैं, इस बातको हम नहीं समझते। रोने-कराहनेकी भयानक लीलाके अंदर भी वे नित्य मधुर हँसी हँस रहे हैं, इसे हम नहीं देख पाते। इसीसे बाहरसे दीखनेवाले दृश्यों और स्वाँगोंकी भीषणताको देखकर काँप उठते हैं।

दुःखके रूपमें भगवान्‌का विधान ही तो आता है और वह विधान अपने विधाता भगवान्‌से अभिन्न है। सारांश कि भगवान् ही दुःखके रूपमें प्रकट हैं। और वे इस रूपमें प्रकट हुए हैं हमारे परम कल्याणके लिये ही।

अहा! मुझपर भगवान्‌की कितनी अकारण करुणा है जो उन्होंने मेरे सारे सांसारिक झंझटोंको, विषयोंमें फँसानेवाले सब साधनोंको हटाकर मुझको सहज ही अपनी ओर खींच लिया है। मुझे आज उनकी अहैतुकी कृपासे यह स्पष्ट दीखने लगा है कि समस्त सुखोंके भण्डार एकमात्र वे श्रीभगवान् ही हैं। विषयोंमें सुख देखना और विषयभोगोंसे सुखकी आशा रखना तो जीवका महामोह या भीषण भ्रम है, आज भगवान्‌ने कृपा करके मेरे इस महामोहको मार दिया और भीषण भ्रमको भंग कर दिया है! यह क्या मुझपर उनकी कम कृपा है। वे कृपासागर हैं, कृपा ही उनका स्वभाव है, वे नित्य कृपाका ही वितरण करते हैं। धन्य है! अब तो बस मैं केवल उन्हींका चिन्तन करूँगी, उन्हींके नामको सदा रटूँगी। वृद्ध सास-ससुरके रूपमें भी उन्हींके दर्शन करूँगी। भगवान्‌का भजन ही तो मानव-जीवनका प्रधान धर्म है। जिसके जीवनमें भजन नहीं, वह तो मनुष्य-नामधारी पशु या पिशाच है। मानवताका विकास—प्रकाश और प्रसार तो भजनसे ही होता है। दिन-रात प्रभुका मधुर स्मरण करना और दिन-रातकी प्रत्येक चेष्टाका प्रभुकी पूजा तथा प्रसन्नता-के लिये ही किया जाना भजन है।' इस प्रकार विवेक, विचार और निश्चय करके परम भाग्यवती कुँअररानी भगवान्‌के नित्य भजनमें लग गयी।

जो स्त्रियाँ घर और घरके पदार्थोंमें आसक्त न होकर पतिके घरको भगवान्‌का मन्दिर, पतिको भगवान् तथा घरके कार्यको भगवान्‌की सेवा मानकर जीवन निर्वाह करती हैं, उनकी बात तो अलग है; पर जो केवल विषय-सेवन तथा कामोपभोगके लिये ही पतिका सेवन करती है और कुत्ती, गदही या सूकरीकी भाँति शरीर-संयोगमें ही सुखका अनुभव करती है वह तो वस्तुतः मन्दभागिनी ही है; क्योंकि वह दुर्लभ मानव-जीवनको व्यर्थ खो ही नहीं रही है, साथ जानेवाली पापकी भारी पोट भी बाँध रही है। भगवान् शङ्करने कहा है—

उमा सुनहु ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

जो भगवान्‌को छोड़कर विषयोंमें अनुराग करते हैं, वे ही वस्तुतः अभागे हैं। कुँअररानी इस अभागेपनसे सर्वथा छूट गयी है और माता-पिता तथा पतिसे रहित होकर भी वह परम सौभाग्यको प्राप्त हो गयी है; क्योंकि उसका चित्त क्षणभङ्गुर दुःखरूप विषयोंसे विरक्त होकर नित्य सत्य सनातन परमानन्दस्वरूप प्रभुके सदा-सुखद अच्युत चरणारविन्दका चञ्चरीक बन गया। उसने जागतिक दृष्टिसे दीखनेवाले अति भयानक दुःखमें भी भगवान्‌को देखा, पहचाना और पकड़ लिया! भक्त तो कहता है—

देख दुःखका वेश धरे मैं
नहीं डरूँगा तुमसे नाथ !
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं
पकडूँगा जोरोंके साथ ।

× × × ×

तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब,
तब फिर मैं किस लिये डरूँ ।
मृत्यु-साज सज यदि आओ
तो चरण पकड़ सानंद मरूँ ॥

× × × ×

कुँअररानी वृद्ध सास-ससुरकी भगवद्भावसे सेवा करने लगी । छोटी उम्र होनेपर भी उसकी सच्ची भक्ति-भावनाका प्रताप इतना बढ़ा कि आसपासके लोग ही नहीं, गाँवभरके नर-नारी उसके परम पवित्र तथा परम तेजस्वी जीवनसे प्रभावित होकर भगवान्‌की ओर लग गये । वह उस गाँवके लोगोंके लिये मानो भवसागरसे तारनेवाली जहाज ही बन गयी ।

उसकी जीवनचर्या बड़ी ही पवित्र और आदर्श थी । उसने नमक और मीठा खाना छोड़ दिया । वह सदा सादा भोजन करती । सादे सफेद कपड़े पहनती । सिरके केश मुँडवा दिये । आभूषणोंका त्याग करके तुलसीकी माला गलेमें पहन ली । मस्तकपर गोपीचन्दन-का तिलक करती । रातको काठकी चौकीपर घासकी चटाई बिछाकर सोती । जाड़ेके दिनोंमें एक कम्बल बिछाती और एक ओढ़ती । रात्रिको केवल चार घंटे सोती । प्रातःकाल सूर्योदयसे बहुत पहले उठकर स्नानादिसे निवृत्त हो सास-ससुरकी सेवामें लगती । मुँहसे सदा भगवान्‌का नामोच्चारण होता रहता और मनमें सदा भगवान्‌की मधुर छविका दर्शन करती रहती । गीता, रामायण और भागवतका पाठ तथा मनन करती । दिनमें अधिकांश समय मौन रहती । नियत समयपर सास-ससुरको प्रतिदिन श्रीमद्भागवत, रामायण या गीता सुनाती तथा उनके अर्थको समझाती । उसी सत्सङ्गमें गाँवके लोग भी आते जो वहाँसे जीवनको सुख-शान्ति प्रदान करने-वाले अत्यन्त पवित्र मधुर अमृतकणोंको लेकर लौटते । जैसा उसका उपदेश होता, वैसा ही उसका जीवन भी था । तपस्या, विनय, प्रेम, सन्तोष, भगवद्भक्ति, विरक्ति एवं दैवीसम्पत्ति आदि सब मानो उसमें मूर्तिमान् होकर रहते थे । उसे देखते ही देखनेवालेके मनमें पवित्र मातृभाव तथा भगवद्भाव उदय होता । वह अपने घरका सारा काम अपने हाथों करती । घरमें कुआँ था, उससे स्वयं पानी भरती, स्वयं झाड़ू लगाती, बर्तन माँजती, कपड़े धोती, रसोई बनाती, भगवान्‌की सेवा करती और सास-ससुरकी सेवा करती । उसका जीवन सब प्रकार-से सात्त्विक और आदर्श था । इस प्रकार सास-ससुर जबतक जीवित रहे, तबतक वह पूर्ण संयमित जीवनसे घरमें रहकर उनकी सेवा करती रही । और उनके मरनेपर वह सब कुछ दान करके श्रीवृन्दावनधाममें चली गयी एवं वहाँ एक परम विरक्त संन्यासिनीकी भाँति कठोर तपस्या तथा भजनमय जीवन बिताकर अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त हो गयी !

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

सुन्दर नन्दकुमार

माथे मनोहर मोर लसै पहिरे हियमें गहिरे गर हारन ।
कुंडल मंडित गोल कपोल सुधासम बोल विलोल निहारन ॥
सोहत त्यों कटि पीत-पटी मन मोहत मंद महापग धारन ।
सुंदर नंद-कुमारके ऊपर वारिये कोटि कुमार-कुमारिन ॥

कामके पत्र

(१)

दो प्रकारके पापी

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला। पापी दो प्रकारके होते हैं—एक वह, जिसकी पापमें पापबुद्धि है । उसके द्वारा पापकर्म बनता है, पर वह उसके हृदयमें सदा काँटा-सा चुभता है । आदत, व्यसन, परिस्थिति और कुसङ्ग आदिके कारण समयपर वह अनियन्त्रित-सा हो जाता है और न करने योग्य कार्य कर बैठता है; परंतु पीछे उसे अपने उस दुष्कर्मके लिये बड़ी आत्मग्लानि होती है, बड़ा पश्चात्ताप होता है । ऐसी स्थितिमें वह पुनः वैसा दुष्कर्म न करनेका मन-ही-मन निश्चय करता है; परंतु अवसर आनेपर पुनः विचलित हो जाता है । अन्तमें रो-रोकर सर्वशक्तिमान् सदा सर्वत्र वर्तमान दीनैकशरण्य भगवान्को ही अपना एकमात्र त्राणकर्ता मानकर उनसे प्रार्थना करता है। ऐसे ही पापीके सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्ने घोषणा की है—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
> (९ । ३०-३१)

'महान् दुष्ट आचरण करनेवाला पुरुष भी यदि मुझको अनन्यभाक् होकर (अर्थात् भगवान्के सिवा किसी भी साधन, कर्म, योग, ज्ञान, देवता या इष्टको शरण्य और त्राणकर्ता न मानकर—केवल भगवान्को ही अपना एकमात्र रक्षक और आश्रयदाता जानकर) भजता है, उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय सर्वथा यथार्थ है । वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा (सारे पापोंसे सर्वथा छूटकर धर्ममय) बन जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है । अर्जुन ! तुम निश्चय सत्य मानो कि मेरे भक्तका (इस प्रकार एकमात्र भगवान्को ही परम आश्रय माननेवाले पुरुषका) पतन नहीं होता ।'

दूसरे प्रकारका पापी वह है, जिसकी पापमें उपेक्षाबुद्धि है, अथवा पापासक्ति अधिक होनेके कारण जो पाप करके गौरव और गर्वका अनुभव करता है । ऐसे पापीका त्राण नहीं होता । उसका पतन अवश्यम्भावी है । इस प्रकारके पापीके लिये भगवान्ने कहा है—

> न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
> माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
> (गीता ७ । १५)

'जिनकी बुद्धि सर्वथा सम्मोहित हो गयी है; जिनका ज्ञान मायाके द्वारा सर्वथा हरा जा चुका है, जो आसुरभावका आश्रय किये हुए हैं, वे नराधम पापी मनुष्य मेरा भजन नहीं करते ।'

आपके मनमें यदि पापसे घृणा है, पापके लिये घोर पश्चात्ताप है तो आप पहले प्रकारमें ही आते हैं और पहले प्रकारके पापीके लिये निराशाकी कोई बात नहीं है । आप करुणावरुणालय अशरणशरण पतितपावन दीनबन्धु भगवान्की सहज करुणाका भरोसा करके उनका समाश्रयण कीजिये। उनकी कृपाशक्तिका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि जो कोई विश्वास करके एक बार उसकी ओर कातर दृष्टिसे ताक लेता है, वह तुरंत ही उसकी सब प्रकारकी सारी पाप-कालिमाओंको सदाके लिये नष्ट कर देनेका सङ्कल्प कर लेती है और जहाँ कृपाशक्ति किसी आर्त्त प्राणीके आर्त्तिनाशका निश्चय करती है, वहाँ भगवान्की अन्यान्य समस्त शक्तियाँ उसका सहयोग देने लगती हैं । भगवान्की कृपाशक्ति ऐसी अमित महिमामयी है कि समस्त शक्तियाँ सहज ही उसका अनुसरण करनेमें अपनेको धन्य मानती हैं और जब भगवान्की ये उदार शक्तियाँ किसीके उद्धारका मनोरथ और प्रयत्न करती हैं, तब उसके उद्धारमें कौन देर लगती है ?—

> जापर दीनानाथ ढरै, सोइ सुकृती उदार सो अनुपम सोइ सुकर्म करै ॥
> राम कृपा करि चितवहिं जबही । सकल दोष दुख नासहिं तबही ॥
> जापर कृपा राम की होई । तापर कृपा करहि सब कोई ॥

भगवान् तो यह घोषणा ही कर चुके हैं कि वह पापात्मासे बदलकर 'क्षिप्रं' (तुरंत—चुटकी मारते-मारते) धर्मात्मा हो जाता है । उसका पतन तो हो ही नहीं सकता ।

ऐसी अवस्थामें आपको न तो पापोंके लिये चिन्तित होना चाहिये और न पापकी प्रबल शक्तिसे डरना ही चाहिये । पापमें शक्ति ही कितनी है जो समस्त भगवच्छक्ति-चूडामणि महान् उदार कृपाशक्तिके सामने क्षणभर भी ठहर सके । जैसे सूर्योदयकी अरुणिमाका उदय होते ही अमावस्याका घोर अन्धकार नाश होने लगता है और सूर्योदय होनेपर सूर्यके सामने तो उसका कहीं पता ही नहीं लगता—क्षणमात्रमें ही उसका क्षय हो जाता है । इसी प्रकार

भगवान्‌की कृपाशक्तिका प्रकाश होते ही पापान्धकारका समूल नाश हो जाता है। बस, शर्त यही है, मनुष्य अनन्य विश्वासके साथ कृपापारावार भगवान्‌की कृपाशक्तिका आश्रय ग्रहण कर ले।

अतएव आप श्रीभगवान्‌की कृपाका भरोसा करके उनकी शरण हो जाइये और मनमें यह निश्चय कीजिये कि उनकी कृपाशक्तिके सामने मनमें पापकी स्फुरणाका भी उदय नहीं हो सकता। फिर पाप तो होंगे ही कहाँसे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

दिन-रात भगवद्भजन कैसे हो ?

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपको दिनभर काममें लगे रहना पड़ता है, अवकाश बहुत कम मिलता है, इसलिये तीव्र इच्छा होनेपर भी आप अलग बैठकर भजन-ध्यानके लिये समय नहीं निकाल सकते। काम करते हुए ही भजनका कोई तरीका जानना चाहते हैं—सो बहुत अच्छी बात है। मेरी समझसे ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिये कि आपको समय मिलता ही न हो। शौच, स्नान, भोजन, शयन आदिके लिये समय किसी तरह आप निकालते ही होंगे। वैसे ही आप चाहें तो भजनके लिये भी कुछ समय निकाल सकते हैं। जो कार्य अत्यन्त आवश्यक होता है, जिस कार्यके प्रति मनमें आकर्षण होता है तथा जिसके लिये तीव्र इच्छा होती है, उसके लिये समय मिल ही जाता है। आप प्रयत्न करके देखें, आपकी लगन, रुचि तथा मनमें आवश्यकताकी भावना होगी तो आसानीसे समय मिल जायगा। फिर श्रीमद्भगवद्गीता-में श्रीभगवान्‌ने एक ऐसा तरीका बतलाया है कि जिससे यदि मनुष्य चाहे तो प्रतिक्षण भगवान्‌का भजन-पूजन बड़ी सुगमताके साथ कर सकता है। भगवान् कहते हैं—

> **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**
> **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥**
> (गीता १८। ४६)

'जिन परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिनके द्वारा यह सर्व जगत् व्याप्त है, उन परमात्माको अपने सहज कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको (मानव-जीवन-की परम और चरम सफलताको) प्राप्त हो जाता है।'

भगवान्‌के इस आदेशके अनुसार मनुष्य चाहे जहाँ, चाहे जब, अपने ही द्वारा किये जानेवाले उसी समयके कर्मों-के द्वारा भगवान्‌का भजन-पूजन कर सकता है।

इसमें किसी स्थान-विशेष, समय-विशेष, स्थिति-विशेष और उपचार-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। किसी भी वर्णाश्रमका मनुष्य, किसी भी स्थानमें, किसी भी स्थितिमें सर्वत्र-स्थित भगवान्‌का पूजन कर सकता है। इस पूजनमें गन्ध-पुष्प, धूप-दीप आदिकी भी आवश्यकता नहीं है। जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रीय कर्म विहित है, उसीके द्वारा वह भगवान्‌की पूजा कर सकता है। बस, मनका भाव यह होना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, सर्वव्यापी और सर्वाधार भगवान्‌की पूजा ही कर रहा हूँ। फिर सोना-जागना, खाना-पीना, जाना-आना, व्यापार-व्यवसाय करना, यहाँतक कि शरीर-शुद्धितकके सभी कर्म भगवान्‌की पूजाके उपकरण बन जायँगे। आप इस प्रकारसे हर समय भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं। जिसको भी देखें, जिससे भी बात करें, मन-ही-मन यह निश्चय कर लें कि इस रूपमें भगवान् ही आपके सामने स्थित हैं। तदनन्तर उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करके उस समयके लिये उसके साथ जिस प्रकारका व्यवहार-बर्ताव करना शास्त्रदृष्टिसे विहित हो, उसी प्रकारके व्यवहार-बर्तावद्वारा उनकी पूजा करें। फिर, आप अलग समय निकालकर भजन-पूजन न भी कर सकेंगे तो भी कोई हानि नहीं है। इस प्रकारसे भगवान्‌का भजन-पूजन करने लगनेपर आपके समस्त कर्म स्वाभाविक ही भगवदर्पण हो जायँगे और आपके चित्तमें सदा सहज ही भगवान्‌की स्मृति भी बनी रहेगी। भगवदर्पण कर्मोंका और भगवान्‌की नित्य स्मृतिका फल तो भगवत्-प्राप्ति है ही। भगवान् कहते हैं—

> **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
> **यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥**
> **शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।**
> **संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥**
> (गीता ९। २७-२८)

'अर्जुन! तुम जो कुछ भी कर्म करते हो—खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो और तप करते हो, सब मेरे अर्पण कर दो। इस प्रकार, जिसमें समस्त (लौकिक, पारलौकिक, पारमार्थिक आदि) कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाले तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होओगे।'

> **तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।**
> **मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥**
> (गीता ८। ७)

'अतएव तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मुझमें अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर तुम निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

इस प्रकार मनुष्य भगवत्-स्मरण तथा भगवदर्पण-बुद्धिसे किये जानेवाले विहित कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करता हुआ अनायास ही भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। और इस प्रकार सभी लोग कर सकते हैं। पर इसके साथ ही, कुछ समय प्रतिदिन अलग भी भगवान्‌का भजन-पूजन किया जाय तो उससे जल्दी लाभ होता है और वह सहज भी है। यह सत्य है कि पूरा भजन तो वही है जो आठों पहर बिना विरामके और प्रत्येक कर्मके द्वारा ही होता रहता है। पर ऐसे भजनमें प्रवृत्ति हो, इसके लिये भी नित्य नियमपूर्वक कुछ समयतक अलग बैठकर भजन करनेकी आवश्यकता है। मेरी समझसे आप यदि थोड़ी भी चेष्टा करेंगे तो आपको समय मिल ही जायगा।

यह याद रखना चाहिये कि मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है और एकमात्र कर्तव्य भगवद्भजन है। चाहे जैसे भी हो, अपनी-अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुसार यह अवश्य करना ही चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(३)

श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम-तत्त्व हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। गीताके पुरुषोत्तम-तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा, सो वस्तुतः इस तत्त्वका यथार्थ ज्ञान तो भगवान् व्यासको ही है, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है। मैं तो अपने विचारकी बात लिख सकता हूँ और अपनी समझ तथा दृष्टिकोणसे मुझे इस मान्यतामें पूर्ण विश्वास है। मेरी समझसे गीताके श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। यही समग्र ब्रह्म हैं। ये क्षरसे अतीत हैं, अक्षरसे उत्तम हैं और सर्वगुह्यतम परम तत्त्व हैं। ये ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं। इनमें एक ही साथ परस्परविरोधी धर्मोंका प्रकाश है। ये निर्गुण हैं और अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगण-स्वरूप हैं; ये सर्वेन्द्रियविवर्जित हैं और सर्वेन्द्रियगुणाभास हैं। ये कर्तृत्वहीन हैं और सर्वकर्ता हैं; ये अजन्मा हैं और जन्म धारण करते हैं; ये सबसे परे हैं और सदा सबमें व्याप्त हैं; ये सर्वथा असङ्ग हैं और नित्य प्रेम-परवश हैं। यही अर्जुनके सखा हैं, सारथि हैं, गुरु हैं और भगवान् हैं। ये निर्गुण, निरञ्जन, निष्क्रिय, निष्कल, निरवद्य, अनिर्देश्य, अचल, कूटस्थ, अव्यक्त तत्त्व हैं और ये ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सार-समुद्र, नित्य नटवर, श्यामसुन्दर हैं एवं ये ही गति, भर्ता, भोक्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, सुहृद्, माता, पिता, धाता, पितामह, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, परमात्मा और महेश्वर हैं। गीतामें जहाँ-जहाँ अहं, मम, मे, माम्, मत्तः, मया पद आये हैं, सब इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके लिये ही आये हैं। यह श्रीकृष्णतत्त्व ही गीताका प्रतिपाद्य है और इसीकी शरणागतिका चरम उपदेश गीतामें दिया गया है। यही गीताकी सर्वगुह्यतम शिक्षा है।

(४)

खर्च घटनेका उपाय—सादगी

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आजकल हमलोगोंके खर्च बहुत बढ़ गये हैं—यह सत्य है। इसका कारण महँगी तो है ही। साथ ही हमारी रहन सहनकी खर्चीली पद्धति भी है। रहन-सहनका स्टेण्डर्ड (स्तर) ऊँचा करनेकी चर्चा इधर बहुत जोरोंसे चल रही थी। इस स्तरकी उच्चताने इतना अधिक व्यर्थ खर्च बढ़ा दिया है कि जिसकी पूर्ति अब बहुत कठिन हो गयी है। अभाव जितना बढ़ाइये, उतना ही बढ़ता रहेगा। कामनाका अन्त कहाँ है। और जितनी ही कामना बढ़ेगी, उतना ही अनाचार, भ्रष्टाचार और पाप बढ़ेगा—यह प्रत्यक्ष है। भगवान्‌ने गीतामें भी इस कामनाको ही महाशन (भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला), महापापी और मनुष्यका शत्रु बतलाया है। 'महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।' (३। ३७) और पापका फल दुःख होगा ही। एक युग था, जब यहाँके निवासी कहते थे—

> स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
> अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत्॥

'वनमें उत्पन्न होनेवाले शाक आदिके द्वारा ही जब पेट भर जाता है, तब इस पेटके लिये कोई महान् पाप क्यों करेंगे।' आज यह सपनेकी-सी बात हो गयी है।

आज तो हमारा पेट इतना बढ़ गया है कि वह किसी भी हालतमें भरता ही नहीं। कामनाकी भूखका क्या ठिकाना। इसीसे आज प्रत्येक व्यक्ति अर्थ और अधिकारके पीछे पागल है।

खान-पानमें अपनी देशप्रथाके अनुसार पहले जो कुछ होता था, उसमें एक संयम था। अब देशके बड़े-बड़े अग्रणी पुरुष भी अंगरेजी पढ़-लिखकर ब्रेक-फास्ट (प्रातःकालीन भोजन), लंच (मध्यकालीन भोजन), टिफिन (मध्याह्नोत्तर ब्यालू), डिनर (रात्रिभोजन) करते हैं। इसके सिवा, बेड् टी (बिस्तरकी चाय) से लेकर रात्रितक कई बार

बिस्कुटसहित चाय अलग ली जाती है । फल और सूखा मेवा अलग । अब बतलाइये, भोजनखर्च क्यों न बढ़े ।

गाँवोंमें पहले लोग धोती पहनते और बदनपर एक गमछा या चादर डाल लेते थे । धूप, वर्षा, सर्दी आदि सहनेका इसीसे उनको अभ्यास था और इसीसे वे प्रायः नीरोग भी रहते थे । अब ग्रामवासी लोग भी पढ़ लिखकर वेश-भूषा सजाने लगे । गरमीकी मौसिममें भी पैरोंमें मोजे, पतलून या चूड़ीदार पाजामा, बदनपर तीन-चार कपड़े, कोट, लम्बी शेरवानी आदि आ गये हैं । इन कपड़ोंकी सिलाईमें सैकड़ों रुपये खर्च हो जाते हैं । बच्चोंको यूरोपियन ढंगकी घघरी, फ्राक, कोट आदि पहनाये जाते हैं । स्त्रियोंके फैशनका तो कोई ठिकाना ही नहीं । तब बताइये, खर्च कैसे नहीं बढ़ेगा ? खर्च तो तब घटेगा, जब इतनी वस्तुओंका व्यवहार नहीं किया जायगा और इसके लिये—जिनकी साधारण लोग नकल करते हैं, उन बड़े लोगों, नेताओं, सरकारी अफसरों आदिका सादे भोजन और सादे पोशाकवाले होना आवश्यक है ।

मुसल्मानी जमानेमें पाजामा, अचकन, शेरवानी आदि हमारी पोशाकमें आये । अंग्रेजोंके सङ्गसे पतलून, कोट, हैट आदि आये; परन्तु अब स्वराज्य मिलनेपर भी हमारा यह विदेशी मोह नहीं छूटा है—यह खेदकी बात है । महात्मा गाँधी लन्दनमें बादशाहसे नंगे बदन, नंगे पैर, छोटी-सी धोती पहने, चादर ओढ़े मिले थे । यदि आज हमारी सरकार यह घोषणा कर दे कि राष्ट्रिय पोशाक धोती और चद्दर है । और यदि बड़े-बड़े मिनिस्टर, न्यायाधीश, जिलाधीश, विद्यालयों-महाविद्यालयोंके अधिपति, आचार्य, नेतागण, प्रमुख व्यापारीवर्ग इसी पोशाकमें अपने-अपने कार्यालयों, कचहरियों, विद्यालयों और दूकानोंपर उपस्थित होने लगें तो इनकी देखा-देखी बहुत शीघ्र जनता उसीके अनुसार धोती, चादरका व्यवहार करने लगे । कपड़ेका खर्च अपने-आप कम हो जाय । यह सच है कि मनुष्योंकी संख्या बढ़ी है; परन्तु साथ ही उत्पादन भी तो बढ़ा है । ज्यादा अभाव तो हुआ है कल्पित अभावोंको बढ़ा लेनेसे—उच्चस्तरके जीवनके नामपर अधिकाधिक वस्तुओंके व्यवहार और संग्रहसे ।

पहले धार्मिक भावनासे नर-नारी व्रत-उपवासादि करते थे । उससे भी बहुत अन्न बच जाता था । साथ ही संयम तथा इन्द्रिय-निग्रहका पाठ भी सीखते थे । अब तो धर्मका नाम लेना भी अपराध-सा हो चला है । खर्च घटाना चाहते हैं, पर जीवनको निरङ्कुश, उच्छृङ्खल, वासनाओंका दास, विलासी और कल्पित अभावोंसे पूर्ण बना रहे हैं । विवाह आदिमें विभिन्न प्रकारके आडम्बर बढ़ रहे हैं; तब खर्च घटेगा कैसे । और खर्च न घटनेपर चोरी, डकैती, घूसखोरी, चोरबाजारी होगी ही । इन दोषोंको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम तो आवश्यक है—ईश्वर, परलोक तथा धर्ममें विश्वास । जब एकान्तमें भी मनुष्य चोरी करना, दूसरेका पैसा लेना अधर्म समझेगा, तब आजकी तरह उसकी केवल कानूनके पंजेसे बचकर पाप करनेकी प्रवृत्ति नहीं होगी । तभी ये अनर्थ बंद होंगे । साथ ही कल्पित अभावों तथा उच्च स्तरके (खर्चीले) जीवनसे भी अपनेको दूर रखना पड़ेगा । कामोपभोगपरायण मनुष्य तो अन्यायसे अर्थसञ्चय करेगा ही । जीवनमें जितने ही अभाव कम होंगे, जितनी ही आवश्यकताएँ थोड़ी होंगी, उतना ही जीवन निष्पाप रहेगा और उतनी ही सुख-शान्ति भी रहेगी ।

समाजसे इस पापको दूर करना है तो समाजके प्रमुख पुरुषोंको, शासनाधिकारियोंको और नेताओंको अपना जीवन बदलना पड़ेगा । तभी यह पाप मिटेगा । परोपदेशसे तथा कानूनी कड़ाईसे कुछ नहीं होगा । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ (समाजमें प्रमुख माने जानेवाला) व्यक्ति जो-जो आचरण करता है, साधारण लोग उसीका अनुकरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, जैसा आदर्श उपस्थित करता है, उसीके अनुसार लोग वर्तते हैं ।

(५)

भगवान्‌का मङ्गलविधान

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । सचमुच इस समय भारतवर्षकी स्थिति बहुत शोचनीय है । हमारे समाज-जीवनका जिस प्रकारका नैतिक पतन हुआ है, उसे देखकर बड़ी चिन्ता होती है । इसका परिणाम अच्छा तो कैसे होगा; पर घबड़ानेकी बात नहीं है । अमावस्याके बाद ही शुक्ल पक्षका प्रारम्भ हुआ करता है । हमारे दुःख जब बहुत अधिक बढ़ जायँगे, तब हमें चेत होगा । भगवान्‌का विधान मङ्गलमय होता है । वे जीव-जगत्‌की भलीभाँति परिशुद्धि करनेके लिये ही विपत्तिरूपी औषधका प्रयोग किया करते हैं । जो कुछ करते हैं सर्वथा निर्भ्रान्त होकर निश्चित कल्याणके लिये ही । असलमें तो इस समय जो कुछ सङ्कट हमपर या तमाम विश्वपर आये

हुए हैं, वे सभी उनके मङ्गलमय विधानके ही अङ्ग हैं—जो पहलेसे सुनिश्चित हैं । हमारा कर्तव्य है कि इन दुःखों और विपत्तियोंमें भगवान्का मङ्गलमय हाथ देखकर हम इनका स्वागत करें एवं अपने विश्वास, श्रद्धा, प्रभु-शरणागतिसे तथा प्रभुके हाथके यन्त्र बनकर इन्हें सुख और सम्पत्तियोंके रूपमें परिणत कर दें । ऐसा हम कर सकते हैं—यदि प्रभुकी शरण होकर उनके विधानके रूपमें इनको सिर चढ़ायें । साथ ही अपने जीवनको प्रभुके सर्वथा अनुकूल बना लेना होगा । हमारी प्रत्येक चेष्टा प्रभुके मङ्गलकार्यका एक सुन्दर अङ्ग बन जाय । प्रतिकूल वस्तु या भाव हममें रहे ही नहीं । हम अपने अलग अस्तित्वको भूलकर प्रभुके ही चरणरजके एक कण बन जायँ, जिससे कि सदा चरणतलसे चिपटे रहकर निरन्तर उनके चरण-स्पर्शका सुखानुभव करते रहें । शेष भगवत्कृपा ।

(६)

भगवद्दर्शनके साधन

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । उत्तरमें निवेदन है कि भगवान्की प्राप्तिके अनेकों मार्ग हैं और अधिकारी-भेदसे सभी ठीक हैं । ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग—सभी अपने-अपने स्थानमें महत्त्व रखते हैं । इनमेंसे किसी एकको मुख्य रूपमें स्वीकार करके साधक अपना मार्ग निश्चित करता है । फिर इन ज्ञान, भक्ति, योग आदिके भी विभिन्न स्वरूप तथा स्तर हैं । एक मार्गसे यदि सफलता नहीं मिलती तो यह समझना चाहिये कि या तो उस मार्ग-पर वह साधक भलीभाँति चल नहीं पाया अथवा वह उस मार्गका अधिकारी नहीं है । परन्तु एक मार्गपर चलना आरम्भ करके उसे सहसा छोड़ना या बदलना नहीं चाहिये । सावधानीके साथ पता लगाना चाहिये—कहाँपर त्रुटि है । जहाँ त्रुटि मिले, वहीं उसकी पूर्तिका प्रयत्न करना चाहिये । साधक यदि लौकिक पदार्थोंकी कामनावाला नहीं है, वह शुद्ध हृदयसे एकमात्र भगवत्प्राप्ति या अपने इष्टस्वरूप भगवान्का साक्षात्कार चाहता है तो उसके मार्गकी कठिनाइयोंको भगवान् स्वयं दूर करेंगे, वे ही उसके मार्ग-दर्शक बनेंगे और वे ही उसके लिये पाथेय, प्रकाश और साथीकी व्यवस्था करेंगे । आप अपनेको उनपर छोड़ दीजिये, अपनी जीवन-चर्याको सर्वथा उनके अर्पण कर दीजिये । फिर वे आप ही सम्हालेंगे । भगवान्ने स्वयं गीतामें कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(९ । २२)

'जो अनन्य (एकमात्र मेरे ही शरणापन्न होकर मुझपर ही श्रद्धा, विश्वास, आशा-भरोसा रखनेवाले) मेरे जन निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए (मेरे लिये ही) मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषोंके योग-क्षेमका मैं स्वयं वहन करता हूँ । अर्थात् उनके प्राप्त साधन-की रक्षा—क्षेम मैं स्वयं करता हूँ और जो कुछ उन्हें प्राप्त करना है, उसका योग—प्राप्ति भी मैं स्वयं करा देता हूँ ।'

हमें तो बस, यही करना है कि हम उनपर निर्भर करना सीख लें । अपना सब कुछ उन्हें सौंपकर उनके हाथकी कठपुतली बन जायँ । वे जब करें, जो करें, जैसे करें;—उसीमें हमें आनन्दका अनुभव हो । ऐसा होनेपर उनके दर्शन बहुत शीघ्र होते हैं ।

उनके दर्शनका दूसरा साधन है—आत्यन्तिक उत्कण्ठा । जिसे 'अनिवार्य आवश्यकता' भी कह सकते हैं, जैसी प्यासेको जलकी होती है । हमारी भगवत्-मिलनकी इच्छा जब वैसी आवश्यकतामें परिणत हो जायगी, तब उसकी पूर्ति बिना विलम्ब होगी ।

आप जो साधना कर रहे हैं, वह ठीक है । उसे श्रद्धा-पूर्वक करते जाइये । मनमें कभी अविश्वासको स्थान न दीजिये । न ऊबिये ही । धैर्यके साथ लगे रहिये । जो अधीरता भगवान्के मिलनकी आवश्यकता पैदा करती है, वह तो बहुत श्रेष्ठ है; परंतु जो अधीरता साधनमें शिथिलता लाती है, उससे सदा बचना चाहिये । वह तो साधनका विघ्न है ।

'लागौ रहु रे भाइया तेरी बनत-बनत बनि जाय ।'

शेष भगवत्कृपा ।

(७)

भगवान् शङ्कर और श्रीकृष्ण एक ही हैं

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपके गुरुदेव समर्थ विद्वान् हैं और चार-पाँच वर्ष पहले आप उनसे भगवान् शङ्करका मन्त्र ले चुके हैं, पर इधर दो महीनेसे आपको लगातार स्वप्नमें भगवान् श्रीशङ्करके बदले भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करनेकी प्रेरणा मिलती है और आप दुविधामें हैं कि किसकी पूजा करें । इसके उत्तरमें निवेदन है कि वस्तुतः तत्त्वदृष्टिसे भगवान् श्रीशङ्करजीमें और भगवान् श्रीकृष्णमें कोई भी अन्तर नहीं है । एक ही भगवान् दो स्वरूपोंमें प्रकट हैं । इनमेंसे किसी एकको छोटा-बड़ा मानना उचित नहीं है । यह दूसरी बात है कि साधक अपने इष्टस्वरूपमें दृढ़ और अनन्य श्रद्धा रखकर उसीको सर्वोपरि

और सर्वरूप मानकर भजता है एवं अन्यान्य सभी भगवत्-स्वरूपोंको उसीके विभिन्न रूप मानता है एवं ऐसा ही होना भी चाहिये। आपने इधर श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत और रामायणका अध्ययन किया है, सम्भव है, इसी कारण श्रीकृष्ण-सम्बन्धी नवीन संस्कारोंके कारण आपको वैसे स्वप्न आते हों। यह भी हो सकता है कि आपकी प्रकृति श्रीकृष्णस्वरूप-की उपासनाके अनुकूल हो और स्वयं भगवान् शङ्कर ही आपको उनकी उपासनाके लिये प्रेरित करते हों। जो कुछ भी हो, आपको भगवान् श्रीशङ्करकी उपासना छोड़नी नहीं चाहिये और मन न माने तो श्रीशङ्करजीका ही दूसरा रूप समझकर श्रीकृष्णकी उपासना भी करनी चाहिये। कुछ समय बाद अपने-आप ही ढंग ठीक बैठ जायगा। यह निश्चय मानिये कि श्रीशङ्करजीकी पूजासे श्रीकृष्णकी पूजा हो जाती है और श्रीकृष्णकी पूजासे श्रीशङ्करजीकी! श्रीशङ्करजीमें दृढ़ निष्ठा होनेके लिये आपको शिवपुराण आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(८)

पापसे छूटनेका उपाय

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लड़कपनसे लेकर अबतककी अपने जीवनकी पाप-प्रवृत्तिका हाल लिखा, उसे पढ़कर खेद हुआ। सचमुच आप-की पत्नी बड़ी साध्वी थी जो आपको इस पापसे छूटनेके लिये समझाया करती थी। जो कुछ भी हो, अब तो आपकी उम्र भी अधिक हो चुकी है। आप सच्चा पश्चात्ताप करके दीनबन्धु पतितपावन भगवान्‌की शरण ग्रहण कीजिये। उन्हींको एकमात्र शरण्य, त्राणकर्ता और आश्रयदाता मानकर उनके चरणोंपर अपनेको डाल दीजिये तथा दिन-रात अविराम भगवन्नाम-जपका अभ्यास कीजिये। भगवदाश्रय और भगवन्नामसे पापोंका समूल नाश हो जाता है, यह निश्चित है। पर यह करना तो होगा आपको ही। शेष भगवत्कृपा।

(९)

भाईसे प्रेम करें

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी लिखी हुई बात आपकी दृष्टिसे ठीक ही है; परंतु आपकी दृष्टि ही बदली हुई है। द्वेषदृष्टि होनेपर सब दोषरूप हो जाता है। वरं द्वेष्य वस्तुके गुणोंमें भी दोष दीखता है और भेद तथा परायापन तो आ ही जाता है। यही कारण है कि आपलोग सगे भाई होते हुए भी पराये हो गये हैं। प्रेमका स्वभाव है अनेकको एक करना और द्वेषका स्वभाव है एकको अनेक करना। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ त्याग होगा ही। प्रेमकी भित्ति त्याग ही है। हम जिससे प्रेम करते हैं वे हमारे ही हो जाते हैं। उनका सुख ही अपना सुख होता है। अतएव उनके सुखके लिये सहज ही त्याग होता है। वहाँ छीनाझपटीका सवाल ही नहीं है। हमारा जिससे प्रेम होगा, उसके लिये हम त्याग करेंगे ही। और जहाँ स्वार्थ है वहीं त्यागका अभाव है, वहीं चोरी है, छिपावट है और छीनाझपटी है। वहीं द्वेष है और जहाँ द्वेष है वहीं दुःख है।

कलकत्तेके समीप एक वकील रहते थे। उनके घरमें एक उनकी पत्नी थी और एक छोटा भाई। छोटे भाईपर वकील साहेबका बड़ा प्रेम था; वह पढ़ता था। भाभीका भी देवरपर स्नेह था; परंतु ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों-ही-त्यों भाभीका प्रेम घटने लगा—वह देवरके प्रति द्वेष करने लगी। द्वेष होनेपर दोष दीखते ही हैं, उसे बात-बातमें दोष दीखने लगे और वह अपने पतिसे शिकायत करने लगी। पतिने बहुत समझाया-बुझाया; परंतु उसकी समझमें बात आयी ही नहीं। अन्तमें उसने पतिसे स्पष्ट कह दिया कि 'मेरे साथ आपके भाईका निर्वाह नहीं होगा, इन्हें अलग कर दीजिये।' वकील साहेबने दूसरा उपाय न देखकर दो दस्तावेज बनाये और एक दिन पत्नीको तथा छोटे भाईको पास बैठाकर छोटे भाईसे कहा—'देखो भैया! तुम्हारी भाभीको तुम्हारे व्यवहार-बर्तावसे संतोष नहीं है। यह बँटवारा चाहती है। मैंने भी निश्चय कर लिया है कि बँटवारा कर दिया जाय; क्योंकि रोज-रोजके कलहकी अपेक्षा एक बार निपटारा हो जाना उत्तम है। मेरे पास दो चीजें हैं—एक मैं और एक मेरी जमीन-जायदाद तथा अर्थसम्पत्ति। दोनोंके दस्तावेज तैयार हैं। तुम्हारी भाभी बड़ी है, अतः उसका पहला अधिकार है। इन दोनों चीजोंमेंसे जिस एकको वह पसंद करे, निःसंकोच प्रसन्नतासे ले ले। उसके ले लेनेपर जो चीज बचेगी वह तुम्हारे हिस्सेमें आ जायगी।' वकील साहेब-की बात सुनकर उनकी पत्नी बड़े सोचमें पड़ गयी। कुछ देर चुप रही। फिर सोच-साचकर उसने कहा—'मुझे तो जमीन-जायदाद और अर्थसम्पत्ति चाहिये।' वकील साहेबने बड़ी प्रसन्नतासे दस्तावेज निकाला। पढ़कर सुनाया, स्वयं हस्ताक्षर किये, छोटे भाईसे कराये और पत्नीसे कराये। फिर उसकी एक-एक प्रति दोनोंको दे दी। तदनन्तर भाईसे

कहा—'चलो, हमलोग अन्यत्र रहेंगे।' दोनों भाई जो एक-एक धोती कुर्ता पहने थे, वैसे-के-वैसे ही उठकर वहाँसे चल दिये। वकील साहबकी पत्नी कुछ भी बोल नहीं सकी। बोलती भी कैसे। देवरने जरूर भाभीकी चरणधूलि लेनेकी चेष्टा की। पर उसने पैर हटा लिया। पति-वियोगका तो उसे दुःख हुआ, पर देवरके हट जानेसे उसने मानो सुखकी साँस ली। अब वह कुछ कर्मचारियोंको रखकर जमीन-जायदादकी सम्हाल कराने लगी। कुछ दिन तो काम चला तथा देवरको हटा देनेका सन्तोष भी मनमें रहा। पर धीरे-धीरे काम बिगड़ने लगा। कर्मचारियोंने मनमानी आरम्भ की। खर्च बढ़ गया। आय प्रायः बंद हो गयी। मामले-मुकदमे भी लग गये। सालभर भी नहीं बीता कि वह सर्वथा ऊब गयी और पतिके पास जाकर उसने घर लौटनेकी प्रार्थना की।

वकील साहब नामी वकील थे, उन्होंने घरसे निकलकर दूसरी जगह मकान भाड़े ले लिया। रसोइया-नौकर रख लिये। काम तो उनका चल ही रहा था। छोटा भाई सुयोग्य तो था ही। उसके हृदयपर भाईके बर्तावकी अमिट छाप पड़ गयी थी। वह भी घरकी सँभाल और काम-काजमें पूरी सहायता करने लगा था। दोनों सुखसे रहने लगे थे।

जब पत्नीने आकर प्रार्थना की और कहा कि 'मेरा अपराध क्षमा करें। देवरको मैं पुत्रकी भाँति पालूँगी। मेरी बुद्धि मारी गयी थी जिससे मैंने उस निरपराधको सताया और यहाँतक काण्ड किया। अब मैं अपनी भूल समझ गयी। आप तथा देवरजी मुझे क्षमा करें।' यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू आ गये और वह फुफकार मारकर रोने लगी। भाभीको रोते देखकर देवरने उसके चरण पकड़ लिये और भाईसे घर चलनेका अनुरोध किया। वकील साहबके मनमें द्वेष तो था ही नहीं। वे हँसने लगे और पत्नीके साथ घर लौट आये। तबसे उनका परिवार सुखी हो गया।

इस घटनाके लिखनेसे मेरा तात्पर्य इतना ही है कि आप भी अपने छोटे भाईके साथ प्रेमका बर्ताव करें। उसका दोष भी है तो उसे ठीक करनेका उपाय प्रेम तथा स्नेह ही है, न कि तिरस्कार। और यदि आप ईमान बिगाड़कर उसका हक रख लेंगे और उसे निकाल देंगे, तब तो बड़ा पाप करेंगे। भगवान् श्रीरामचन्द्र और परम भाग्यवान् भरतजीके आदर्शको सामने रखिये। यहाँकी कोई वस्तु साथ नहीं जाती, सब कुछ यहीं रह जायगा। मनुष्य जो बुरी नीयतसे कुछ बुरा काम कर बैठेगा, वही उसके साथ जायगा और उसका दुष्परिणाम भी उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। आप प्रेम कीजिये, आपका अपना ही भाई है। उसके अपराधोंको क्षमा कीजिये और उसे हृदयसे लगाइये। आपका बर्ताव निष्कपट, प्रेमपूर्ण और सुन्दर होगा तो उसका हृदय अवश्य पलटेगा, वह आपके अनुकूल हो जायगा। और यदि न भी हुआ तो भी आपकी तो इसमें कोई हानि होगी ही नहीं। भगवान्‌के दरबारमें आप आदरके पात्र होंगे, जो जीवके लिये सबसे बड़ा लाभ है। विशेष भगवत्कृपा।

(१०)

मित्र और सुहृद्‌के लक्षण

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र मिला। मित्र और सुहृद्‌का भेद पूछा। इसके उत्तरमें निवेदन है कि मित्र देने-लेनेमें संकोच न करनेवाला हितैषी होता है और सुहृद् प्रत्युपकारकी कोई भावना न रखकर हित करता है। मित्रकी बड़ी सुन्दर व्याख्या श्रीतुलसीदासजी महाराजने की है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

× × ×

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

आज ऐसे मित्र कहाँ हैं? जो केवल अपने स्वार्थ-साधनके लिये ही किसीके साथ मित्रताका नाता जोड़ना चाहते हैं, या जो सभाओंमें कहनेभरको किसीको 'मित्र' नामसे सम्बोधित करते हुए अंदर-ही-अंदर उसका अहित सोचते रहते हैं। ऐसे मित्रोंसे तो बचना ही चाहिये। सुहृद्‌के सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—

परेषामनपेक्ष्यैव कृतप्रतिकृतं हि यः।
प्रवर्तते हितायैव स सुहृत् प्रोच्यते बुधैः॥

(स्क० मा० कुमा० १०।२६)

'प्रत्युपकारकी आशा न रखकर जो दूसरेके हितके लिये प्रवृत्त होता है, बुद्धिमान् पुरुष उसको सुहृद् कहा करते हैं।' हम सभीको मित्र और सुहृद् बननेकी चेष्टा करनी चाहिये। हम किसीके मित्र या सुहृद् होंगे तो हमें भी मित्र-सुहृद् मिल जायँगे। सच्चे सुहृद् तो श्रीभगवान् ही हैं, जिन्हें सुहृद् जान लेनेपर ही शान्ति मिल जाती है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(११)

काल करै सो आज कर

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिल गया था । उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें । आपके विचार बहुत ही उत्तम हैं । आपने जो योजना सोची है, वह भी बढ़िया है; परन्तु आप समर्थ होते हुए भी बारह सालसे केवल सोच ही रहे हैं, कुछ कर नहीं रहे हैं, यह ठीक नहीं है । आप अनुकूल समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, पर कौन कह सकता है कि वैसा अनुकूल समय आयेगा या नहीं । या उसके आनेके पहले ही आप संसारसे चले नहीं जायँगे । भजन, दान और धर्मसंग्रह आदि कार्योंमें जरा भी विलम्ब नहीं करना चाहिये । पाप-प्रवृत्तिमें चिरकारिता, दीर्घसूत्रीपन होना बहुत अच्छा है; परंतु सत्कार्यमें तो यह बड़ा भारी विघ्न है । महाभारतमें कहा है—

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥

'कल करना हो उसे आज करो, दिनके पिछले पहरमें करना हो उसे पहले पहरमें कर लो; तुम्हारा काम हुआ या नहीं, मृत्यु इसकी बाट नहीं देखेगी ।'

इसीका अनुवाद कबीरजीके इस दोहेमें है—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब ।
पलमें परलै होयगी फेरि करैगा कब ॥

मेरे एक आदरणीय मित्र थे, बड़े आदमी थे, अच्छा हृदय था । उन्होंने कई योजनाएँ सोच रक्खी थीं । योजनाएँ सभी लोकोपकारिणी और सुन्दर थीं; परंतु वे उन योजनाओंको सफल नहीं बना सके, पहले ही उनका देहावसान हो गया और सारी बातें मन-की-मनमें ही रह गयीं ।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

'शरीर सदा नहीं रहते, न वैभव ही सदा रहता है और मृत्यु सदा समीप है, यह समझकर धर्मका संग्रह करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ।'

पता नहीं, कल मन बदल जाय, स्थिति बदल जाय, साधन न रहें, इसलिये आपको अपनी योजना कार्य-रूपमें परिणत करनेके लिये जल्दी करनी चाहिये । यह मेरा आपसे बलपूर्वक अनुरोध है ।

अब रही भजनकी बात, सो वह तो अत्यन्त ही आवश्यक है । मुझे पता नहीं आपकी क्या उम्र है । परंतु भजन तो लड़कपनसे ही करना आवश्यक है । कोई आज मरे या सौ वर्षके बाद, भजन सदा बनता रहे । पता नहीं, कब मौत आ जाय । भजन बिना ही यदि शरीर छूट गया तो इससे बढ़कर और कोई हानि नहीं होगी । मनुष्य-जन्म ही व्यर्थ हो जायगा । जो लोग कहते या मानते हैं कि अभी तो काम करने या भोग भोगनेका समय है, बड़ी उम्र होगी तब भजन करेंगे, वे वस्तुतः बड़े भ्रममें हैं । एक भ्रमर था । वह कमल-कोषमें जा बैठा और मधुपान करने लगा । सन्ध्या होने आयी । कमल सिकुड़ने लगा । उसने सोचा—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं वितर्कयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

'रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्यदेव उदय होंगे, तब कमलकी कलियाँ खिल जायँगी । (उस समय मैं निकल जाऊँगा, इतने रात्रिभर आनन्दसे मकरन्द रसका पान करता रहूँ) इस प्रकार कमल-कोषमें बैठा हुआ भ्रमर विचार कर ही रहा था कि हाय हाय ! हाथीने आकर कमलको उखाड़ फेंका (और दाँतों-तले दबाकर भ्रमरके सहित ही उसे पीस डाला) ।'

यही बात हमारे लिये है, पता नहीं, काल-कुंजर कब आकर हमें पीस डालेगा । इसलिये मेरा आपसे यही अनुरोध है कि आप अपनी योजनाको कार्यान्वित करनेमें जरा भी विलम्ब न करें और साथ ही मानव-जीवनके सर्वप्रथम और सर्वप्रधान कर्तव्य भगवद्भजनमें तो तत्परताके साथ लग ही जायँ । ऐसा न कर सके तो संभव है औरोंकी भाँति आपको भी पछताना ही पड़े । शेष भगवत्कृपा ।

(१२)

पुराणोंकी वास्तविकता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । हमारे पुराण-इतिहासोंके बारेमें आज-कलके पढ़े-लिखे लोगोंकी जो धारणा है, उससे मेरा मत नहीं मिलता । मैं तो इनमें लिखी एक-एक बातको सच मानता हूँ । सर्वत्यागी ऋषि-मुनियोंको कौन सा स्वार्थ था जो वे किसी उद्देश्य-विशेषको लेकर पक्षपातपूर्ण या असत्य बातें लिखते । इसीसे हमारे पुराणेतिहासोंमें कुछ ऐसी बात भी आ गयी हैं, जो

निन्दनीय हैं; परंतु सच्चा इतिहास लिखनेवाले महापुरुष अपनी निन्दाके भयसे निन्दनीय बातको छिपायें क्यों। उन्हें किसीसे प्रशंसापत्र तो लेना ही नहीं है। यह सत्य है कि हमारे शास्त्रीय वचनोंके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों अर्थ होते हैं; परंतु उनका आध्यात्मिक अर्थ करके उन्हें कल्पना बता देना नितान्त अन्याय है। हमारे भारतीय विद्वान् भी दूसरोंका चश्मा चढ़ा लेनेके कारण पुराणवर्णित प्रसङ्गोंका कल्पित अर्थ करते हैं और उसीमें गौरव मानते हैं। इसका कारण है विचित्र रचना करनेवाली प्रकृतिको और लोकोत्तर महापुरुषोंके विविध विचित्र चरित्रोंको न समझना एवं विदेशी विद्वानोंके प्रभावमें पड़कर उन्हें कल्पना मान लेना। आपने जो कल्पना की है, वह भी ऐसी ही है। जबतक हवाईजहाज नहीं बने थे, तबतक हम पुराणोक्त विमानोंकी चर्चाको लोक-कल्पना ही मानते थे। मेरी समझसे तो पुराणेतिहासोंपर विश्वास करके श्रद्धापूर्ण दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंके द्वारा आचरित साधनोंका आश्रय लेकर पुराणेतिहासोंके तथ्योंका अनुसन्धान करना उचित है, तभी उनके वास्तविक रहस्यको हम जान सकेंगे। निरे कौतूहलसे, संदिग्ध हृदयसे या उनके मिथ्या कल्पित होनेके दृढ़ निश्चयको लेकर जो अनुसन्धान-अन्वेषण होगा, वह तो सत्यके स्थानपर मिथ्याको ही प्रतिष्ठित करेगा। यह मेरा नम्र मत है। मैं यह मानता हूँ कि पुराणोंमें विद्वानोंने कुछ घटाया-बढ़ाया है पर उससे पुराणोंकी वास्तविकतापर कोई सन्देह नहीं होता। आप विद्वान् हैं, आपको जो उचित तथा सत्य जान पड़े, उसीके अनुसार करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(१३)

कठोर व्रत है पर उसीको निभाना है

बहिन! मैं तुम्हें क्या लिखूँ। तुम्हारी स्थितिकी स्मृति ही मेरी आँखोंसे अश्रुधारा बहा देती है। यह मेरा चाहे मोह हो, पर है तो सही ही। पर असल बात यह है कि भगवान्‌ने अयाचितरूपसे तुम्हें जो कुछ दिया है, उसे सिर चढ़ाकर स्वीकार करना चाहिये और उसीमें मङ्गल समझना चाहिये। न स्वीकार करोगी, न अपनाओगी, तो भी वह हटेगा तो नहीं। तब फिर, उसे सन्तोषके साथ ग्रहण करनेमें ही बुद्धिमानी है। और उसीमें यथार्थ लाभ भी है। माना, यह महान् दुःख है, भयानक विपत्ति है; परंतु धर्मप्राण व्यक्तियोंकी कसौटी तो विपत्ति और दुःख ही हैं। सोना ही आगमें तपाया जाता है। यह आग है। पर यदि यही आग तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरके विषयानुरागको जलाकर तुम्हारे हृदयको विषय-वासना-शून्य बना दे सके तो कितने मङ्गलकी बात है। संखियेको परिशुद्ध करके उसका यथाविधि सेवन करनेमें ही बुद्धिमानी है। जो स्थिति मिल गयी है, वह तो मिल ही गयी। अब उस स्थितिको प्रतिकूल मानकर रोना, जीवनको तमसाच्छन्न बना डालना और मानवोचित कर्तव्योंसे च्युत हो जाना तो बुद्धिमानी नहीं है; बुद्धिमानी तो उस स्थितिको अनुकूल बनाकर उसे मानव-जन्मकी सफलताका साधन बनानेमें ही है।

तुम्हारे कुछ हितैषी तुम्हें जो दूसरा मार्ग दिखला रहे हैं और उससे तुम्हें बड़ी मनोवेदना हो रही है—सो तुम्हारी मनोवेदना तो उचित ही है। जिसकी वंशपरम्परामें सदा ही उस दूसरे मार्गको पाप समझा गया हो, जिसके संस्कारमें ऐसी बातका सुनना भी अपराध माना गया हो, उसको अपने ही लिये ऐसी बात सुनकर दुःख तो होगा ही। मैं तो तुम्हारे ही मतका हूँ; यह तुम जानती ही हो। जो सज्जन दूसरे मार्गका निर्देश कर रहे हैं, वे भूलमें हैं और वे सुखके भ्रमसे भारी दुःखके बीज बो रहे हैं। तथापि उनकी हितैषिताकी भावनामें तुम्हें जरा भी सन्देह नहीं करना चाहिये। वे तुम्हारे दुःखसे सचमुच दुखी हैं; वे तुम्हें सुखी देखना चाहते थे और चाहते हैं। पर उनकी दृष्टि दूसरी है। वे जहाँतक देख पाते हैं, वहाँतक उन्हें उनके मतके समर्थक कारण ही मिलते हैं। आज हमारे समाजकी जो दुर्दशा है, उसे देखकर उनका ऐसा मत हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इसलिये उनके मतका अनुसरण न करते हुए भी उनके आत्मीयभाव तथा सद्भावका तो आदर ही करना चाहिये। पर यदि तुम्हारा अपना व्रत दृढ़ है, तुम प्रत्येक परिस्थितिका सामना करनेके लिये तैयार हो तो तुम्हें कोई डिगा नहीं सकता। भगवान् तुम्हारे शुभ सङ्कल्पमें सहायक होंगे। अवश्य ही तुम्हारा व्रत है बड़ा कठोर और सर्वथा तपोमय। आजके युगमें तुम कुछ देवियाँ ही ऐसी हो जो संसारमें तप, व्रत और त्यागकी प्रभामयी ज्वाला बनकर सर्वत्र प्रकाश फैला रही हो। तुम्हें धन्य है और धन्य है तुम्हारे असिधारा व्रतको! मेरा तो मस्तक तुम सतियोंके चरणोंमें सदा ही नत है। भगवान् तुम्हारी सहायता करें। शेष भगवत्कृपा।

(१४)

ईश्वर नित्यसिद्ध है

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आप लिखते हैं कि 'ईश्वर है, यह सिद्ध कीजिये।'

इसके उत्तरमें निवेदन है कि ईश्वर नित्य सिद्ध है, वह हमारे, आपके साधन करनेसे सिद्ध होगा, ऐसी बात भी मनमें नहीं लानी चाहिये । आप हैं, मैं हूँ—क्या इस सत्यके अनुभवको भी सिद्ध करनेकी आवश्यकता है ? यदि हम और आप सत्य हैं तो हमलोग जिसके अंश हैं, वह परमात्मा असत्य या असिद्ध कैसे हो सकता है ? जबतक जलकी एक बूँद भी सामने है तबतक जलनिधिको असत्य कैसे कहा जा सकता है ? थोड़ी देरके लिये अंशविभागको कोई असत्य भी मान ले, पर अंशी तो असत्य हो ही नहीं सकता । समुद्रका जल-बिन्दु क्षणिक है, वह वायुके साथ उठकर फिर समुद्रमें ही एकीभूत हो जाता है । इसी प्रकार अनेक जीवविभाग व्यावहारिक सत्य है । इस अनेकताका लय एक परमात्म-सत्तामें ही होता है । अतः अंशी परमात्मा ही नित्य सत्य है । घट सत्य है तो घटनिर्माता कुम्भकार असत्य कैसे होगा ? जगत् जब प्रत्यक्ष है तब इसके स्रष्टाका अभाव कैसे सम्भव है ? कार्य हो और कारण न हो, यह कदापि सम्भव नहीं है । इस सम्बन्धमें आपको विशेष जानना हो तो 'कल्याण'का 'ईश्वराङ्क' कहींसे प्राप्त करके उसे ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये ।

२. ईश्वर आनन्दमय हैं, वे लीलारस-विस्तारके लिये ही सृष्टि-रचना करते हैं । इस सृष्टिसे उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है । अनादि कालसे विलग हुए जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही उनके द्वारा सृष्टिलीलाका सूत्रपात हुआ है ।

३. दुःख पूर्वकृत पापोंका फल है । भजनका फल तो सुख है, प्रभुकी प्राप्ति है । वह इस समय भजन करनेवालेको उसके भावानुसार आगे मिलेगा । एक आदमीने किसीकी हत्या कर दी और फिर वह राम-नाम जपने लगा । कुछ समय बाद उसे फाँसीकी सजा होती है । यह सजा राम-नाम-जपका फल नहीं है, यह तो हत्याका दण्ड है । भजन और नाम-जपका परिणाम तो सदा मङ्गलमय और सुखस्वरूप ही है । शेष भगवत्कृपा ।

उत्कण्ठा

(श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्यालकृत बँगला पद्यके आधारपर)

क्यों न तुझको देख पाता ।
वास तेरा सब कहीं, तब क्यों नयन-पथमें न आता ॥
ढूँढ़ता फिरता सदासे;
जल-थलोंमें व्यग्रतासे ।
पर सिवा तेरे, विविध अपदार्थ नयनोंमें समाता ॥
यह भुजा तुझको जकड़ने,
है उठी रहती पकड़ने ।
कान तव वचनामृतोंके पान हित नित है लुभाता ॥
भूल होती क्या, न जानूँ,
क्यों पकड़ प्रियको न पाऊँ ।
पंख होते तो तुरत उड़कर प्रभूके पास जाता ॥
वासना इतनी लगी है;
प्यास-व्याकुलता जगी है ।
पा सकूँगा हा ! न दर्शन क्या कभी हे प्राणदाता ॥
अब न तुझको पा सका मैं;
व्यर्थ श्रम करके थका मैं ।
चाहता हूँ भूल जाऊँ, पर नहीं वह भी सुहाता ॥

—भुवनेश

हरि-गुण गायें

आओ मिलकर हरि-गुण गायें ।
मानव-जीवन सफल बनायें ॥
नन्द-यशोदा अजिर-बिहारी, श्रीमधुसूदन श्रीवनवारी ।
राधावल्लभ कुञ्जविहारी, जनहितकारी भव-भयहारी ॥
मदन मनोहर श्याम रिझायें ।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें ॥
प्रेमसुधा बरसानेवाला, परम पुनीत बनानेवाला ।
मल मन-मुकुर नसानेवाला, प्रभुका रूप दिखानेवाला ॥
नयन-सुधा-रस जल बरसायें ।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें ॥
प्रेमनगरकी रीति निराली, सूखा पड़े, उगे हरियाली ।
बसता है घर होकर खाली, विरह-मिलनकी अद्भुत ताली ॥
नयन मूँद लो पट खुल जायें ।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें ॥
रोम-रोम राधाके मोहन, मोहनकी राधा जीवन-धन ।
बेकल राधा बेकल मोहन, राधा-मोहन रूप निरंजन ॥
युगल-छटापर बलि-बलि जायें ।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें ॥

—वैद्य रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल

भरत-मिलाप

(र०—श्रीरामभरोसे गुप्तजी 'राकेश' साहित्यरत्न)

गद्य-गीत

ऐं।
रह गया एक दिन राघवके आनेका !
जन-जनके हृदयकी विरहानल बुझानेका !!
ऐसा सोच राम-बन्धु
स्वप्नसे जगते-से !
स्वयंको ठगते-से !!
हो गये संज्ञा-हीन
कुछ क्षण बाद झोंका आया मलयानिलका
लौट आई चेतना फिर कहने लगे भरत यों
अहह ! धन्य हैं सौमित्र-बंधु
वैभवका मोह त्याग !
नारीका प्रणय त्याग !!
चल दिये मधुप बन
राम-पदारविन्द-मकरन्द पान करने
मैं ही एकमात्र
नीच हूँ, नराधम हूँ, नारकी हूँ
कुठार हूँ रघुकुलके वृक्षका
परंतु नहीं, नहीं,
फिर भी मैं भारत हूँ !
भक्त हूँ शरणागत हूँ !!
किया था जयंतने यद्यपि अक्षम्य दोष !
आया शरणागत हुए राम गत-रोष !!
दिया था अभय-दान !
दिया था क्षमा-दान !!
होती प्रतीति दृढ़ आयेंगे अवश्य राम
और यदि
अवधि बीत जानेपर !
राम के न आनेपर !!
रहें प्राण फिर भी तो कौन अधम मुझ सम
करते यों संकल्प-विकल्प !
बीतता युग-सम काल अल्प !!
व्यथाके सागरमें रहे डूबते उतराते भरत !!!
× × × ×

इतनेमें आ गये मारुत-सुत
सुधा-सम कहने लगे वचन यों
जिसकी अहर्निशि चिन्तामें बने दीन !
करते स्मरण जिसे हो गये महान क्षीण !!
वे ही रघुकुल-पतङ्ग
विजित कर दस-सिर !
दूर कर गहन तिमिर !!
आते हैं इसी ओर
कौन कौन ?
सबरीके प्राण राम !
विभीषणके त्राण राम !!
उदारताके स्रोत राम !
भवार्णवके पोत राम !!
मेरे जीवन-मरुथलके शीतल-जलद—राम
क्या आते हैं इसी ओर ?
हुए भरत प्रमुदित-पुनीत संवाद सुन
यथा रंक पाई हो अतुल राशि वैभवकी।
शुष्कप्राय खेतीपर पड़ गया हो अम्बु ज्यों
तत्क्षण
आ गये सानुज-राम-वैदेही
गिर पड़े भरत राम-पद-पंकजमें
बहने लगे प्रेमाश्रु राघवके नयनोंसे
उस समय
कोकिला कूक उठी
सहस दल खिल गये, मधुपावलि गूँज उठी
वीणापाणि मूक हुई।
सहस्र फन स्तब्ध हुए !!
कवि कर पाया नहीं
व्यक्त उस क्षणको
जब—
मिटता था अखिल चराचरका घोर ताप !
गूँज उठा नभमें धन्य धन्य भरत-मिलाप !!
× × × ×

आनापानसतिका अभ्यास

(लेखक--पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम० ए०)

'आनापानसति' के अभ्यासकी बौद्ध-धर्मग्रन्थोंमें बड़ी महत्ता दिखलायी गयी है। आनापानसति एक प्रकारसे प्राणायामके समान है, पर वास्तवमें प्राणायामके अभ्याससे भिन्न है। आनापानसति सम्यक् स्मृति, जो बुद्ध भगवान्‌का अष्टाङ्गी मार्ग है, का एक अङ्ग है। यह 'प्राणापानस्मृति' का पाली रूपान्तर है। प्राणायामका मुख्य उद्देश्य शारीरिक स्थितिको सुधारना है। उससे मनमें भी चैतन्यता आती है। आनापानसतिका मुख्य उद्देश्य मानसिक स्थितिको सुधारना है। यह मनको स्थिर करनेका सुगम उपाय है। आनापानसतिमें श्वासके आने और जानेपर मनको लगा दिया जाता है। इसमें किसी प्रकारका और प्रयत्न नहीं किया जाता। सहज श्वास-प्रश्वासपर मनको लगाना--यही आनापानस्मृतिका अभ्यास है।

आनापानस्मृतिसे चेतन मनमें चलनेकी क्रियाओंका निरोध हो जाता है। साधारणतः हमारे मनमें अनेक प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प उठते रहते हैं। इनके कारण हमारा मन सदा अस्थिर अवस्थामें रहता है। कभी-कभी मनमें इतने दुःखके विचार आते हैं कि उनके मारे हमें चैन ही नहीं मिलती। इन विचारोंका निवारण आनापानसतिके अभ्याससे हो जाता है। बुद्ध भगवान्‌ने तीन प्रकारके वितर्कोंके निवारणके लिये आनापानसतिका अभ्यास बताया है। ये वितर्क काम-वितर्क, व्यापाद-वितर्क और विहिंसा-वितर्क हैं। काम-वितर्क—अनेक प्रकारकी भोगेच्छाओंके विचारोंका मनमें आना है, व्यापाद-वितर्क दूसरोंके प्रति कृत्य और उनके प्रतिकारके विषयमें विचार आना है, और विहिंसा-वितर्क शत्रु-भावनाके विचारोंका मनमें उठना है। इन सभी प्रकारके वितर्कोंका निरोध आनापानसतिसे हो जाता है।

आनापानसतिका अभ्यास पहले-पहले बड़ा कठिन होता है; क्योंकि मनुष्यके कलुषित विचार उसके मनको किसी भी वस्तुपर स्थिर नहीं रहने देते। जिस व्यक्तिके मानसिक व्यापार जितने अधिक होते हैं, उसके लिये इस अभ्यासका करना उतना ही कठिन होता है। अभिमानकी वृद्धिकी स्थितिमें भी मन एकाग्र नहीं होता।

आनापानसति अहंभावका विनाशक है। जब चेतनाको किसी एक व्यापारपर लगा दिया जाता है तब मनुष्यको अपने आपका भी ज्ञान नहीं रहता। अहंभावके विनाशकी अवस्थामें मनमें अपूर्व शक्ति आ जाती है। वितर्कोंका निरोध भी मानसिक शक्तिको कल्पनातीत परिमाणमें बढ़ा देता है। वितर्कोंसे सदा हमारी शक्ति व्यर्थ खर्च होती रहती है। यदि इस शक्तिका अपव्यय न हो तो हमें सङ्कल्पसिद्धता प्राप्त हो जाय।

आनापानसतिके अभ्याससे मनुष्यको नींद आ जाती है। अनिद्राकी बीमारीको मारनेका भी यह एक अचूक साधन है। यदि आनापानसतिके कारण नींद न आवे तो इस अभ्याससे उसी प्रकारकी मानसिक शान्तिका अनुभव होता है जैसा कि निद्रासे होता है। वितर्क मानसिक थकावट उत्पन्न करते हैं। आनापानसतिसे वितर्कका निरोध होता है, अतएव मानसिक शक्तिका व्यय भी नहीं होता। निद्रा भी इनका निरोध करती है। अतएव जो लाभ निद्रासे होता है वह भी आनापानसतिके अभ्याससे हो जाता है।

आनापानसतिसे अनेक प्रकारके मानसिक रोगोंका अन्त हो जाता है। अकारण भय और चिन्ताएँ इस अभ्याससे नष्ट हो जाती हैं। आनापानसतिका अभ्यास करते हुए यदि किसी मानसिक रोगीको नींद आ जाय तो उसका मानसिक रोग ही नष्ट हो जाय। किसी भी विचारको लेकर अचेतन अवस्थामें पहुँचना स्वास्थ्यलाभके लिये उपयोगी होता है। मनुष्यके आत्मनिर्देशके फलित होनेके लिये विपरीत भावनाओंका बंद होना आवश्यक है। विपरीत भावनाएँ आनापानसतिके अभ्याससे बंद हो जाती हैं। इसलिये कूये महाशय रोगियोंके स्वास्थ्य-लाभके लिये उन्हें सम्मोहित करके निर्देश दिया करते थे। दूसरेके द्वारा निर्देश पानेके लिये जिस प्रकार सम्मोहित होनेकी आवश्यकता होती है, आत्मनिर्देशके लिये भी उसी प्रकार चेतनाके निराकरणकी आवश्यकता होती है। आनापानसतिके अभ्याससे चेतनाकी धाराका निराकरण होता है और मनुष्य एक प्रकारकी आत्मसम्मोहनकी अवस्थामें आ जाता है।

आनापानसतिके अभ्यासके द्वारा शारीरिक रोग भी नष्ट किये जा सकते हैं। बहुत-से शारीरिक रोग उनके साथ चलनेवाले विचारोंके कारण भयङ्कर हो जाते हैं। रोगके विषयमें चिन्ता करना भी शारीरिक रोगको भीषण बना देता है। यदि हम अपने रोगके विषयमें सोचना बंद कर दें और उसके प्रति उदासीन हो जायँ तो वह देरतक न ठहरे। रोगके बारेमें सोचना उसकी आयुको और बलको बढ़ाना है। आनापानसतिसे सभी प्रकारके विचार बंद हो जाते हैं। रोगके

विचारोंका भी निरोध इस प्रकार हो जाता है। इससे रोग निर्बल हो जाता है और वह देरतक नहीं ठहर पाता।

आनापानसतिके अभ्यासके पूर्व अथवा उसके साथ-साथ 'शिव' भाव अर्थात् सभी घटनाएँ कल्याणकारी हैं, इस विचारका अभ्यास करना उचित है, इससे एक ओर आनापानसतिका अभ्यास दृढ़ हो जाता है और दूसरी ओर मानसिक शान्ति उपलब्ध होती है। इससे बहुत-से शारीरिक और मानसिक रोग अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।

किसी प्रकारकी थकावटके पश्चात् थोड़ी देर आनापानसतिका अभ्यास किया जाय तो वह थकावटको दूर कर देता है। इस प्रकारके अभ्यासके साथ-साथ शिथिलीकरणका अभ्यास करना उचित है। शिथिलीकरणमें अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके विषयमें विचार करते हुए उन्हें शिथिल किया जाता है। यह एक प्रकारका आत्मनिर्देशका अभ्यास है।

किसी प्रकारके भयङ्कर सङ्कटमें पड़ जानेकी अवस्थामें आनापानसतिका अभ्यास बड़ा सहायक होता है। इससे मनुष्यमें नया आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई जटिल समस्याको सुलझानेके पूर्व आनापानसतिका अभ्यास किया जाय तो वह समस्या सरलतासे हल हो जाती है। मनकी कमजोरीकी अवस्थामें मनुष्यके मनमें अकल्याणकारी विचार और अभद्र कल्पनाएँ ही अधिक आती हैं। इनपर नियन्त्रण करना कठिन होता है। जो स्थिति रोगकी अवस्थामें मनकी हो जाती है, वही स्थिति अन्य सङ्कटकालमें भी हो जाती है, ऐसी स्थितिमें सभी प्रकारके विचारोंको स्थगित कर देनेमें ही मनुष्यका कल्याण है।

स्वस्थ अवस्था प्राप्त होनेपर जो विचार आते हैं, वे कल्याणकारी होते हैं। उनके अनुसार काम करनेसे मनुष्यको सफलता मिलती है। अतएव सङ्कटकालमें, रोगकी अवस्थामें आनापानसतिका अभ्यास बहुत ही उपयोगी होता है।*

मीरा और मोहन

(रचयिता—काव्यरत्न 'प्रेमी' विशारद भीण्डर)

(१)

मीराके मन्दिर आवते मोहन, मोहन-मन्दिर जावती मीरा।
मीराका रीझता मोहनसे मन, मोहनको सु रिझावती मीरा ॥
मीराको थे उर लावते मोहन, मोहनको उर लावती मीरा।
मीराके थे मन भावते मोहन, मोहनके मन भावती मीरा ॥

(२)

मोहनकी बजती मुरली पग-घूँघरू थी घमकावती मीरा।
देखने दौड़ते मोहन थे वह मंजुल नाच दिखावती मीरा ॥
कान दे मोहन थे सुनते वह जो कुछ बावरी गावती मीरा।
जाते समा कभी मीरामें मोहन, मोहनमें थी समावती मीरा ॥

(३)

मीराको मोहन ही थे कबूल औ मोहनको भी कबूल थी मीरा।
आते उड़े हुए तूलसे मोहन, जाती उड़ी हुई तूल थी मीरा ॥
सौरभ-रंजित मोहन थे, चरणों पै चढ़ी वह फूल थी मीरा।
मीरा बिना किसे मोहते मोहन, मोहनके बिन धूल थी मीरा ॥

* श्वास-प्रश्वासकी गतिको मनसे देखते रहनेके साथ ही यदि उस गतिमें होनेवाली ध्वनिके साथ इष्ट नाम या मन्त्र जोड़ दिया जाय यानी आने और जानेवाला श्वास अमुक ॐ, राम, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, नमः शिवाय आदि किसी भी नामकी ध्वनि कर रहा है ऐसा ध्वनिमें चिन्तन किया जाय तो उससे बहुत लाभ होता है। —सम्पादक

धूरिभरे नँदलाल

(१)

हारन की हलकैं हियहार सुधा छलकै किलकारिन शाला ।
डारत लोक विलोकनि चेटक दै टक हेरि रहीं सुरवाला ॥
ठौर ठगैं शत काम गुमान जु दौरि चलैं घुटुवान गुपाला ।
मूरि सजीवनि मेलत जीवन खेलत धूरिभरे नँदलाला ॥

(२)

आवैं न मातु यशोदाकी गोद विनोदनि पूरि रही अँगनाई ।
ज्यों घन बीच हँसै चपला त्यों लला किलकारि भरैं बलकाई ॥
चित्त चुरी निचुरी-सी परै बड़री अँखियान चितौनि निकाई ।
आनन द्वै दुधरी दतियाँ तुतरी बतियान घुरी मधुराई ॥

(३)

अंजन अंजित खंजन नैन जु मैनहुके मद गंजनवारे ।
भौंह कमान अनोखिये वान सदा मुखपै मुसुकानि-सि धारे ॥
गोरज गोरे सुभाल रमैं विरमैं वनमाल गरे सुघरारे ।
वै घुघरारी घनी लटके कच हैं मन कौं अटकावन हारे ॥

(४)

सीस लही कुलही उलही अति ही छवि छै सुरचाप घनेरी ।
देखि जकै मनि मंडित भाल महा मतिहू विधि पंडित केरी ॥
लै सिगरे जगकी सुषुमा अधरान खरी अरुना गई फेरी ।
हेरी न जात जु वै मुख पै छवि खेलि रही है अँधेरी उजेरी ॥

(५)

वाजि रहीं पग पैंजनियाँ कटि किंकिनी राजत श्याम सलोना ।
खोवत आपनपौ धुनिमें जग जोवत जात है चित्रलिखोना ॥
कानन लौं करि जात पयान बड़े दृग चंचल खंजन छौना ।
बाल दिठौनन पूरित भाल जितै हँसि हेरत फेरत टोना ॥

—श्रीहरीश साहित्यालङ्कार

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष २४

सं० २००६-२००७

सन् १९५०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७॥)
विदेशोंके लिये १०) (१५ शिलिङ्ग) } प्रति संख्या ।≡)

क—

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याणके चौबीसवें वर्षकी लेख-सूची

कविता

संकलित

चित्र-सूची

सुनहरे

तिरंगे

इकरंगे

)॥
॥)

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सचित्र, सस्ती धार्मिक पुस्तकें

गीता–तत्त्वविवेचनी, सचित्र, पृष्ठ ६८४, सजिल्द ... ४)
गीता–[मझोली] पदच्छेद, अन्वयसहित साधारण भाषाटीका सचित्र, पृष्ठ ४६८, ॥≶) सजिल्द ... १)
गीता–मोटे अक्षरवाली सटीक, सचित्र, पृष्ठ ५८४, ॥)स० ॥।=)
गीता–मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ २१६, अजिल्द ... ।–)
गीता–केवल भाषा, सचित्र, पृष्ठ १९२, अजिल्द ... ।)
गीता–[छोटी] भाषाटीका, पृष्ठ ३५२, अजिल्द ... =)॥
गीता–ताबीजी (सजिल्द) मूलमात्र ... =)
गीता–विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८ ... –)॥
गीता–मूल, महीन अक्षर, पृष्ठ ६४ ...)॥
गीता-डायरी सन् १९५१ अजिल्द ॥=) सजिल्द ... ॥।)
प्रश्नोपनिषद्–सानुवाद, पृष्ठ १२८ ... ।≶)
ऐतरेयोपनिषद्–सानुवाद, पृष्ठ १०४ ... ।=)
श्रीरामचरितमानस–बड़ी, सटीक मोटा टाइप पृष्ठ १२००, स०७॥)
श्रीरामचरितमानस–[मझली] मूल, पृष्ठ ६०८ ... २)
श्रीरामचरितमानस (मूल, गुटका) सजिल्द ... ॥।)
मानस-रहस्य—१।) सजिल्द ... १॥=)
मानस-शंका-समाधान–सचित्र, पृष्ठ १८२ ... ॥)
श्रीमद्भागवत महापुराण—(संस्कृतमात्र) गुटका सजिल्द ... ३)
विनय-पत्रिका–सटीक, पृष्ठ ४७२, १), सजिल्द ... १।=)
गीतावली–सटीक, पृष्ठ ४४४, १) सजिल्द ... १।=)
कवितावली–सटीक, सचित्र, पृष्ठ २२४ ... ॥–)
दोहावली–सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १९६ ... ॥)
तत्त्व-चिन्तामणि(भाग १) पृष्ठ ३५२, ॥=), सजिल्द ... १)
,, (भाग २) पृष्ठ ५९२, ॥।=) सजिल्द ... १।)
,, (भाग ३) पृष्ठ ४२४, ॥≶) सजिल्द ... १–)
,, (भाग ४) पृष्ठ ५२८, ॥।–), सजिल्द ... १≶)
,, (भाग ५) पृष्ठ ४९६, ॥।–) सजिल्द ... १≶)
,, (भाग ६) पृष्ठ ४४८, १) सजिल्द ... १।=)
,, (भाग ७) पृष्ठ ५१२, १=) सजिल्द ... १॥)
तत्त्व-चिन्तामणि (भाग ४)–गुटका, पृष्ठ ६२४, ।=) सजिल्द ॥=)
ढाई हजार अनमोल बोल (संत-वाणी)—पृष्ठ ३२४ ... ॥=)
पातञ्जलयोगदर्शन—(हिन्दीटीकासहित) ॥।) सजिल्द ... १)
सुखी जीवन–पृष्ठ २१० ... ॥)
भगवच्चर्चा भाग १ (तुलसीदल)—॥) सजिल्द ... ॥।=)
नैवेद्य–सचित्र, पृष्ठ २६२ ... ॥)
उपनिषदोंके चौदह रत्न ... ।=)
लोक-परलोकका सुधार (भाग १)–पृष्ठ २२० ... ।=)
[illegible]-परलोकका सुधार (भाग २)–पृष्ठ २४४ ... ।=)
१–[illegible]प्रथमा-परीक्षा-पाठ्यपुस्तक–पृष्ठ १५६ ... ।=)
२–अज[illegible]कुछ आदर्श पात्र—पृष्ठ १६८ ... ।=)
और सुन[illegible]

भक्त नरसी मेहता ... ।=)
प्रेम-दर्शन–सचित्र, पृष्ठ १८८ ... ।–)
भवरोगकी रामबाण दवा–पृष्ठ १७२ ... ।–)
भक्त-बालक–सचित्र, पृष्ठ ७२ ... ।–)
भक्त-नारी–सचित्र, पृष्ठ ६८ ... ।–)
भक्त-पञ्चरत्न–सचित्र, पृष्ठ ८८ ... ।–)
आदर्श भक्त–सचित्र, पृष्ठ ९६ ... ।–)
भक्त-चन्द्रिका–सचित्र, पृष्ठ ८८ ... ।–)
भक्त-सप्तरत्न–सचित्र, पृष्ठ ८६ ... ।–)
भक्त-कुसुम–सचित्र, पृष्ठ ८४ ... ।–)
प्रेमी भक्त–सचित्र, पृष्ठ ८८ ... ।–)
प्राचीन भक्त–सचित्र, पृष्ठ १५२ ... ॥)
भक्त-सौरभ–सचित्र, पृष्ठ ११० ... ।–)
भक्त-सरोज–सचित्र, पृष्ठ १०४ ... ।=)
भक्त-सुमन–सचित्र, पृष्ठ ११२ ... ।=)
भक्तराज हनुमान्–सचित्र, पृष्ठ ७२ ... ।–)
सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र–सचित्र, पृष्ठ ५२ ... ।–)
प्रेमी भक्त उद्धव–सचित्र, पृष्ठ ६४ ... ≶)
महात्मा विदुर–सचित्र, पृष्ठ ६० ... =)॥
भक्तराज ध्रुव–सचित्र, पृष्ठ ४६ ... ≶)
विवेक-चूडामणि–सानुवाद, पृष्ठ १८४, अजिल्द ... ।–)
परमार्थ-पत्रावली (भाग १)–पृष्ठ १२४ ... ।)
,, (भाग २)–पृष्ठ १७२ ... ।)
,, (भाग ३)–पृष्ठ १९२ ... ॥)
कल्याण-कुञ्ज–सचित्र, पृष्ठ १३६ ... ।)
महाभारतके कुछ आदर्श पात्र–सचित्र, पृष्ठ १२६ ... ।)
भगवान्पर विश्वास ... ।)
प्रार्थना ... ≶)
आदर्श भ्रातृ-प्रेम–सचित्र, पृष्ठ १०४ ... ≶)
मानव-धर्म ... ≶)
गीता-निबन्धावली–पृष्ठ ८० ... =)॥
साधन-पथ–सचित्र, पृष्ठ ६८ ... =)॥
मनन-माला–सचित्र, पृष्ठ ५४ ... =)॥
अपरोक्षानुभूति ... =)॥
नवधा भक्ति–सचित्र, पृष्ठ ६० ... =)
बालशिक्षा–सचित्र, पृष्ठ ६८ ... =)
रामायण-शिशु-परीक्षा-पाठ्यपुस्तक–पृष्ठ ४० ... =)
भजन-संग्रह (प्रथम भाग)–पृष्ठ १८० ... =)
,, (द्वितीय भाग)–सचित्र, पृष्ठ १६८ ... =)
,, (तृतीय भाग)–पृष्ठ २२८ ... =)
,, (चतुर्थ भाग)–सचित्र, पृष्ठ १६० ... =)

भजन-संग्रह (पञ्चम भाग) सचित्र, पृष्ठ १४० ... =)
स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी–सचित्र, पृष्ठ ५६ ... -)॥
नारीधर्म–सचित्र, पृष्ठ ४८ ... -)॥
गोपी-प्रेम–पृष्ठ ५२ ... -)॥
मनुस्मृति–द्वितीय अध्याय, सार्थ, पृष्ठ ५२ ... -)॥
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप–सचित्र, पृष्ठ ३६ ... -)॥
श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्–सटीक, पृष्ठ ९६ -)॥ सजि० =)॥
हनुमान-बाहुक ... ... -)॥
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा–सचित्र, पृष्ठ ४० ... -)।
मनको वश करनेके कुछ उपाय–सचित्र, पृष्ठ २४ ... -)।
ईश्वर–पृष्ठ ३२ ... -)।
मूलरामायण ... -)।
रामायण-मध्यमा-परीक्षा पाठ्यपुस्तक–पृष्ठ ३२ ... -)।
हरेरामभजन १४ माला ... ।-)
" ६४ माला ... १)
शारीरकमीमांसादर्शन–मूल, पृष्ठ ४८ ...)॥।
बलिवैश्वदेवविधि ...)॥

Our English Publications

Philosophy of Love ... 1-0-0
Gems of Truth (Second Series) ... 0-12-0
The Bhagavadgita ... 0-4-0
" " Bound ... 0-6-0
The Divine Name and Its Practice ... 0-3-0
Wavelets of Bliss ... 0-2-0
The Immanence of God ... 0-2-0
What is God? ... 0-2-0
What is Dharma ... 0-0-9
The Divine Message ... 0-0-9

नयी सूचना

छोटी-छोटी पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं। इन पैकेटोंपर पुस्तकोंके अलग-अलग नाम तथा मूल्य छाप दिया गया है। पैकेटोंकी पुस्तकोंमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। किसी भी पुस्तककी अधिक संख्यामें अलग माँग दी जा सकती है।

पैकेटका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-सं० १३, मूल्य ॥।)

१–सामयिक चेतावनी–पृष्ठ २४ -)
२–आनन्दकी लहरें–सचित्र, पृष्ठ २४ -)
३–गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र–सचित्र, सार्थ, पृष्ठ ३२ -)
४–श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश–पृष्ठ १६ -)
५–ब्रह्मचर्य–पृष्ठ ३२ -)
६–सप्तमहाव्रत–पृष्ठ २८ -)
७–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय–पृष्ठ ३२ -)
८–भगवन्नाम–पृष्ठ ७२ -)
९–श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन–पृष्ठ ६४ -)
१०–भगवत्तत्त्व–पृष्ठ ६४ -)
११–सन्ध्योपासनविधि–सार्थ, पृष्ठ २४ -)
१२–हरेरामभजन–२ माला)॥।
१३–पातञ्जलयोगदर्शन–मूल, पृष्ठ २८)।
॥।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-सं० ५, मूल्य ।)

१–संत-महिमा–पृष्ठ ४०)॥।
२–श्रीरामगीता–सटीक, पृष्ठ ४०)॥।
३–विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्–मूल, पृष्ठ ४४)॥।
४–वैराग्य–पृष्ठ ४०)॥।
५–रामायण-सुन्दरकाण्ड -)
।)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-सं० १६, मूल्य ॥)

१–विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद–सार्थ, पृष्ठ १६)॥
२–सीतारामभजन)॥
३–भगवान् क्या हैं?–पृष्ठ ४०)॥
४–भगवान्‌की दया–पृष्ठ ४०)॥
५–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग–पृष्ठ ४८)॥
६–सेवाके मन्त्र–पृष्ठ ३२)॥
७–प्रश्नोत्तरी–सटीक, पृष्ठ २८)॥
८–सन्ध्या–हिन्दी-विधिसहित, पृष्ठ १६)॥
९–सत्यकी शरणसे मुक्ति–पृष्ठ ३६)॥
१०–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय–पृष्ठ ४०)॥
११–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति)॥
१२–स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग–पृष्ठ २०)॥
१३–परलोक और पुनर्जन्म–पृष्ठ ४०)॥
१४–ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन–पृष्ठ ३६)॥
१५–अवतारका सिद्धान्त–पृष्ठ २८)॥
१६–गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची–पृष्ठ ४०)॥
॥)

पैकेट नं० ४, पुस्तक-सं० १८, मूल्य ।)

१–धर्म क्या है ?–पृष्ठ १६	)।
२–श्रीहरिसंकीर्तनधुन–पृष्ठ ८	)।
३–दिव्य सन्देश–पृष्ठ १६	)।
४–नारदभक्तिसूत्र–सार्थ, गुटका, पृष्ठ २८	)।
५–महात्मा किसे कहते हैं ?–पृष्ठ २४	)।
६–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है–पृष्ठ २४	)।
७–प्रेमका सच्चा स्वरूप–पृष्ठ २४	)।
८–हमारा कर्तव्य–पृष्ठ २४	)।
९–कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ–पृष्ठ ३२	)।
१०–शोकनाशके उपाय–पृष्ठ २४	)।
११–ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है–	)।
१२–चेतावनी–पृष्ठ २४	)।
१३–त्यागसे भगवत्प्राप्ति–पृष्ठ २०	)।
१४–श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव–पृष्ठ २०	)।
१५–लोभमें पाप–पृष्ठ ८	आधा पैसा
१६–सप्तश्लोकी गीता–पृष्ठ ८	आधा पैसा
१७-१८–गजलगीता–दो प्रति	)।
	।)

पता——गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने शहरके विक्रेतासे माँगिये

इससे आपको शायद पैसे और समयकी बचत हो सकती है

इधरमें हमारे पास बहुत-से ऐसे पत्र आते हैं कि पुस्तक-विक्रेता लोग हमारी पुस्तकें छपे दामोंसे बहुत अधिक मूल्यपर बेचते हैं। इस सम्बन्धमें ग्राहकोंसे हमारा निवेदन है कि पुस्तक-विक्रेताओंको एक साथ ५०) की पुस्तकें मँगानेपर हम छपे दामोंपर केवल १५) प्रतिशत कमीशन देते हैं। रेलभाड़ा उनका लगता है। ग्राहकगण इसको समझते हुए पुस्तक-विक्रेताओंसे उचित मूल्यपर पुस्तकें खरीदें। यदि उनको वहाँके पुस्तक-विक्रेतासे उचित मूल्यपर पुस्तकें न मिल सकें तो कई ग्राहक एक साथ मिलकर यहाँसे पुस्तकें रेलपारसलसे मँगवा लें तो भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है। परंतु ग्राहकोंको यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि कमीशन केवल पुस्तक-विक्रेताओंको ही मिलती है, ग्राहकोंको नहीं।

निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी पुस्तकें हमारी पुस्तक-सूचीमें छपे हुए दामोंपर मिलती हैं। यहाँपर किसीको कमीशन नहीं मिलता। वहाँ वी० पी० आदिसे भेजनेकी तथा बाहरी ग्राहकोंसे पत्र-व्यवहार करनेकी कोई व्यवस्था नहीं है। ग्राहकोंको छपे मूल्यपर पुस्तकें मिलती हैं। अधिक दाम नहीं देने पड़ते।

(१) श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय
३०, बाँसतल्ला गली, कलकत्ता

(२) श्रीगीताप्रेस पेपर एजेन्सी
५९। ९, नीचीबाग, बनारस

(३) श्रीगीताभवन
स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश

(४) श्रीसत्सङ्गभवन
दादीसेठ अग्यारीलेन, सिंहानिया बाड़ी
गणेशबाग, बम्बई

(५) श्रीमोतीलाल श्यामसुन्दर
२५, श्रीरामरोड लखनऊ

(६) श्रीभगवान् भजनाश्रम
अष्टखम्भा, (वृन्दावन)

(७) श्रीज्वालादत्त गोविन्दराम
राँची

(८) श्रीसुन्दरमल हरीराम
बेतिया (चम्पारन)

(९) श्रीईश्वरदास डागा
बी० के० विद्यालयके निकट
बीकानेर

(१०) श्रीशंकरदास दुर्गाप्रसाद आढ़ती
सदरगंज बाजार, मेरठ

(११) श्रीहनुमानदास हरलालका
शेगाँव (बरार)

(१२) गीताआश्रमका पुस्तक-भण्डार
गऊघाट, मथुरा

निवेदक——गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीता-जयन्ती

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता १८। ६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'

विश्वकी स्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय होती जा रही है। सभी ओर पाप और पापाचारियोंकी ही प्रबलता देखनेमें आती है। मानव-समाजका नैतिक स्तर बहुत ही नीचा हो गया है। भोगलालसाकी कोई सीमा नहीं रह गयी है। धर्ममें अथवा कर्तव्यपालनमें किसीकी रुचि नहीं है। रुचि है धर्मविरहित कामाचार, अनीतियुक्त अर्थोपार्जन और अन्यायमूलक अधिकार-विस्तारमें। यही सभ्य कहानेवाले समाजोंके जीवनका परम लक्ष्य बन रहा है। सर्वत्र अति गर्हित अनाचार, भ्रष्टाचार और अत्याचारका विस्तार हो रहा है। पापके इस प्रवाहको रोकनेका सफल मार्ग किसीको नहीं सूझ रहा है। इस विकट परिस्थितिमें सच्चा मार्ग प्राप्त करनेका यदि कोई सफल साधन है तो वह श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षा ही है। किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुनको अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्यवाणी गीतासे ही चेतना, स्फूर्ति, शक्ति, ज्ञान और प्रकाश मिला था और इसीसे विजय तथा विभूतिकी प्राप्ति हुई थी। आज भी यदि हम ऐसा चाहते हैं तो हमें परम श्रद्धाके साथ गीताकी ही शरण लेनी चाहिये और उसीकी शिक्षाके अनुसार भक्तिसमन्वित निष्काम कर्ममें लगना चाहिये।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ता० २० दिसम्बर बुधवारको श्रीगीता-जयन्तीका पर्व है। इस पर्वपर सब लोगोंको गीता-प्रचार तथा गीता-ज्ञानके क्रियात्मक अध्ययनकी योजनाएँ बनानी चाहिये और पर्वके उपलक्ष्यपर श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य सभी जगह अवश्य करने चाहिये।

१-गीताग्रन्थका पूजन।

२-श्रीगीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।

३-गीताका यथासाध्य पारायण।

४-गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीता-प्रचारके लिये सभाएँ, गीता-तत्त्व और गीता-महत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नाम-कीर्तन आदि।

५-पाठशालाओंमें और विद्यालयोंमें गीतापाठ और गीतापर व्याख्यान तथा गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण।

६-प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और श्रीभगवान्‌की विशेष पूजा।

७-जहाँ कोई विशेष अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी सवारीका जुलूस।

८-लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीता-प्रचारमें सहायता करें।

पत्र लिखनेवाले भाई-बहिनोंसे निवेदन

'कामके पत्र' शीर्षकमें उत्तर पानेके लिये कई बहिनें तथा भाई अपने नाम-पता न देकर पत्र लिखते हैं। ऐसे बहुत-से पत्र इकट्ठे हो गये हैं। इनमें अधिकांश तो ऐसे हैं जिनमें केवल व्यक्तिगत तथा घरेलू कठिनाइयोंकी चर्चा है और कुछ ऐसे हैं जो केवल 'कामके पत्र' शीर्षकमें उत्तर छपनेके लिये ही लिखे गये हैं। यह जान रखना चाहिये कि सभी पत्रोंका उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जो पत्र सार्वजनिक दृष्टिसे महत्त्वके समझे जाते हैं, उन्हींमेंसे कुछका उत्तर 'कल्याण'में छपता है। स्थानके अभावसे तथा उपर्युक्त पत्रोंमेंसे अधिकांशका उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित करना सार्वजनिक लाभकी दृष्टिसे उचित नहीं है, इसलिये भी, उनका उत्तर नहीं छप रहा है। ऐसे लोगोंमें, जो अपना नाम-पता लिखकर उत्तर चाहेंगे उन्हें अवकाशानुसार उत्तर दिया जायगा और उनका पत्रव्यवहार गुप्त भी रक्खा जा सकेगा। अतः बिना नामके पत्रोंका उत्तर 'कल्याण'में न छपे तो पत्रलेखक महानुभाव क्षमा करें। शेष पत्रोंका उत्तर 'स्कन्दपुराण' समाप्त होनेपर 'कल्याण'में छप सकेगा।

सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

रजि० सं० ए० १

विशेषाङ्कके लिये लेख न भेजनेके लिये कृपालु लेखकोंसे निवेदन

'कल्याण' के आगामी विशेषाङ्क 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' में स्थानसङ्कोचसे केवल पुराणसे चुने प्रसङ्गोंका अनुवाद ही छापा जायगा। लेख बिल्कुल नहीं छप सकेंगे। अतः विद्वान् लेखक महानुभावोंसे कर प्रार्थना है कि वे विशेषाङ्कके लिये कृपया लेख न भेजें। जो कुछ लेख आ गये हैं, वे भी लौटाये जा रहे

कल्याणके पाठकोंसे प्रार्थना

इधर कुछ समयसे गीताप्रेसमें प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयास हो रहा है। संग ग्रन्थोंके प्रकाशनकी अभी कोई भी योजना नहीं है। केवल उन्हें सुरक्षित रखनेकी दृष्टिसे संग्रह किय रहा है। अतएव 'कल्याण'के प्रत्येक पाठकसे हमारी प्रार्थना है कि वे वेद-वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र धर्मशास्त्र आदि विषयोंके संस्कृत, हिन्दी, बँगला ग्रन्थ पुराने कागजोंपर या ताड़पत्रोंपर लिखे हुए प्राच ग्रन्थोंका संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें। डाक-महसूल या रेलका किराया यहाँसे दिया जाय किसी प्राचीन संग्रहयोग्य ग्रन्थका कोई सज्जन यदि मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जाय।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्य

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

देशके सर्वमान्य विद्वानों तथा पत्र-पत्रिकाओंद्वारा प्रशंसित भारतवर्षकी अनुपम तथा अ संस्कृतिके महान् स्वरूपका दिव्य दर्शन करानेवाला 'कल्याण'का 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' जिनको लेना हो, शीघ्रता करें। केवल इस अङ्कका मूल्य ६।।) है। सालभरके अङ्क लेनेपर ७।।) है, पर चौथा तथा पाँच अङ्क समाप्त हो गया है। इनके बदलेमें ग्राहक चाहेंगे तो पिछले किसी वर्षके कोई-से साधारण अङ्क दिये ज सकेंगे। रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के लिये रुपये भेजे जा रहे हैं, यह लिखनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपु

नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित तीन नयी पुस्तकें

तत्त्व-चिन्तामणि भाग ७

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ५२०, ऋष्यमूकपर रामदर्शनका सुन्दर तिरङ्गा चित्र मूल्य १=) डाकखर्च अलग।

श्रीजयदयालजीके समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित लेखोंका यह छठे भागके आगेका संग्रह है। परमार्थप्रेमी नर-नारी इस ग्रन्थसे अधिकाधिक लाभ उठावेंगे ऐसी आशा है।

रामायणके कुछ आदर्श पात्र

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १६८, आदर्श भरतका तिरङ्गा चित्र, मूल्य ।=) मात्र डाकखर्च अलग।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग ७ में प्रकाशित भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न और भक्त हनुमान्के चरित्र तथा सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्कमें प्रकाशित श्रीसीताजीका आदर्श जीवन नामक लेखों यह पुस्तकाकार संग्रह है।

आदर्श नारी सुशीला

धार्मिक जनताके विशेष आग्रहके कारण 'कल्याण' वर्ष २४ सं० १० में प्रकाशित साध्वी सुशी शिक्षाप्रद कहानी नामक लेख ही अलग पुस्तकाकार छापा गया है। पृष्ठ-संख्या ५४, मू० ≡) मात्र।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरख